॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

षष्ठं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित वडोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित ओङ्कारनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ १००० पुस्तकानि } संवत् १९७३ वि० सन् १९१६ ई० { मूल्यम् ३)

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad.) ।

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ॥"

आनन्द समाचार

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि, और योगी गाते आये हैं और विदेशीय विद्वान् जिन का अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश,२—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५-भावार्थ, ६-आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि,७-प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत् पिता परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राज विद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठ पेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी०पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६					पृष्ठ १६०० लगभग
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥।=	३)					११)

काण्ड ७-छप रहा है।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक-चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंगरेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

२० जून १९१६

पता—**पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी**

५२ लूकरगंज प्रयाग (Allahabad)।

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ६ ॥

क.	सूक्त के प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
१	दोषो गाय बृहत्	सविता	ऐश्वर्य की प्राप्ति	गायत्री
२	इन्द्राय सोम	इन्द्र	परम ऐश्वर्य	उष्णिक्
३	पातं न इन्द्रा	मन्त्रोक्त	वृद्धि करना	पथ्या बृहती जगती
४	त्वष्टा मे दैव्यं	परमेश्वर इत्यादि	सब की रक्षा	आस्तार पंक्ति इ०
५	उदेनमुत्त	इन्द्र	धन और जीवन	अनुष्टुप्
६	योऽस्मान् ब्रह्मण	ब्रह्मणस्पति इत्यादि	शत्रु के नाश	अनुष्टुप्
७	येन सोमादितिः	सोम	सुख की प्राप्ति	गायत्री
८	यथा वृक्षं लिबुजा	विद्या	विद्या की प्राप्ति	पंक्तिः
९	वाञ्छमे तन्वं	दम्पती	गृहस्थ आश्रम	अनुष्टुप्
१०	पृथिव्यै श्रोत्राय	मन्त्रोक्त	स्वास्थ्य की रक्षा	द्विपदा विराट्
११	शमीमश्वत्थ	प्रजापति	गर्भाधान	अनुष्टुप्
१२	परिद्यामिव	प्रजापति	पाप का नाश	अनुष्टुप्
१३	नमो देववधेभ्यो	मृत्यु	मृत्यु की प्रबलता	अनुष्टुप्
१४	अस्थिस्रंसं परुस्रं	वैद्य	रोग का नाश	अनुष्टुप्
१५	उत्तमो अस्योष	प्रजापति	उत्तम गुणों की प्राप्ति	अनुष्टुप्
१६	आबयो अनाबयो	प्रजापति	ब्रह्म के गुण	गायत्री इत्यादि
१७	यथेयं पृथिवी	पृथिवी	गर्भाधान	अनुष्टुप्
१८	ईर्ष्याया ध्राजिं	आत्मा	ईर्ष्या के निवारण	अनुष्टुप्
१९	पुनन्तु मा देवजनाः	पवमान	पवित्र आचरण	अनुष्टुप्, गायत्री
२०	अग्नेरिवास्य	तक्मा	रोग का नाश	जगती इत्यादि
२१	इमा यास्तिस्रः	ब्रह्म	ब्रह्म के गुण	अनुष्टुप्
२२	कृष्णं नियानं	मरुत्	वृष्टि विद्या	त्रिष्टुप् जगती
२३	सस्रुषीस्तदपसो	आपः	कर्म करना	अनुष्टुप् इत्यादि
२४	हिमवतः प्र स्रवन्ति	आपः	ईश्वर के गुण	अनुष्टुप्
२५	पञ्च च याः	वैद्य	रोग का नाश	अनुष्टुप्
२६	अव मा पाप्मन्	पाप्मा	कष्ट त्यागना	अनुष्टुप्
२७	देवाः कपोत	विश्वे देवा	विद्वानों के गुण	त्रिष्टुप्
२८	ऋचा कपोतं	विश्वे देवा	विद्वानों के गुण	त्रिष्टुप् इत्यादि
२९	अमून् हेतिः	प्रजापति	शुभ गुण ग्रहण	त्रिष्टुप् इत्यादि
३०	देवा इमं मधुना	सरस्वती इत्यादि	विद्या के गुण	जगती इत्यादि
३१	आयं गौः	सार्पराज्ञी इत्यादि	सूर्य वा भूमि	गायत्री
३२	अन्तर्दावे जुहुता स्वे	अग्नि इत्यादि	राक्षसों का नाश	त्रिष्टुप्, पंक्ति
३३	यस्येदमा रजो	इन्द्र	सर्व लक्ष्मी पाना	गायत्री इत्यादि
३४	प्राग्नये वाचमीरय	अग्नि	शत्रुओं का नाश	गायत्री
३५	वैश्वानरो न ऊतय	वैश्वानर अग्नि	यश की प्राप्ति	गायत्री
३६	ऋतावानं वैश्वानर	अग्नि	ईश्वर के गुण	गायत्री
३७	उप प्रागात् सहस्राक्षो	शपथ	कुवचन का त्याग	अनुष्टुप्
३८	सिंहे व्याघ्र उत	त्विषि	ऐश्वर्य पाना	त्रिष्टुप्
३९	यशो हविर्वर्धतामिन्द्र	इन्द्र	यश पाना	जगती इत्यादि

सूक्त	सूक्त के प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
४०	अभयं द्यावा पृथिवी	सविता	शत्रुओं से रक्षा का	जगती इत्यादि
४१	मनसे चेतसेधिय	इन्द्र	आत्मा की उन्नति	अनुष्टुप् इत्या
४२	अव ज्यामिव धन्वनो	मन्यु	क्रोध की शान्ति	अनुष्टुप्
४३	अयं दर्भो विमन्युकः	दर्भ	क्रोध की शान्ति	अनुष्टुप्
४४	अस्थाद् द्यौरस्थात्	मनुष्य	रोग का नाश	अनुष्टुप् बृहत
४५	परोपेहि मनस्पाप	अग्नि, इन्द्र	मानसिक पापका नाश	पथ्या पंक्ति इत
४६	यो न जीवोसि न	स्वप्न	स्वप्न के गुण	बृहतीत्यादि
४७	अग्निः प्रातः सवने	अग्नि इत्यादि	आत्मा की उन्नति	त्रिष्टुप्
४८	श्येनोसि गायत्रच्छन्दा	आत्मा	परमात्मा के गुण	पुर उष्णिक्
४९	नहि ते अग्ने तन्वः	अग्नि	प्रलय और सृष्टि	अनुष्टुप् इत्यादि
५०	हतं तर्दं समङ्कमाखु	अश्विनौ	आत्मा के दोष नाश	जगती, पथ्या
५१	वायोः पूतः पवित्रेण	सोम इत्यादि	द्रोह का नाश	गायत्री इत्यादि
५२	उत् सूर्यो दिव एति	सूर्य	आत्मा के दोषका नाश	अनुष्टुप्
५३	द्यौश्च म इदं पृथिवी	विश्वेदेवा इ०	स्वास्थ्य की रक्षा	त्रिष्टुप्
५४	इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं	इन्द्र	राज्य की रक्षा	अनुष्टुप्
५५	ये पन्थानो बहवो	विश्वेदेवा	सम्पत्ति प्राप्ति	त्रिष्टुप्
५६	मा नो देवा अहिर्वधीत्	देवजना	दोष के नाश	बृहती इत्यादि
५७	इदमिद् वा उभेषजमिदं	रुद्र	दोष का नाश	अनुष्टुप् बृहती
५८	यशसं मेन्द्रो मघवान्	विश्वेदेवा	यश पाना	जगती इत्यादि
५९	अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं	अरुन्धती	सब सुख की प्राप्ति	अनुष्टुप्
६०	अयमा यात्यर्यमा	अर्यमा	गृहस्थ आश्रम	अनुष्टुप्
६१	मह्यमापो मधुमदे	परमेश्वर	परमेश्वर की महिमा	त्रिष्टुप्
६२	वैश्वानरो रश्मिभिर्नः	मन्त्रोक्त आदि	धन और नीरोगता	त्रिष्टुप्
६३	यत् ते देवी निर्ऋति	आत्मा	मोक्षप्राप्ति	अनुष्टुप्
६४	सं जानीध्वं सं	संज्ञान	धर्म का	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
६५	अवमन्युरावयताव	इन्द्र	सेनापति के लक्षण	पंक्ति अनुष्टुप्
६६	निर्हस्तः शत्रुरभि	इन्द्र	सेनापति के लक्षण	त्रिष्टुप्, अनुष्टु
६७	परिवर्त्मानि सर्वत	इन्द्र	सेनापति के लक्षण	अनुष्टुप्
६८	आयमगन्त्सविता	विश्वे देवा	मुण्डन संस्कार	पञ्चपदा इत्यादि
६९	गिरावरगराटेषु	प्रजापति	यश की प्राप्ति	अनुष्टुप्
७०	यथा मांसं यथासुरा	प्रजापति	परमेश्वर की भक्ति	अनुष्टुप्
७१	यदन्नमद्मि बहुधा	अग्नि	दोषों का नाश	त्रिष्टुप्
७२	यथासितः प्रथयते	प्रजापति	राज्य बढ़ाना	जगती, अनुष्टुप्
७३	एह यातु वरुणः	विश्वे देवा	विद्वानों से समागम	त्रिष्टुप्
७४	सं वः पृच्यन्तां	भगः	एकमता के लिये	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
७५	निरमुं नुद ओकसः	इन्द्र	शत्रु का हटाना	अनुष्टुप्
७६	य एनं परिषीदन्ति	अग्नि	आयु बढ़ाने के लिये	अनुष्टुप्
७७	अस्थाद्द्यौरस्थात्	गोपा	संपदा पाना	अनुष्टुप्
७८	तेन भूतेन हविषा	दम्पती	गृहस्थ धर्म	अनुष्टुप्
७९	अयंनो नभसस्पतिः	नभसस्पति	सर्व सम्पत्ति पाना	गायत्री इत्यादि
८०	अन्तरिक्षेण पतति	परमात्मा	परमात्मा की महिमा	अनुष्टुप्, पंक्ति

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
८१	यन्तासि यच्छसे	दम्पती	उत्तम गर्भ धारण	अनुष्टुप्
८२	आगच्छत आगतस्य	इन्द्र	विवाह संस्कार	अनुष्टुप्
८३	अपचितः प्र पतत	वैद्य	रोग नाश करना	अनुष्टुप्, जगती
८४	यस्यास्त आसनि	निर्ऋति	पाप से मुक्ति	जगती इत्यादि
८५	वरणो वारयाता	विश्वे देवा	रोग का नाश	अनुष्टुप्
८६	वृषेन्द्रस्य वृषा	एकवृष	साम्राज्य पाना	अनुष्टुप्
८७	आत्वाहार्षमन्तर	राज्ञः स्तुति	राजतिलक	अनुष्टुप्
८८	ध्रुवा द्यौ ध्रुवा	राज स्तुति	राजतिलक	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
८९	इदं यत् प्रेण्यः	पुरुषार्थ	शत्रु जीतना	अनुष्टुप्
९०	यां ते रुद्र इषुमास्यद्	रुद्र	कर्म का फल	अनुष्टुप्
९१	इम यवमष्टायोगैः	आत्मा	आत्मिक दोष नाश	अनुष्टुप्
९२	वा तरंहाभव वाजिन्	प्रजापति	राजा के धर्म	जगती, त्रिष्टुप्
९३	यमो मृत्युरघमारो	यमो विश्वेदेवा	सत्संग के लाभ	त्रिष्टुप्
९४	सं वो मनांसि	प्रजापति	शान्ति करना	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
९५	अश्वत्थो देव सदन	कुष्ठ	विद्वानों के गुण	अनुष्टुप्
९६	या ओषधयः	ओषधयः सोम	ओषधियों के गुण	अनुष्टुप् इत्यादि
९७	अभिभूर्यज्ञो	आत्मा	आत्मा की उन्नति	त्रिष्टुप्
९८	इन्द्रो जयाति न परा	इन्द्र	राजा और प्रजा के धर्म	पंक्तिरित्यादि
९९	अभि त्वेन्द्र वरिमतः	इन्द्र	संग्राम में जय	अनुष्टुप् बृहती
१००	देवा अदुः सूर्यो	विश्वेदेवा	रोग नाश करना	अनुष्टुप्
१०१	आवृषायस्व श्वसिहि	राजा	राजा का धर्म	अनुष्टुप्
१०२	यथायंवाहो अश्विना	आत्मा	जितेन्द्रिय होना	अनुष्टुप्
१०३	संदानंवोबृहस्पतिः	इन्द्र	शत्रुओं का हराना	अनुष्टुप्
१०४	आदानेन संदानेन	इन्द्र	शत्रुओं का हराना	अनुष्टुप्
१०५	यथामनोमनस्केतैः	मनुष्य	महिमा पाना	अनुष्टुप्
१०६	आयनेतपरायणे	शाला	गढ़ बनाना	अनुष्टुप्
१०७	विश्वजित् त्रायमाणा	परमेश्वर	सब सुख की प्राप्ति	आर्ष्यनुष्टुप्
१०८	त्वं नो मेधे प्रथमा	मेधा	बुद्धि और धन प्राप्तिका	अनुष्टुप् बृहती
१०९	पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू	पिप्पली	रोग नाश	अनुष्टुप्
११०	प्रत्नोहिकमीड्यो	अग्नि	ऐश्वर्य बढ़ाना	त्रिष्टुप्
१११	इमं मे अग्नेपुरुषं	अग्नि	मानस विकारका नाश	पंक्तिः, अनुष्टुप्
११२	मा ज्येष्ठं वधीदय	अग्नि	कुल रक्षा	त्रिष्टुप्
११३	त्रिते देवा अमृजतैतद्	त्रित	पाप शुद्ध करना	त्रिष्टुप्
११४	यद् देवा देवहेडनं	विश्वे देवा	पाप से मुक्ति	अनुष्टुप्
११५	यद् विद्वांसो यद्	विश्वेदेवा	पाप से मुक्ति	अनुष्टुप्
११६	यद् यामंचक्रु	वैवस्वत	पाप से निवृत्ति	त्रिष्टुप्
११७	अपमित्यमप्रतीत्तं	अग्नि	ऋण से छुटना	त्रिष्टुप्
११८	यद्धस्ताभ्यां चकृम	अप्सरसौ	ऋण से छुटना	त्रिष्टुप्
११९	यददीव्यन्नृणमहं	वैश्वानर	वचन का पालन	अनुष्टुप्
१२०	यदन्तरिक्षं पृथिवीं	प्रजापति	घर में आनन्द बढ़ाना	त्रिष्टुप् विराट्

सूक्त	सूक्तके प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
१२१	विषाणा पाशान्	अग्नि	मोक्ष पाना	विराट् इत्यादि
१२२	एतं भागं परि ददामि	प्रजापति	आनन्द की प्राप्ति	त्रिष्टुप् इत्यादि
१२३	एतं सधस्थाः परि	प्रजापति	विद्वानों से सत्संग	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
१२४	दिवो नु मां बृहतो	अग्नि	आत्मा की शुद्धि	त्रिष्टुप्
१२५	वनस्पते वीड्वङ्गो	सुवीर	सेना। सेनापति के कर्त्तव्य	विराट् इत्यादि
१२६	उप श्वासय पृथिवी	वीर	राजा, सेना के कर्त्तव्य	त्रिष्टुप् विराट्
१२७	विद्रधस्य बलासस्य	प्रजापति	रोग का नाश	अनुष्टुप्
१२८	शकधूमं नक्षत्राणि	शकधूम	आनन्द पाना	अनुष्टुप्
१२९	भगेन मा शांशपेन	इन्द्र	ऐश्वर्य पाना	अनुष्टुप्
१३०	रथजितां राथजिते	स्मर	स्मरण सामर्थ्य बढ़ाना	अनुष्टुप्
१३१	निशीर्षतो निपत्तत	विद्वान्	परस्पर पालन	अनुष्टुप्
१३२	यंदेवा स्मरमसि	स्मर	ऐश्वर्य प्राप्ति	त्रिपादनुष्टुप्
१३३	य इमां देवो मेखला	मेखला	मेखला बांधना	त्रिष्टुप् इत्यादि
१३४	अयं वज्रस्तर्पयता	वज्र	शत्रुओं का शासन	प्रस्तार पंक्ति
१३५	यदश्नामि बलं	आत्मा	खान पान	अनुष्टुप्
१३६	देवी देव्यामधि	नितत्नी	केश का बढ़ाना	अनुष्टुप्, बृहती
१३७	यां जमदग्निरखनद्	नितत्नी	केश का बढ़ाना	अनुष्टुप्
१३८	त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमा	ओषधि,इन्द्र	निर्बलता हटाना	अनुष्टुप्, पंक्ति
१३९	न्यस्तिका रुरोहिथ	दम्पती	गृहस्थ आश्रम	जगती इत्यादि
१४०	यौ व्याघ्रावषरूढौ	दन्तौ	बालक का अन्नप्राशन	बृहती इत्यादि
१४१	वायुरेनाः समाकरत्	आचार्य, माता पिता	वृद्धि करना	अनुष्टुप्
१४२	उच्छ्रयस्व बहुर्भव	यव	अन्न की वृद्धि	अनुष्टुप्

२–अथर्ववेद, काण्ड ६ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेदसे ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड ६) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय. मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१	पुनन्तु मा देव	१९ । १	९ । ६७ । २७	१९ । ३९	
२	उभाभ्यां देव सवितः	१९ । ३	९ । ६७ । २५	१९ । ४३	
३	कृष्णं नियानं	२२ । १	१ । १६४ । ४७		
४–६	देवाः कपोत	२७ । १–३	१० । १६५ । १–३		
७	ऋचा कपोतं	२८ । १	१० । १६५ । ५		
८	अमून् हेतिः	२९ । १	१० । १६५ । ४		
९–११	आयंगौः पृश्नि	३१ । १–३	१० । १८९ । १–३	३ । ६—८	पू६ । १४ । ४–
१२	अवशसा निःशसा	४५ । २	१० । १६४ । ३		
१३	सुपर्णा वाचमक्र	४९ । ३	१० । ९४ । ५		
१४	वायोः पूतः पवित्रेण	५१ । १		१ । ३१	
१५	आपो अस्मान्	५१ । २		४ । २	
१६	यत् किंचेदं	५१ । ३	७ । ८९ । ५		
१७	उत् सूर्यो दिव	५२ । १	१ । १९१ । ८, ९		
१८	नि गावो गोष्ठे	५२ । २	१ । १९१ । ४		
१९	पुनः प्राणः पुनः	५३ । २		४ । १५	
२०	स वर्चसा पयसा	५३ । ३		२ । २४	
२१	इदावत्सराय	५५ । ३		१६ । ५०	
२२	वैश्वानरीं सूनृतामा	६२ । २		१९ । ४४	
२३	संसमिद् युवसे	६३ । ४	१० । १९१ । १	१५ । ३०	
२४–२६	सं जानीध्वं	६४ । १–३	१० । १९१ । २–४		
२७	य उदानट् परायणं	७७ । २	१० । १९ । ५		
२८	आ त्वाहर्ष मन्त	८७ । १—३	१० । १७३ । १–३	१२ । ११	
२९–३०	वातरंहा भव	९२ । १–२		९ । ८, ९	
३१	या ओषधयः	९६ । १	१० । ९७ । १८, १५	१२ । ८९, ९२	
३२	मुञ्चन्तु मा	९६ । २	१० । ९७ । १५	१२ । ९०	
३३	इमं वीरमनु	९७ । ३		१७ । ३८	
३४	आयने ते परायणे	१०६ । १	१० । १४२ । २		
३५	अपामिदं न्यायनं	१०६ । २		१७ । ७	
३६	हिमस्य त्वा जरायुणा	१०६ । ३		१७ । ५	
३७	या मृषयो भूनकृतो	१०८ । ४		३२ । १४	
३८	प्रलो हिकमीड्यो	११० । १	८ । ११ । १०		
३९, ४०	एतं सधस्थाः परि	१२३ । १, २		१८ । ५९, ६०	
४१–४३	वनस्पते वीड्वङ्गो	१२५ । १–३	६ । ४७ । २६-२८	२९ । ५२–५४	
४४, ४५	उपश्वासय पृथिवी	१२६ । १, ३	६ । ४७ । २९, ३१	२९ । ५५, ५७	

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

षष्ठं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ १ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ सविता देवता । गायत्री छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये उपदेश ।

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि ।
आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥ १ ॥

दोषो इति । गाय । बृहत् । गाय । द्यु-मत् । धेहि ।
आथर्वण । स्तुहि । देवम् । सवितारम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आथर्वण) हे निश्चल ब्रह्म के जानने वाले महर्षि ! (देवम्) प्रकाश स्वरूप (सवितारम्) सब के प्रेरक परमात्मा को (दोषो) रात्रि में भी (गाय) गा, (बृहत्) विशाल रूप से (गाय) गा, (द्युमत्) स्पष्ट रीति से (धेहि) धारण कर और (स्तुहि) बड़ाई कर ॥ १ ॥

१—(दोषो) दोषा+उ । रात्रावपि । अहोरात्रे, इत्यर्थः (गाय) उच्चारय (बृहत्) विशालरूपेण (गाय) (द्युमत्) यथा तथा, प्रकाशेन (धेहि) धारय हृदये (आथर्वण) अथर्वा व्याख्यातः-अ० ४ । १ । ७ । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ । इति अथर्वन्-अण् । अन् । पा० ६ । ४ । ६७ । इति टिलोपाभावः । अथर्वाणं निश्चलस्वभावं परमात्मानं यो महर्षिर्वेद जानाति

भावार्थ—विद्वान् पुरुष परमेश्वर के गुणों को हृदय में धारण करके संसार में सदा प्रकाशित करे ॥ १ ॥

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः ।
सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ॥ २ ॥

तम् । ऊं इति । स्तुहि । यः । अन्तः । सिन्धौ । सूनुः ।
सत्यस्य । युवानम् । अद्रोघ-वाचम् । सु-शेवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (सत्यस्य) सत्य का (सूनुः) प्रेरक परमात्मा (सिन्धौ अन्तः) समुद्र [हृदय आदि गहरे स्थान] के भीतर है, (तम् उ) उस ही (युवानम्) संयोग वियोग करने वाले, अथवा महाबली, (अद्रोघवाचम्) द्रोह रहित वाणी वाले, (सुशेवम्) अत्यन्त सुख देने वाले परमेश्वर की (स्तुहि) स्तुति कर ॥ २ ॥

भावार्थ—जो सर्वव्यापक परमात्मा कल्याण वाणी वेदविद्या द्वारा दुःखों को हटा कर मोक्ष पद देता है, उसकी महिमा जान कर मनुष्य सदा पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि ।
उभे सुष्टुती सुगातवे ॥ ३ ॥

सः । घ । नः । देवः । सविता । साविषत् । अमृतानि ।

तत्सम्बुद्धौ (स्तुहि) प्रशंस (देवम्) प्रकाशस्वरूपम् (सवितारम्) षू प्रेरणे—तृच् । सर्वप्रेरकं जगदीश्वरम् ॥

२—(तम्) प्रसिद्धम् (उ) एव (स्तुहि) प्रशंस (यः) परमात्मा (अन्तः) मध्ये (सिन्धौ) स्यन्दनशीले समुद्रे, हृदयादि गम्भीरदेशे (सूनुः) सुवः कित् । उ० ३ । ३५ । इति षू प्रेरणे-नु । प्रेरकः (सत्यस्य) यथार्थस्य वेदज्ञानस्य (युवानम्) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः—कनिन् । संयोजकवियोजकम् । बलवन्तम् (अद्रोघवाचम्) द्रुह जिघांसायाम्—घञ्, हस्य घः । द्रोहरहितवाग्युक्तम् । कल्याणवाणिं परमेश्वरम् (सुशेवम्) अ० ४ । २५ । ५ । अतिशयेन सुखकरम् ॥

भूरि । उभे इति । सुस्तुती इति सु-स्तुती । सु-गातवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (घ) ही (देवः) प्रकाश स्वरूप (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (उभे) दोनों [प्रातः सायंकालीन] (सुष्टुती) सुन्दर स्तुतियों को (सुगातवे) अच्छे प्रकार गाने के लिये (नः) हमें (भूरि) बहुत से (अमृतानि) अक्षय सुख (साविषत्) देता रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की सदा स्तुति करते हुये आत्मबल बढ़ाकर अक्षय सुख प्राप्त करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ इन्द्रो देवता । उष्णिक् छन्दः ॥

परमैश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—परम ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत ।
स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे ॥ १ ॥

इन्द्राय । सोमम् । ऋत्विजः । सुनोत । आ । च । धावत । स्तोतुः । यः । वचः । शृणवत् । हवम् । च । मे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऋत्विजः) हे ऋतु ऋतुओं में यज्ञ करने वाले पुरुषो ! (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा के लिये (सोमम्) अमृत रस [तत्वज्ञान] (सुनोत) निचोड़ो (च) और (आ) अच्छे प्रकार (धावत) शोधो ।

३—(सः) प्रसिद्धः (घ) सांहितिको दीर्घः । एव (नः) अस्मभ्यम् (देवः) प्रकाशमानः (सविता) सर्वप्रेरयिता (साविषत्) षू प्रेरणे, लेटि अडागमः । सिब्बहुलं णिद् वक्तव्यः । वा० पा० ३ । १ । ३४ । इति वृद्धौ सत्यामावादेशः । प्रेरयेत् (अमृतानि) अ० ४ । ८ । ३ । अक्षयसुखानि (भूरि) भूरीणि । बहूनि (उभे) प्रातःसायंकालीने, तदुपलक्षिते सर्वकाले-इत्यर्थः (सुष्टुती) शोभने स्तुती (सुगातवे) गायतेस्तुमर्थे तवेप्रत्ययः । सुष्ठु गातुम् ॥

१—(इन्द्राय) परमैश्वर्यवते जगदीश्वराय (सोमम्) अ० ३ । १६ । १ । अमृतरसम् । तत्त्वबोधम् (ऋत्विजः) ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५६ । इति ऋतु+यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—क्विन् । हे ऋतौ ऋतौ याजकाः । देवपूजकाः (सुनोत) अभिषुणुत (आ) समन्तात् (च) (धावत) धावु गति-

(यः) जो परमेश्वर (स्तोतुः) स्तुति करने वाले (मे) मेरे (वचः) वचन (च) और (हवम्) पुकार को (शृणवत्) सुने ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा का तत्त्व ज्ञान प्राप्त करके अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ १ ॥

आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः ।
विरप्शिन् वि मृधो जहि रक्षस्विनीः ॥ २ ॥

आ । यम् । विशन्ति । इन्दवः । वयः । न । वृक्षम् । अन्धसः ।
वि-रप्शिन् । वि । मृधः । जहि । रक्षस्विनीः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिसमें (इन्दवः) अमृत रस वा ऐश्वर्य (आ) आकर (विशन्ति) प्रवेश करते हैं, (न) जैसे (वयः) पक्षी (अन्धसः) अन्न के (वृक्षम्) वृक्ष में । [वह तू] (विरप्शिन्) हे महागुणी परमेश्वर ! (रक्षस्विनीः) राक्षसों [विघ्नों] से युक्त (मृधः) हिंसाकारिणी सेनाओं [कुवासनाओं] को (वि) विविध प्रकार से (जहि) नाश कर ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उत्तम गुणों और ऐश्वर्यों को साक्षात् करके अपनी विघ्नकारक कुवासनाओं को दूर करके पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।

शुद्धयोः, णिजर्थः । शोधयत (स्तोतुः) स्तावकस्य (वचः) वाक्यम् (शृणवत्) श्रु श्रवणे, लेटि अडागमः । शृणुयात् (हवम्) आह्वानम् (च) (मे) मदीयम् ॥

२—(आ) आगत्य (यम्) इन्द्रम् (विशन्ति) प्रविष्टा भवन्ति (इन्दवः) उन्देरिच्चादेः । उ० १ । १२ । इति उन्दी क्लेदने—उप्रत्ययः, उकारस्य इत्वम् । यद्वा, इदि परमैश्वर्ये—उप्रत्ययः । अमृतरसाः । ऐश्वर्याणि (वयः) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । इति वा गतौ—इण्, स च डित् । पक्षिणः (न) उपमार्थे (वृक्षम्) (अन्धसः) अदेर्नुम् धश्च । उ० ४ । २०६ । इति अद भक्षणे—असुन्, दस्य धः । अन्ध इत्यन्ननामाध्यानीयं भवति—निरु० ५ । १ । अन्नस्य । फलराशेः (विरप्शिन्) अ० ५ । २८ । १३ । हे महागुणिन् (वि) विविधम् (मृधः) अ० १ । २१ । २ । हिंसिकाः सेनाः । कुवासनाः (जहि) नाशय (रक्षस्विनीः) रक्षोभिर्बाधकैर्विघ्नैरुपेताः ॥

युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥ ३ ॥

सुनोत । सोम-पाव्ने । सोमम् । इन्द्राय । वज्रिणे ।

युवा । जेता । ईशानः । सः । पुरु-स्तुतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (सोमपाव्ने) ऐश्वर्य की रक्षा करने वाले, (वज्रिणे) वज्र वाले (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (सोमम्) अमृत रस (सुनोत) निचोड़ो । (सः) वह (युवा) संयोग वियोग करने वाला वा महाबली, (जेता) विजयी, (ईशानः) ईश्वर (पुरुष्टुतः) सबसे स्तुति किया गया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के समस्त ऐश्वर्यों को विचारता हुआ अनेक ऐश्वर्य प्राप्त करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १ पथ्या बृहती २, ३ जगती छन्दः ॥

वृद्धिकरणायोपदेशः—वृद्धि करने के लिये उपदेश ॥

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः । अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥ १ ॥

पातम् । नः । इन्द्रापूषणा । अदितिः । पान्तु । मरुतः । अपाम् । नपात् । सिन्धवः । सप्त । पातन । पातु । नः । विष्णुः । उत । द्यौः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रापूषणा) हे बिजुली और वायु (नः) हमें (पातम्)

३—(सुनोत) अभिषुणुत (सोमपाव्ने) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति सोम+पा रक्षणे—वनिप् । ऐश्वर्यरक्षकाय (सोमम्) अमृतरसम् (इन्द्राय) परमेश्वराय (वज्रिणे) वज्रोपेताय (युवा) सू० १ । २ । संयोजकवियोजकः । महाबली (जेता) विजयी (ईशानः) ईश ऐश्वर्ये—लटः शानच् । ईश्वरः (सः) इन्द्रः (पुरुष्टुतः) पुरुभिः सर्वैः स्तुतः प्रशंसितः ॥

१—(पातम्) रक्षतम् (नः) अस्मान् (इन्द्रापूषणा) इन्द्रश्च पूषा

बचावो। (अदितिः) अदीन प्रकृति और (मरुतः) विद्वान् लोग (पान्तु) बचावें। (अपाम्) हे जीवों के (नपात्) न गिराने वाले, अग्नि [शरीर बल] और (सप्त) हे नित्य सम्बन्ध वाले वा सात (सिन्धवः) गतिशील [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] (पातन) बचाओ (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (उत) और (द्यौः) प्रकाशमान बुद्धि (नः) हमें (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उपकारों को विचारता हुआ बिजुली आदि पदार्थों से उपकार लेकर रक्षा करें ॥ १ ॥

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः। पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥ २ ॥

पाताम्। नः। द्यावापृथिवी इति। अभिष्टये। पातु। ग्रावा। पातु। सोमः। नः। अंहसः। पातु। नः। देवी। सु-भगा। सरस्वती। पातु। अग्निः। शिवाः। ये। अस्य। पायवः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (नः) हमें (अभिष्टये)

च। देवता द्वन्द्वे च। पा० ६। ३। २६। इति पूर्वपदस्य आनङ्। हे विद्युद्वायू (अदितिः) अ० २। २८। ४। अदीना प्रकृतिः (पान्तु) रक्षन्तु (मरुतः) अ०१। २०। १। ऋत्विजः—निघ०३। ३८। विद्वांसः (अपाम्) जीवानाम्—दयानन्द-भाष्ये, य० १७। ३०। (नपात्) अ०१। १३। २। न पातयिता। अग्निः। शारीरिकबलमित्यर्थः (सिन्धवः) अ० ४। ३। १। स्यन्दनशीलाः। सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी--निरु० १२। ३७। त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धयः (सप्त) अ०४। ११। ६। समवेताः। संख्यावाचको वा। (पातन) तप्तनप्तनथनाश्च। पा० ७। १। ४५। इति मध्यमपुरुषस्य तशब्दस्य तन आदेशः। पात। रक्षत (पातु) रक्षतु (नः) अस्मान् (विष्णुः) अ० ३। २०। ४। सर्वव्यापकः परमेश्वरः (उत) अपि च (द्यौः) प्रकाशमाना बुद्धिः ॥

२—(पाताम्) रक्षताम् (नः) अस्मान् (द्यावापृथिवी) सूर्य भूमी

अभीष्ट सिद्धि के लिये (पाताम्) बचावें (ग्रावा) मेघ (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (पातु) बचावे और (सोमः) जल (पातु) बचावे । (देवी) व्यवहार वाली, (सुभगा) सुन्दर ऐश्वर्य देने वाली (सरस्वती) विज्ञान वाली वेद विद्या (नः) हमें (पातु) बचावे, (अग्निः) अग्नि विद्या (पातु) बचावे और (ये) जो (अस्य) इसके (शिवाः) सुख दायक (पायवः) रक्षक गुण हैं [वे भी बचावें] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य पृथिवी आदि और वेद द्वारा अनेक शिल्प आदि पदार्थ विद्यायें सिद्ध करके आनन्द भोगें ॥ २ ॥

पातं नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम् । अपां नपादभिहृती गयस्य चिद् देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये ॥ ३ ॥

पाताम् । नः । देवा । अश्विना । शुभः । पती इति । उषासानक्ता । उत । नः । उरुष्यताम् । अपाम् । नपात् । अभिहृती इत्यभि-हृती । गयस्य । चित् । देव । त्वष्टः । वर्धय । सर्व-तातये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवा) व्यवहार में चतुर, (शुभः) शुभ कर्म के (पती) पालन करने हारे (अश्विना) कर्मों में व्याप्ति वाले माता पिता (नः) हमें (पाताम्) बचावें, (उत) और (उषासानक्ता) दिन और रात (नः) हमें

(अभिष्टये) अ० १ । ६ । १ । पररूपम् । अभीष्टसिद्धये (पातु) रक्षतु (ग्रावा) अ० ३ । १० । ५ । मेघः—निघ० १ । १० । (पातु) (सोमः) जलम् (नः) (अंहसः) अ० २ । ४ । ३ । कष्टात् (पातु) (नः) (देवी) व्यवहारिणी (सुभगा) शोभनानि भगानि धनानि यस्याः सा सुष्ठ्वैश्वर्यप्रदा (सरस्वती) विज्ञानवती वेदविद्या (पातु) (अग्निः) अग्निविद्या (शिवाः) सुखकराः (ये) (अस्य) अग्नेः (पायवः) कृवापा० । उ० । १ । १ । इति पा रक्षणे-ण्, युक् च । रक्षका गुणाः ॥

३—(पाताम्) रक्षताम् (नः) अस्मान् (देवा) व्यवहारकुशलौ

(उरुष्यताम्) बचावें । (अपाम्) हे जीवों के (नपात्) न गिराने वाले (देव) प्रकाशमान (त्वष्टः) विश्वकर्मा परमेश्वर ! (अभिह्रुती) कुटिल दशा में वर्तमान (गयस्य) घर के (सर्वतातये) सम्पूर्ण सुख के लिये [हमें] (चित्) अवश्य (वर्धय) बढ़ा ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम माता पिता से उत्तम शिक्षा पाकर, बल पराक्रम बढ़ाकर, दरिद्रता आदि हटाकर सुखी होवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ४ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ १ परमेश्वरः; २ मन्त्रोक्ताः; ३ अश्विनौ देवते ॥ १ आस्तारपङ्क्तिः ; २, ३ विराट् छन्दः ॥

सर्वरक्षोपदेशः—सब की रक्षा का उपदेश ॥

त्वष्टा॑ मे॒ दैव्यं॒ वचः॑ प॒र्जन्यो॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिः॑ ।
पु॒त्रैर्भ्रातृ॑भि॒रदि॑ति॒र्नु पा॑तु नो दु॒ष्टरं॒ त्राय॑माणं॒ सहः॑ ॥१॥

त्वष्टा॑ । मे॒ । दैव्य॑म् । वचः॑ । प॒र्जन्यः॑ । ब्रह्म॑णः । पतिः॑ । पु॒त्रैः । भ्रातृ॑-भिः । अदि॑तिः । नु । पा॒तु । नः॒ । दु॒स्तर॑म् । त्राय॑-माणम् । सहः॑ ॥ १ ॥

(अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । कर्मसु व्याप्तिमन्तौ मातापितरौ (शुभः) शुभ दीप्तौ–क्विप् । शोभनस्य कर्मणः । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्गस्य सत्वम् (पती) पालकौ (उपासानक्ता) अ० ५ । १२ । ६ । अहोरात्रे (उत) अपि च (नः) अस्मान् (उरुष्यताम्) उरुष्यती रक्षाकर्मा–निरु० । ५ । २३ । रक्षताम् (अपां नपात्) म० १ हे जीवानां न पातयितः (अभिह्रुती) अभि+ह्वृ कौटिल्ये–क्तिन्, छान्दसं रूपम् । सुपां सुलुक० । पा० ७ । १ । ३९ । इति पूर्वसवर्णत्वात् सप्तम्या ईकारः । ईदूतौ च सप्तम्यर्थे । पा० १ । १ । १९ । इति प्रगृह्यत्वम् । अभिह्रुतौ सर्वतः कुटिलदशायां वर्तमानस्य (गयस्य) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । १२ । इति गल्भ–यक् निपातनात् साधुः । गृहस्य—निघ० ३ । ४ (चित्) एव (देव) हे प्रकाशमान (त्वष्टः) अ० २ । ५ । ६ । हे विश्वकर्मन् परमात्मन् (वर्धय) अस्मान् समर्धय (सर्वतातये) सर्वदेवात् तातिल् । पा० ४ । ४ । १४२ । इति तातिल् स्वार्थे । सर्वस्मै सुखाय ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा) सब का बनाने वाला, (पर्जन्यः) सींचने वाला (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्ड का (पतिः) रक्षक, (अदितिः) अविनाशी परमेश्वर (पुत्रैः) पुत्रों और (भ्रातृभिः) भ्राताओं के सहित (मे) मेरे (दैव्यम्) देवताओं के हितकारक (वचः) वचन को और (नः) हमारे (दुस्तरम्) अजेय, (त्रायमाणम्) रक्षा करने वाले (सहः) बल की (नु) शीघ्र (पातु) रक्षा करे ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य परमेश्वर की उपासना प्रार्थना करते हुये पूर्ण बल प्राप्त करके अपने कुटुम्बियों की रक्षा करें ॥ १ ॥

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः ।
अप तस्य द्वेषो गमेदभिह्रुतो यावयच्छत्रुमन्तितम् ॥२॥

अंशः । भगः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । अदितिः । पान्तु । मरुतः । अप । तस्य । द्वेषः । गमेत् । अभि-ह्रुतः । यवयत् । शत्रुम् । अन्तितम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अंशः) विभाग करने वाला, (भगः) सेवने योग्य (वरुणः) अपान वायु, (मित्रः) प्राण वायु, (अर्यमा) अन्धकार नाशक सूर्य, और (अदितिः) अदीन भूमि (मरुतः) शूर देवताओं की (पान्तु) रक्षा करें। वे (अभिह्रुतः) कुटिल शील (तस्य) हिंसक चोर के (द्वेषः) दुष्टता को

१—(त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । सर्वस्रष्टा (मे) मम (दैव्यम्) देव-यज् । देवहितम् (वचः) वाक्यम् (पर्जन्यः) अ० १ । २ । १ । सेचकः (ब्रह्मणः) प्रवृद्धस्य जगतः (पतिः) पालकः (पुत्रैः) अस्माकं सुतैः सह (भ्रातृभिः) सहोदरैः (अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । अविनाशी परमेश्वरः (नु) क्षिप्रम् (पातु) रक्षतु (नः) अस्माकम् (दुस्तरम्) दुस्तरणीयम् । अजेयम् (त्रायमाणम्) रक्षकम् (सहः) बलम् ॥

२—(अंशः) विभाजकः (भगः) भजनीयः । सेवनीयः (वरुणः) अपानः (मित्रः) प्राणः (अर्यमा) अ० ३ । १४ । २ । अन्धकारनाशक आदित्यः (अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । अदीना भूमिः (पान्तु) रक्षन्तु (मरुतः) अ० १ । २० । १ । शूरान् देवान् (अप) दूरीकरणे (तस्य) तदं हिंसायाम्–ड । हिंस-

(अप गमेत्=गमयेयुः) हटा देवें और (अन्तितम्) बन्ध में डालने वाले (शत्रुम्) शत्रु को (यवयत्=यवयेयुः) पृथक् करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य भीतरी और बाहिरी अवस्था को सुधार कर अपने दोषों का नाश करके उन्नति करें ॥ २ ॥

धिये सम॑श्विना प्राव॑तं न उरुष्या ण॑ उरुज्मन्नप्र॑युच्छन्। द्यौ३॑ष्पित॑र्याव॒य दु॒च्छुना॒ या ॥ ३ ॥

धिये । सम् । अ॒श्वि॒ना॒ । प्र । अ॒व॒त॒म् । नः॒ । उ॒रु॒ष्य । नः॒ । उ॒रु॒-ज्म॒न् । अप्र॑-यु॒च्छ॒न् । द्यौः॑ । पित॑रिति॑ । य॒वय॑ । दु॒च्छुना॑ । या ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे सब कामों में व्यापक रहने वाले माता पिता ! (धिये) सत् कर्म वा सत् बुद्धि के लिये (नः) हमारी (सम्) मिलकर (प्र) अच्छे प्रकार (अवतम्) रक्षा करो। (उरुज्मन्) हे विस्तीर्ण गति वाले परमात्मन् ! (अप्रयुच्छन्) चूक न करता हुआ तू (नः) हमारी (उरुष्य) रक्षा कर। (द्यौः) हे प्रकाशमान (पितः) पिता परमेश्वर ! (या) जो (दुच्छुना) दुर्गति है [उसको] (यवय) तू हटा दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—माता पिता इस प्रकार शिक्षा देवें जिस से उनके संतान ईश्वर आज्ञा पालन करके ऐश्वर्यवान् हों ॥ ३ ॥

कस्य। चोरस्य (द्वेषः) द्विष-असुन्। अप्रीतिम् (गमेत्) अन्तर्गतणिजर्थः, बहुवचनस्यैकवचनम्। गमयेयुः (अभिह्रुतः) ह्वृ कौटिल्ये—क्विप्। कुटिलस्य (यवयत्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—ण्यन्ताल्लेटि अडागमो वृद्ध्यभावो बहुवचनस्यैकवचनंच। यवयेयुः पृथक् कुर्युः (शत्रुम्) वैरिणम् (अन्तितम्) अति बन्धने-कर्तरि क्तः। बन्धकम् ॥

३—(धिये) धीः कर्मनाम—निघ० २। १। प्रज्ञानाम—निघ० ३। ९। सत्कर्मणे सद्बुद्धये वा (सम्) संगत्य (अश्विना) सू० ३। ३। कर्मसु व्यापनशीलौ मातापितरौ (प्र) प्रकर्षेण (अवतम्) रक्षतम् (नः) अस्मान् (उरुष्य) सू० ३। ३। रक्ष (नः) (उरुज्मन्) सर्वधातुभ्यो मनिन् उ० ४। १४५। इति उरु+अज गतिक्षेपणयोः—मनिन्, अकारलोपः। हे विस्तीर्णगते परमात्मन् (अप्रयुच्छन्) अ० २। ६। ३। अप्रमाद्यन् (द्यौः) हे प्रकाशमान (पितः) पालक परमेश्वर (यवय) अपगमय (दुच्छुना) अ० ५। १७। ४। दुर्गतिः (या) या, तामपि ॥

सूक्तम् ॥ ५ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

धनजीवनवर्धनोपदेशः—धन और जीवन की वृद्धि का उपदेश ॥

उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत ।

समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि ॥ १ ॥

उत् । एनम् । उत्-तरम् । नय । अग्ने । घृतेन । आ-हुत ।

सम् । एनम् । वर्चसा । सृज । प्र-जया । च । बहुम् । कृधि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(घृतेन) घृत से (आहुत) आहुति पाये हुये (अग्ने) हे अग्नि के समान तेजस्वी परमेश्वर ! (एनम्) इस पुरुष को (उत्तरम्) अधिक ऊंचा (उत् नय) उठा । (एनम्) इस को (वर्चसा) तेज से (सम् सृज) संयुक्त कर, (च) और (प्रजया) प्रजा से (बहुम्) प्रवृद्ध (कृधि) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से तेजस्वी होकर अपना सामर्थ्य और प्रजा बढ़ावे ॥ १ ॥

इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद् वशी ।

रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय ॥ २ ॥

इन्द्र । इमम् । प्र-तरम् । कृधि । स-जातानाम् । असत् । वशी । रायः । पोषेण । सम् । सृज । जीवातवे । जरसे । नय ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (इमम्) इस पुरुष को (प्रतरम्) अधिक ऊंचा (कृधि) कर, यह (सजातानाम्) समान

१—(उत् नय) उर्ध्वं प्रापय (एनम्) उपासकम् (उत्तरम्) उन्नतं पदम् (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् परमात्मन् (घृतेन) आज्येन (आहुत) प्राप्ताहुते (सम् सृज) संयोजय (एनम्) (वर्चसा) तेजसा (प्रजया) सन्तानभृत्यादिना (च) (बहुम्) लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च । उ० १ । २९ । इति बहि वृद्धौ—कु । प्रवृद्धम् (कृधि) कुरु ॥

२—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् भगवन् (इमम्) धर्मात्मानम् (प्रतरम्) अधिकप्रवृद्धम् (कृधि) कुरु (सजातानाम्) समानजन्मनां बन्धूनाम् (असत्)

जन्म वाले बन्धुओं का (वशी) वश में रखने वाला, अधिष्ठाता (असत्) होवे। (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से (सम् सृज) संयुक्त कर और (जीवातवे) बड़े जीवन के लिये और (जरसे) स्तुति के लिये (नय) आगे बढ़ा ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा पालन करके अपने बन्धुओं को उत्तम बर्ताव से वश में रख कर धन की वृद्धि करके पूर्ण यश प्राप्त करें ॥ २ ॥

यस्यं कृण्मो हविर्गृहे तमंग्ने वर्धया त्वम् ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

यस्यं । कृण्मः । हविः । गृहे । तम् । अग्ने । वर्धय । त्वम् ।
तस्मै । सोमः । अधि । ब्रवत् । अयम् । च । ब्रह्मणः । पतिः ॥३

भाषार्थ—(यस्य) जिस पुरुष के (गृहे) घर में (हविः) देने और लेने योग्य व्यवहार (कृण्मः) हम करते हैं, (तम्) उस को (अग्ने) हे सर्व-व्यापक परमेश्वर ! (त्वम्) तू (वर्धय) बढ़ा। (तस्मै) उसी पुरुष के लिये (अयम्) यह (सोमः) ऐश्वर्यवान् (च) और (ब्रह्मणः) वेद विद्या का (पतिः) रक्षक पुरुष (अधि) अधिक (ब्रवत्) कथन करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सबका हितैषी होवे वह परमेश्वर के अनुग्रह से वृद्धि करके ऐश्वर्यशाली विद्वानों में बड़ाई पावे ॥ ३ ॥

भवेत् (वशी) वशयिता। अधिष्ठाता (रायः) धनस्य (पोषेण) वर्धनेन (सम् सृज) संयोजय (जीवातवे) जीवेरातुः । उ० १ । ७८ । इति जीव प्राण-धारणे—आतु। चिरजीवनाय (जरसे) अ० १। ३०। २। स्तुतये (नय) प्रेरय ॥

३—(यस्य) धार्मिकस्य (कृण्मः) कुर्मः (हविः) दातव्यं ग्राह्यं कर्म (गृहे) निवासे (तम्) (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् (वर्धय) समर्धय (त्वम्) (तस्मै) पूर्वोक्ताय पुरुषाय (सोमः) ऐश्वर्यवान् पुरुषः (अधि) अधिकम् (ब्रवत्) कथयेत् (अयम्) प्रसिद्धः (च) (ब्रह्मणः) वेदस्य (पतिः) पालकः ॥

सूक्तम् ॥ ६ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ ब्रह्मणस्पतिः सोमो वा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रु के नाश का उपदेश ॥

योऽ३ऽस्मान् ब्र॑ह्मणस्पतेऽदे॑वो अभिमन्य॑ते ।

सर्वं॒ तं र॑न्धयासि मे॒ यज॑मानाय सुन्वते ॥ १ ॥

यः । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते॒ । अदे॑वः । अभि-मन्य॑ते ।

सर्व॑म् । तम् । रन्धयासि । मे॒ । यज॑मानाय । सुन्वते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणः पते) हे ब्रह्माण्ड के रक्षक ! (यः) जो (अदेवः) नास्तिक वा कुव्यवहारी पुरुष (अस्मान्) हम से (अभिमन्यते) अभिमान करता है। (तम्) उस (सर्वम्) सब को (सुन्वते) तत्त्व मथन करने वाले, (यजमानाय) विद्वानों का आदर करने वाले (मे) मेरे लिये (रन्धयासि) वश में कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का ध्यान करता हुआ विवेक पूर्वक यथावत् परीक्षा करके विघ्नों का नाश करे ॥ १ ॥

यो नः॑ सोम सुशं॒सिनो॑ दुःशंस॑ आदिदे॑शति ।

वज्रे॑णास्य मुखे॑ जहि॒ स संपि॑ष्टो अपायति ॥ २ ॥

यः । नः॒ । सोम॒ । सु-शं॒सिनः॑ । दुः-शंसः॑ । आ-दिदे॑शति ।

वज्रे॑ण । अस्य । मुखे॑ । जहि॒ । सः । सम्-पि॑ष्टः । अप॑ । अयति २

१—(यः) (अस्मान्) धार्मिकान् प्रति (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्डस्य जगतः (पते) रक्षक परमात्मन् (अदेवः) नास्तिकः कुव्यवहारी वा (अभिमन्यते) अभिमानं करोति (सर्वम्) निःशेषम् (तम्) अदेवम् (रन्धयासि) रध्यतिर्वशगमने—निरु० १० । ४० । रध हिंसासंराद्ध्योः—एयन्ताल्लेटि, आडागमः । रधिजभोरचि । पा० ७ । १ । ६१ । इति नुम् । वशीकुर्याः (मे) मह्यम् (यजमानाय) देवपूजकाय । संयोजकवियोजकाय (सुन्वते) अ० ४ । ३० । ६ । तत्त्वमथनं कुर्वते ॥

भाषार्थ—(सोम) हे बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (यः) जो (दुःशंसः) अति दुर्गति वाला शत्रु (सुशंसिनः) बड़ी स्तुति वाले (नः) हम लोगों पर (आदिदेशति) आदेश वा आज्ञा करे। (अस्य) उसके (मुखे) मुख पर (वज्रेण) वज्र से (जहि) ताड़ना कर। (सः) वह (संपिष्टः) चूर चूर होकर (अप अयति) भाग जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर से सामर्थ्य पाकर शत्रुओं को वश में रक्खे ॥ २ ॥

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः ।
अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना ॥ ३ ॥

यः । नः । सोम । अभि-दासति । स-नाभिः । यः । च । निष्ट्यः ।
अप । तस्य । बलम् । तिर । मही-इव । द्यौः । वधत्मना ॥३॥

भाषार्थ—(सोम) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (यः) जो कोई (सनाभिः) अपना सपिण्डी (च) और (यः) जो कोई (निष्ट्यः) म्लेच्छ (नः) हमें (अभिदासति) सताता है, (तस्य) उसके (बलम्) बल को

२—(यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (सोम) हे परमैश्वर्यवन् परमेश्वर (सुशंसिनः) शंसु स्तुतौ दुर्गतौ च—णिनि। बहुस्तुतियुक्तान् (दुःशंसः) शंसु—पचाद्यच्। अतिदुर्गतिः। महादुष्टाभिप्रायः (आदिदेशति) आङ्+दिश आदेशे, द्वित्वं शप् च छान्दसम्। आदिशति आज्ञापयति। शास्ति (वज्रेण) वर्जकेन शस्त्रेण (अस्य) शत्रोः (मुखे) वदने (जहि) ताडय (सः) शत्रुः (संपिष्टः) चूर्णीभूतः सन् (अप अयति) अप गच्छति। पलायते ॥

३—(यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (सोम) परमैश्वर्यवन् (अभिदासति) अ० ४। १९। ५। अभितो हिनस्ति (सनाभिः) एकदेहोत्पन्नत्वेन तुल्यनाभिता। समाननाभिः। ज्ञातिः। सपिण्डः (यः) (च) (निष्ट्यः) अ० ३। ३। ६। निस—त्यप्। म्लेच्छः (अप तिर) नाशय (तस्य) शत्रोः (बलम्) सामर्थ्यम् (मही) महती। विस्तीर्णा (इव) यथा (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (वधत्मना) हनश्च वधः। पा० ३। ४। ७६। इति हन—अप्, वधादेशः

(वधत्मना) अपने वज्र रूप स्वभाव से (अप तिर) गिरा दे, (इव) जैसे (मही) बड़ा (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य [अन्धकार को] ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल बढ़ा कर प्रत्येक शत्रु का नाश करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ७ ॥

१-३ ॥ १, २, सोमः, ३ देवा देवताः ॥ गायत्री छन्दः ॥

सुखप्राप्त्युपदेशः—सुख की प्राप्ति का उपदेश ॥

येन सोमादितिः पथा मित्रा वा यन्त्यद्रुहः

तेना नोऽवसा गहि ॥ १ ॥

येन । सोम । अदितिः । पथा । मित्राः । वा । यन्ति । अद्रुहः ।

तेन । नः । अवसा । आ । गहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सोम) हे बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (येन पथा) जिस मार्ग से (अदितिः) अदीन पृथिवी (वा) और (मित्राः) प्रेरणा करने हारे सूर्य आदि लोक (अद्रुहः) द्रोह रहित होकर (यन्ति) चलते हैं । (तेन) उसी से (अवसा) रक्षा के साथ (नः) हमें (आ गहि) आकर प्राप्त हो ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य सत्य वेद पथ पर चल कर प्रीतिपूर्वक परस्पर रक्षा करें, जैसे सूर्यादि लोक परस्पर आकर्षण से परस्पर उपकार करते हैं ॥ १ ॥

येन सोम साहन्त्यासुरान् रन्धयासि नः ।

तेना नो अधि वोचत ॥ २ ॥

मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः । पा० ६ । ४ । १४१ । इति आकारलोपः । वज्ररूपेण स्वभावेन ॥

१—(येन) (सोम) परमैश्वर्यवन् (अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । अदीना पृथिवी (पथा) मार्गेण (मित्राः) अ० ३ । ८ । १ । डुमिञ् प्रक्षेपणे—क्त्र । प्रेरकाः सूर्यादिलोकाः (वा) चार्थे (यन्ति) संचरन्ति (अद्रुहः) अद्रोग्धारः सन्तः (तेन) पथा (नः) अस्मान् (अवसा) रक्षणेन सह (आ गहि) आगच्छ ॥

येन । सोम । साहन्त्य । असुरान् । रन्धयासि । नः । तेन । नः । अधि । वोचत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(साहन्त्य) हे विजयी शूरों में रहने वाले (सोम) बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन् ! (येन) जिस [मार्ग] से (असुरान्) असुरों को (नः) हमारे लिये (रन्धयासि) तू वश में करे, (तेन) उसीसे (नः) हमारे लिये (अधि) अनुग्रह से (वोचत=अवोचत) आपने कथन किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी सनातनी वेद विद्या द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमान में रक्षा करता है ॥ २ ॥

येन देवा असुराणामोजांस्यवृणीध्वम् ।
तेना नः शर्म यच्छत ॥ ३ ॥

येन । देवाः । असुराणाम् । ओजांसि । अवृणीध्वम् । तेन । नः । शर्म । यच्छत ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयी देवताओ ! (येन) जिस [मार्ग] से (असुराणाम्) असुरों के (ओजांसि) बलों को (अवृणीध्वम्) तुम ने रोका है, (तेन) उसी से (नः) हमें (शर्म) सुख (यच्छत) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—शूर वीर पुरुष दुष्टोंके जीतने में परस्पर सदा सहायक रहें ३

२—(येन) पथा-म० १ । (सोम) (साहन्त्य) भुवो झिच् । उ० ३ । ५० । इति षह अभिभवे—झिच् । पाथोनदीभ्यां ड्यण् । पा० ४ । ४ । १११ । इति सहन्ति-ड्यण् बाहुलकात् । हे सहन्तिषु सोढृषु जेतृषु भव (असुरान्) सुरविरोधिनो दुष्टान् (रन्धयासि) सू० ६ । १ । त्वं वशीकुर्याः (नः) अस्मदर्थम् (नः) (अधि) अधिकम् अनुग्रहपूर्वकम् (वोचत) लुङि प्रथमपुरुषस्य छान्दसं रूपम् । भवान् कथितवानस्ति ॥

३—(येन) वेदमार्गेण (देवाः) विजिगीषवः शूराः (असुराणाम्) सुरविरोधिनां शत्रूणाम् (ओजांसि) बलानि (अवृणीध्वम्) वृञ् संवरणे—लङ् । यूयं निवारितवन्तः स्थ (तेन) पथा (नः) अस्मभ्यम् (शर्म) सुखम् (यच्छत) पाघ्राध्मा० । पा० । ३ । ७८ । इति दाण् दाने, यच्छादेशः । दत्त ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-३ ॥ विद्या देवता ॥ पङ्क्तिश्छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या की प्राप्ति का उपदेश ॥

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे । एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥१॥

यथा । वृक्षम् । लिबुजा । सम्-अन्तम् । परि-सस्वजे । एव । परि । स्वजस्व । माम् । यथा । माम् । कामिनी । असः । यथा । मत् । न । अप-गाः । असः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (लिबुजा) बढ़ाने वाले आश्रय के साथ उत्पन्न होने वाली, बेल (वृक्षम्) वृक्ष को (समन्तम्) सब ओर से (परिषस्वजे= परिष्वजते) लिपट जाती है। (एव) वैसे ही [हे विद्या] (माम्) मुझ से (परिस्वजस्व) तू लिपट जा, (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) बिछुरने वाली (न) न (असः) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी पूरा तपश्चरण करके विद्या को इस प्रकार प्राप्त करे जिस से वह सदा स्मरण करके उससे उपकार लेता रहे ॥ १ ॥

इस मंत्र का (यथा माम्—मन्नापगा असः) यह भाग-अ० १ । ३४ । ५ । और २ । ३० । १ । में आया है ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (वृक्षम्) स्वीकरणीयं द्रुमम् (लिबुजा) पॄभिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । इति लिप वृद्धौ-कु, पस्य बः । जनी प्रादुर्भावे-ड, टाप् । लिबुना वर्धकेन आश्रयेण सह जायते सा । लता, वल्ली । लिबुजा व्रततिर्भवति लीयते विभजन्तीति—निरु० ६ । २८ । (समन्तम्) सर्वतः (परिषस्वजे) ष्वञ्ज परिष्वङ्गे, लडर्थे लिट् । परिष्वजते । आश्लिष्यति (एव) तथा (परि स्वजस्व) आश्लिष्य (माम्) ब्रह्मचारिणम् । अन्यद् यथा-अ० १ । ३४ । ५ । (यथा) यस्मात्कारणात् (माम्) (कामिनी) कामयमाना (असः) त्वं भवेः (यथा) (मत्) मत्तः (न) निषेधे (अपगाः) अपगन्त्री । वियोगिनी (असः) ॥

यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम् । एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ २ ॥

यथा । सु-पर्णः । प्र-पतन् । पक्षौ । नि-हन्ति । भूम्याम् । एव । नि । हन्मि । ते । मनः । यथा । माम् । कामिनी । असः । यथा । मत् । न । अप-गाः । असः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (प्रपतन्) उड़ता हुआ (सुपर्णः) शीघ्रगामी पक्षी (पक्षौ) दोनों पंखों को (भूम्याम्) भूमि पर (निहन्ति) जमा देता है । (एव) वैसे ही (ते) तेरे लिये (मनः) अपना मन (नि हन्मि) मैं जमाता हूं, (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली... म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्यार्थी पूरा मन लगा कर विद्या प्राप्त करके उसकी सफलता करे ॥ २ ॥

यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः । एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥३॥

यथा । इमे इति । द्यावापृथिवी इति । सद्यः । परि-एति । सूर्यः । एव । परि । एमि । ते । मनः । यथा । माम् । कामिनी । असः । यथा । मत् । न । अप-गाः । असः ॥३॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इमे) इस (द्यावापृथिवी) आकाश और

२—(यथा) येन प्रकारेण (सुपर्णः) सुपर्णाः सुपतनाः—निरु० ४ । ३ शीघ्रगामी पक्षी (प्रपतन्) उड्डीयमानः (पक्षौ) खगानां पतत्रौ (निहन्ति) नितरां प्राप्नोति स्थापयति (भूम्याम्) पृथिव्याम् (एव) तथा (नि हन्मि) स्थापयामि (ते) तुभ्यम् (मनः) स्वहृदयम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

३—(यथा) (इमे) परिदृश्यमाने (द्यावापृथिवी) आकाशं भूमिं च

भूमि में (सूर्यः) लोकों का चलाने वाला सूर्य (सद्यः) शीघ्र (पर्यैति) व्याप जाता है (एव) वैसे ही (ते) तेरे लिये (मनः) अपना मन (परि एमि) मैं व्यापक करता हूं, (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) बिछुरने वाली (न) न (असः) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सूर्य के समान नियम से परिश्रम करके विद्या प्राप्त करते हैं वे परोपकारी होकर सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-३ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गृहस्थाश्रमोपदेशः—गृहस्थ आश्रम का उपदेश

वाञ्छ मे तन्वं१ पादौ वाञ्छाक्ष्यौ३ वाञ्छ सक्थ्यौ ।
अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु ॥१॥

वाञ्छ । मे । तन्वम् । पादौ । वाञ्छ । अक्ष्यौ । वाञ्छ । सक्थ्यौ । अक्ष्यौ । वृषण्यन्त्याः । केशाः । माम् । ते । कामेन । शुष्यन्तु ॥१॥

भाषार्थ—(मे) मेरे (तन्वम्) शरीर की और (पादौ) दोनों पैरों की (वाञ्छ) कामना कर, (अक्ष्यौ) दोनों नेत्रों की (वाञ्छ) कामना कर, (सक्थ्यौ) दोनों जंघाओं की (वाञ्छ) कामना कर । (वृषण्यन्त्याः) ऐश्वर्यवान् पुरुष की इच्छा करती हुयी (ते) तेरी (अक्ष्यौ) दोनों आंखें और (केशाः)

(परि एति) परितो व्याप्नोति (सूर्यः) लोकप्रेरको भास्करः (एव) एवम् (परि एमि) परितः प्राप्नोमि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(वाञ्छ) कामयस्व । इच्छ (मे) मम (तन्वम्) शरीरम् (पादौ) (अक्ष्यौ) अ० १ । २७ । १ । अक्षिणी (सक्थ्यौ) सक्थिनी जङ्घे । ई च द्विवचने । पा० ७ । १ । ७७ । इति ईकारः (वृषण्यन्त्याः) अ० ५ । ५ । १ । वृषाण-

केश (कामेन) सुन्दर कामना से (माम्) मुझ को (शुष्यन्तु) सुखावें ॥ १ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुष सब अङ्गों से हृष्ट पुष्ट और पुरुषार्थी होकर पूरण युवा अवस्था में गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने की इच्छा करें ॥ १ ॥

ममं त्वा दोषणिश्रिषं कृणोमि हृदयश्रिषम् ।
यथा मम क्रतावसो ममं चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

ममं । त्वा । दोषणि-श्रिषम् । कृणोमि । हृदय-श्रिषम् ।
यथा । ममं । क्रतौ । असः । ममं । चित्तम् । उप-आयंसि ॥२॥

भाषार्थ—(त्वा) तुझको (मम) अपने (दोषणिश्रिषम्) भुजा पर आश्रय वाली और (हृदयश्रिषम्) हृदय में आश्रय वाली (कृणोमि) मैं करता हूं । (यथा) जिससे (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म वा बुद्धि में (असः) तू रहे, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उपायसि) तू पहुंचती है ॥ २ ॥

भावार्थ—पति और पत्नी परस्पर पुरुषार्थ और प्रीति पूर्वक गृहस्थ आश्रम को यथावत् सिद्ध करें ॥ २ ॥

यासां नाभिरारेहणं हृदि संवननं कृतम् ।
गावो घृतस्यं मातरोऽमूं सं वानयन्तु मे ॥ ३ ॥

यासाम् । नाभिः । आ-रेहणम् । हृदि । सम्-वननम् । कृतम् ।
गावः । घृतस्यं । मातरः । अमूम् । सम् । वनयन्तु । मे ॥३॥

मिन्द्रम् ऐश्वर्यवन्तम् आत्मन इच्छन्त्याः (केशाः) (माम्) पुरुषम् (ते) तव (कामेन) इष्टमनोरथेन (शुष्यन्तु) शोषयन्तु ॥

२—(मम) (त्वा) त्वाम् (दोषणिश्रिषम्) श्रिषु दाहे, श्रिष आलिङ्गने इति सायणः-क्विप् । पद्दन्नोमास० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दोः शब्दस्य दोषन् । सप्तम्या अलुक् । बाहौ पुरुषार्थे आश्रिताम् (कृणोमि) करोमि (हृदयश्रिषम्) हृदयाश्रिताम् (यथा) यस्मात्कारणात् । अन्यद् व्याख्यातम् । अ० १ । ३४ । २ । (मम) (क्रतौ) कर्मणि बुद्धौ वा (असः) त्वं भूयाः (मम) (चित्तम्) अन्तः करणम् (उपायसि) उप+आङ्+अय गतौ । उपागच्छसि । आदरेण आप्नोषि ॥

भाषार्थ—(यासाम्) जिन [स्त्रियों] के (हृदि) हृदय में (नाभिः) स्नेह, (आरेहणम्) प्रशंसा और (संवननम्) भक्ति (कृतम्) की गयी है, (घृतस्य) घृत की (मातरः) बनाने वाली (गावः) गौयें (अमूम्) उस [पत्नी] को (मे) मेरे लिये (सम्) यथावत् (वनयन्तु) सेवन करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जहां पर पति पत्नी प्रीति पूर्वक रहते हैं, वहां घृत दुग्ध आदि पदार्थों की बहुतायत होती है ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥१०॥

१-३ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ द्विपदा विराट् छन्दः ॥

स्वास्थ्यरक्षोपदेशः—स्वास्थ्य की रक्षा का उपदेश ॥

पृ॒थि॒व्यै श्रोत्रा॑य॒ वन॒स्पति॑भ्यो॒ऽग्नये॒ऽधि॑पतये॒ स्वाहा॑॥१॥

पृ॒थि॒व्यै । श्रोत्रा॑य । वन॒स्पति॑-भ्यः । अ॒ग्नये॑ । अधि॑-पतये । स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(श्रोत्राय) श्रवण शक्ति के लिये (पृथिव्यै) पृथिवी को, और (वनस्पतिभ्यः) सेवा करने वालों के रक्षकों वृक्ष आदिकों के लिये (अधिपतये) [पृथिवी के] बड़े रक्षक (अग्नये) अग्नि को (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पृथिवी तत्त्व, और उस से अग्नि द्वारा उत्पन्न पदार्थों के विवेक से श्रवण शक्ति बढ़ावें ॥ १ ॥

३—(यासाम्) आदरार्थं बहुवचनम् । स्त्रीणाम् (नाभिः) बन्धनम् । स्नेहः (आरेहणम्) रिह कत्थने-ल्युट् । प्रशंसनम् (हृदि) हृदये (संवननम्) संभक्तिः (कृतम्) निष्पादितम् (गावः) धेनवः (घृतस्य) आज्यादिपदार्थस्य (मातरः) निर्मात्र्यः (अमूम्) पत्नीम् (सम्) सम्यक् (वानयन्तु) दीर्घश्छान्दसः । संभजन्ताम् । सेवन्ताम् (मे) मदर्थम् ॥

१—(पृथिव्यै) भूलोकाय (श्रोत्राय) श्रवणहिताय (वनस्पतिभ्यः) अ० १ । ३५ । ३ । सेवकपालकेभ्यो वृक्षादिभ्यः । तेषां हितायेत्यर्थः (अग्नये) पृथिवीस्थतेजसे (अधिपतये) पृथिव्या रक्षकाय (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सुवाणी सुन्दरस्तुतिः ॥

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा ॥२॥

प्राणाय । अन्तरिक्षाय । वयः-भ्यः । वायवे । अधि-पतये । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्राणाय) प्राण के लिये (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष लोक को, और (वयोभ्यः) अन्न आदि पदार्थों के लिये (अधिपतये) [अन्तरिक्ष के] बड़े रक्षक (वायवे) वायु को (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्तरिक्ष और वायु से उपकार लेकर प्राण और अन्न आदि पदार्थों को पुष्ट करें ॥ २ ॥

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥ ३ ॥

दिवे । चक्षुषे । नक्षत्रेभ्यः । सूर्याय । अधि-पतये । स्वाहा ॥३॥

भाषार्थ—(चक्षुषे) दृष्टि शक्ति के लिये (दिवे) प्रकाश को, और (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रों के लिये (अधिपतये) [प्रकाश के] बड़े रक्षक (सूर्याय) सूर्य को (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रकाश और सूर्य के आकर्षण आदि गुणों को जानकर दृष्टि और नक्षत्र विद्या प्राप्त करें ॥ ३ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ ११ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गर्भाधानोपदेशः—गर्भाधान का उपदेश ॥

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम् ।

२—(प्राणाय) प्राणहिताय (अन्तरिक्षाय) मध्यलोकाय (वयोभ्यः) अ० २ । १० । ३ । अन्नादिपदार्थेभ्यः (वायवे) गमनशीलाय पवनाय (अधिपतये) अन्तरिक्षस्य पालकाय (स्वाहा) सुन्दरस्तुतिः ॥

३—(दिवे) प्रकाशाय (चक्षुषे) दर्शनशक्तये (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रज्ञानेभ्यः (सूर्याय) अ० १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकाय दिवाकराय (अधिपतये) प्रकाशस्य महारक्षकाय ॥

तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥ १ ॥

शमीम् । अश्वत्थः । आ-रूढः । तत्र । पुम्-सुवनम् । कृतम् ।
तत् । वै । पुत्रस्य । वेदनम् । तत् । स्त्रीषु । आ । भरामसि ॥१

भाषार्थ—(अश्वत्थः) बलवानों में ठहरने वाला पुरुष (शमीम्) शान्त स्वभाव स्त्री के प्रति (आरूढः) आरूढ हो चुकता है, (तत्र) उस काल में (पुंसुवनम्) सन्तान का उत्पत्ति कर्म (कृतम्) किया जाता है। (तत्) वह कर्म (वै) ही (पुत्रस्य) कुल शोधक संतान की (वेदनम्) प्राप्ति का कारण है, (तत्) उस कर्म को (स्त्रीषु) स्त्रियों में (आभरामसि) हम पहुंचाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—वीर्यवान् पति और शान्त स्वभाव पत्नी यथा विधि परस्पर संयोग करके सन्तान उत्पन्न करें ॥ १ ॥

इस सूक्त का विधान पुंसवन संस्कार में श्री दयानन्दकृत संस्कार विधि में है ॥

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते ।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥

पुंसि । वै । रेतः । भवति । तत् । स्त्रियाम् । अनु । सिच्यते ।
तत् । वै । पुत्रस्य । वेदनम् । तत् । प्रजा-पतिः । अब्रवीत् ॥२॥

१—(शमीम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति शम उपशमे-इन्, ङीष् । शमी कर्मनाम-निरु० २ । १ । शान्तस्वभावां स्त्रियम् (अश्वत्थः) अ० ३ । ६ । १ । अश्वेषु बलवत्सु तिष्ठतीति सः । अतिवीरपुरुषः (आरूढः) अधिगतः (तत्र) तस्मिन् काले (पुंसुवनम्) भूसूधू० । उ० २ । ८० । इति षूङ प्रसवे—क्युन् । पुंसो रक्षकस्य सन्तानस्योत्पादनम् (कृतम्) विहितम् (तत्) पुंसवनम् (पुत्रस्य) कुलशोधकस्य सन्तानस्य (वेदनम्) विद्लृ लाभे—ल्युट् । लाभकारणम् (तत) कर्म (स्त्रीषु) पत्नीषु (आभरामसि) आ हरामः । प्रापयामः ॥

भाषार्थ—(पुंसि) रक्षा स्वभाव पुरुष में (वै) ही (रेतः) वीर्य (भवति) होता है, (तत्) वह वीर्य (स्त्रियाम्) स्त्री में (अनु) अनुकूल विधि से (सिच्यते) सींचा जाता है। (तत्) वह कर्म (वै) ही (पुत्रस्य) कुल शोधक संतान की (वेदनम्) प्राप्ति का कारण है, (तत्) वही (प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक ईश्वर ने (अब्रवीत्) बताया है ॥ २ ॥

भावार्थ—युवा अवस्था में ही मनुष्य पूर्ण बलवान् और वीर्यवान् होकर उत्तम बलवान् संतान उत्पन्न करे, यह ईश्वर नियम है ॥ २ ॥

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥ ३ ॥

प्रजा-पतिः । अनु-मतिः । सिनीवाली । अचीक्लृपत् । स्त्रैसूयम् । अन्यत्र । दधत् । पुमांसम् । ऊं इति । दधत् । इह ॥३

भाषार्थ—(अनुमतिः) अनुकूल बुद्धिवाली, (सिनीवाली) अन्नवाली (प्रजापतिः) प्रजापालक शक्ति परमेश्वर ने (अचीक्लृपत्) यह शक्ति दी है। (अन्यत्र) दूसरे प्रकार में [स्त्री का रज अधिक होने में] (स्त्रैसूयम्) स्त्री जन्म संबन्धी क्रिया (दधत्=दधते) वह [ईश्वर] धारण करता है और (इह) इसमें

२—(पुंसि) अ० ३ । ६ । १ । रक्षणस्वभावे बलवति पुरुषे (वै) एव (रेतः) अ० २ । २८ । ५ । वीर्यम् (भवति) (तत्) रेतः (स्त्रियाम्) पत्न्याम् (अनु) आनुकूल्येन । यथाविधि (सिच्यते) सेचनं क्रियते (तत्) रेतःसेचनम् (वै) (पुत्रस्य) (वेदनम्) प्राप्तिकारणम् (प्रजापतिः) प्रजानां पालकः परमेश्वरः (अब्रवीत्) अकथयत् ॥

३—(प्रजापतिः) प्रजापालिका शक्तिः परमेश्वरः (अनुमतिः) अनुकूलबुद्धियुक्ता (सिनीवाली) अ० २ । २६ । २ । अन्नधर्त्री । अन्नवती (अचाक्लृपत्) कृपू सामर्थ्ये ण्यन्ताल्लुङि चङि रूपम् । समर्थमकरोत् (स्त्रैसूयम्) राजसूयसूर्य० पा० ३ । १ । ११४ । इति स्त्री+षूङ् प्रसवे—क्यप् । स्त्रीसूय-अण् सम्बन्धे । कन्याजन्मसम्बन्धि कर्म (अन्यत्र) अन्यप्रकारे । स्त्रीरजआधिक्ये (दधत्) दध धारणे—लडर्थे लेट् परस्मैपदं च छान्दसम् । ईश्वरो दधते

[पुरुष का वीर्य अधिक होने पर] (उ) निश्चय करके (पुमांसम्) बलवान् संतान को (दधत्) वह स्थापित करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम बुद्धि वाला, अन्नवान् और प्रजा पालक होकर ईश्वर नियम से गृहस्थ आश्रम के योग्य होता है और स्त्री का रज अधिक होने पर कन्या और पुरुष का वीर्य अधिक होने पर पुरुष संतान उत्पन्न होता है ३॥

सूक्तम् ॥ १२ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पापनाशनायोपदेशः—पाप नाश करने के लिये उपदेश ॥

परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम् ।

रात्री जगदिवान्यद्धंसात् तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

परि । द्याम्-इव । सूर्यः । अहीनाम् । जनिम । अगमम् । रात्री । जगत्-इव । अन्यत् । हंसात् । तेन । ते । वारये । विषम् ॥ १

भाषार्थ—(सूर्यः) सूर्य (इव) जैसे (द्याम्) आकाश को, [वैसे ही] (अहीनाम्) सर्पों [सर्प समान दोषों] के (जनिम) जन्म को (परि) सब ओर से (अगमम्) मैंने जान लिया है। (रात्री इव) जैसे रात्री (हंसात्) सूर्य से (अन्यत्) अन्य (जगत्) जगत् का [ढक लेती है], (तेन) उसी प्रकार से ही [हे मनुष्य] (ते) तेरे (विषम्) विष को (वारये) मैं हटाता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—योगी मनुष्य दोषों के कारणों को ऐसे जान लेता है [जैसे सूर्य आकाशस्थ पदार्थों को, और जैसे रात्री में सब पदार्थ सूर्य को छोड़ कर अदृष्ट हो जाते हैं वैसे ही उस योगी के पाप नष्ट हो जाते हैं,] और वह पूर्ण ज्ञान से सूर्य समान प्रकाशमान होजाता है ॥ १ ॥

स्थापयति (पुमांसम्) पुरुषसन्तानम् (उ) अवश्यम् (दधत्) (इह) अस्मिन्वधौ। पुरुषवीर्याधिक्ये ॥

१—(परि) परितः (द्याम्) अन्तरिक्षम् (इव) यथा (सूर्यः) भास्करः (अहीनाम्) अ० २।५।५। आहननशीलानां सर्पाणां दोषाणां वा (जनिम) अ० १।८।४। जन्म (अगमम्) गतवान् ज्ञातवानस्मि (रात्री) निशा (जगत्) प्राणिजातम् (इव) यथा (अन्यत्) इतरत् (हंसात्) वृतृवदि०। उ० ३।६२। इति हन हिंसागत्योः—स। हंसासः, अश्वाः—निघ० १। १४। हंसा हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम्—निरु० ४।१३। हंसाः सूर्यरश्मयः—निरु० १४। २८। गमनशीलात् सूर्यात् (तेन) प्रसिद्धप्रकारेण (ते) तव। आत्मनः (वारये) निवारयामि (विषम्) विषरूपं पापम् ॥

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद् देवैर्विदितं पुरा । यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥ २ ॥

यत् । ब्रह्म-भिः । यत् । ऋषि-भिः । यत् । देवैः । विदितम् । पुरा । यत् । भूतम् । भव्यम् । आसन्-वत् । तेन । ते । वारये । विषम् ॥२॥

भाषार्थ—(यत्) जो [ज्ञान] (ब्रह्मभिः) वेद जानने वाले, ब्रह्मणों करके, (यत्) जो (ऋषिभिः) सन्मार्गदर्शक ऋषियों करके और (यत्) जो (देवैः) व्यवहार कुशल महात्माओं करके (पुरा) पूर्व काल में (विदितम्) जाना गया है। और (यत्) जो (भूतम्) भूत काल में और (भव्यम्) भविष्यत् काल में (आसन्वत्) व्याप्ति वाला है, (तेन) उसी से [हे जीव !] (ते) तेरे (विषम्) विष को (वारये) मैं हटाता हूं ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज महात्माओं के समान पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर अपने दोषों का नाश करके सुखी होवें ॥ २ ॥

मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु ।
मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥ ३ ॥

मध्वा । पृञ्चे । नद्यः । पर्वताः । गिरयः । मधु । मधु । परुष्णी । शीपाला । शम् । आस्ने । अस्तु । शम् । हृदे ॥३॥

भाषार्थ—(मध्वा) अमृत से [तुझ को] (पृञ्चे) मैं संयुक्त करता हूं। (नद्यः) नदियां, (पर्वताः) पर्वत और (गिरयः) छोटे पहाड़ (मधु)

२—(यत्) ज्ञानम् (ब्रह्मभिः) वेदज्ञैर्ब्राह्मणैः (ऋषिभिः) अ० २। ६। १। सन्मार्गदर्शकैः (देवैः) व्यवहारकुशलैः (विदितम्) परिज्ञातम् (पुरा) पूर्वकाले (भूतम्) अतीतकाले भवम् (भव्यम्) भविष्यत्कालीनम् (आसन्वत्) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति आस उपवेशने—कनिन्, मतुप् च । व्याप्तिमत् । अन्यद् गतम् । म० २ ॥

३—(मध्वा) अमृतेन (पृञ्चे) पृची सम्पर्के । संयोजयामि त्वाम् (नद्यः) (पर्वताः) (गिरयः) क्षुद्रशैलाः (मधु) अमृतम् (परुष्णी) अर्ति-

अमृत [होवें] । (परुष्णी) पालन सामर्थ्य वाली, (शीपाला) निद्रा लाने वाली ओषधि (मधु) अमृत [होवे], (आस्ने) तेरे मुख के लिये (शम्) शांति और (हृदे) हृदय के लिये (शम्) शान्ति (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब पदार्थों से विवेक पूर्वक उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १३ ॥

१-३ ॥ मृत्युर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

मृत्युप्रबलत्वोपदेशः ॥ मृत्यु की प्रबलता का उपदेश ॥

नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः ।
अथो ये विश्यानां वधास्तेभ्यो मृत्यो नमोऽस्तु ते ॥१॥

नमः । देव-वधेभ्यः । नमः । राज-वधेभ्यः । अथो इति । ये । विश्यानाम् । वधाः । तेभ्यः । मृत्यो इति । नमः । अस्तु । ते ॥१॥

भाषार्थ—(देववधेभ्यः) ब्राह्मणों के शस्त्रों को (नमः) नमस्कार और (राजवधेभ्यः) क्षत्रियों के शस्त्रों को (नमः) नमस्कार है । (अथो) और भी (ये) जो (विश्यानाम्) वैश्यों के (वधाः) शस्त्र हैं (तेभ्यः) उनको,

---

पृवपि० । उ० २ । ११७ । इति पृ पालनपूरणयोः—उसि । लोमादिपामादि० । पा० ५ । २ । १०० । इति परुष्—न मत्वर्थे । गौरादित्वाद् ङीष् । परुष्णी पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी—निरु० ९ । २६ । परुष्णीम् पालिकां नीतिम्—दयानन्दभाष्ये ऋ० ७ । १८ । ९ । पालनवती (शीपाला) शीङो धुक्लक्० । उ० ४ । ३८ । इति शीङ् शयने—वालन्, स च कित् वस्य पः, टाप् । शेते अनया । सुखदायिका यवाद्योषधिः (शम्) शान्तिः (आस्ने) पद्दन्नोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति आस्यस्य आसन् । आस्याय मुखाय (अस्तु) (हृदे) हृदयाय ॥

१—(नमः) नमस्कारः । सत्कारः (देववधेभ्यः) ब्राह्मणानां विद्यारूपशस्त्रेभ्यः (राजवधेभ्यः) क्षत्रियाणां हननसाधनेभ्यः शस्त्रेभ्यः (अथो) अपि च (ये) (विश्यानाम्) विश प्रवेशने—क्यप् । वैश्यानाम् (वधाः) धनरूपायु-

और (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तुझ को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्याबली, पराक्रमबली और धनबली भी मृत्यु के वश हैं। इस से सब धर्माचरण करते रहें ॥ १ ॥

नम॑स्ते अधिवा॒काय॑ परावा॒काय॑ ते॒ नमः॑ ।

सु॒म॒त्यै मृ॑त्यो ते॒ नमो॑ दुर्म॒त्यै त॑ इ॒दं नम॑: ॥ २ ॥

नम॑: । ते॒ । अ॒धि॒-वा॒काय॑ । प॒रा॒-वा॒काय॑ । ते॒ । नम॑: । सु॒म॒त्यै । मृ॒त्यो॒ इति॑ । ते॒ । नम॑: । दु॒:-म॒त्यै । ते॒ । इ॒दम् । नम॑: ॥२॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (अधिवाकाय) अनुग्रह वचन को (नमः) नमस्कार और (ते) तेरे (परावाकाय) पराजय वचन को (नमः) नमस्कार है। (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तेरी (सुमत्यै) सुमति को (नमः नमस्कार है और (ते) तेरी (दुर्मत्यै) दुर्मति को (इदम्) यह (नमः) नमस्कार है ॥२॥

भावार्थ—अनुग्रहकारी, पराजयकारी, सुमति वाले और दुर्मति वाले सब ही मृत्यु वश हैं। मनुष्यों को सदा धर्मात्मा रहना चाहिये ॥ २ ॥

नम॑स्ते यातु॒धाने॑भ्यो॒ नम॑स्ते भेष॒जेभ्य॑: ।

नम॑स्ते मृत्यो॒ मूले॑भ्यो ब्राह्म॒णेभ्य॑ इ॒दं नम॑: ॥ ३ ॥

नम॑: । ते॒ । या॒तु॒-धाने॑भ्यः । नम॑: । ते॒ । भे॒ष॒जेभ्य॑: । नम॑: । ते॒ । मृ॒त्यो॒ इति॑ । मूले॑भ्यः । ब्रा॒ह्म॒णेभ्य॑: । इ॒दम् । नम॑: ॥३॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (यातुधानेभ्यः) पीड़ाप्रद रोगों को (नमः) नम-

---

धानि (तेभ्यः) वधेभ्यः (मृत्यो) अ० १।३०।३। हे मरण (अस्तु) (ते) तुभ्यम् ॥

२—(नमः) सत्कारः (ते) तव (अधिवाकाय) वच परिभाषणे—घञ्, कुत्वम्। अनुग्रहवचनाय (परावाकाय) पराभववचनाय (सुमत्यै) शोभानायै बुद्ध्यै (मृत्यो) हे मरण ! (दुर्मत्यै) कठोरायै बुद्ध्यै (इदम्) क्रियमाणम् ॥

३—(नमः) नमस्कारः (ते) तव (यातुधानेभ्यः) अ० १।७।१।

स्कार और (ते) तेरे (भेषजेभ्यः) सुख देने वाले वैद्यों को (नमः) नमस्कार है। (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तेरे (मूलेभ्यः) कारणों को (नमः) नमस्कार और (ब्राह्मणेभ्यः) वेदवेत्ता विद्वानों को (इदम्) यह (नमः) नमस्कार है ॥ ३ ॥

भावार्थ—रोगी और वैद्य मृत्यु के वश हैं, तौ भी मनुष्य रोगों का निदान जानकर पुरुषार्थ करते रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १४ ॥

१-३ ॥ वैद्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशायोपदेशः ॥ रोग के नाश का उपदेश ॥

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम् ।
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥ १ ॥

अस्थि-स्रंसम् । परुः-स्रंसम् । आ-स्थितम् । हृदय-आमयम् ।
बलासम् । सर्वम् । नाशय । अङ्गे-स्थाः । यः । च । पर्व-सु ॥१॥

भाषार्थ—[हे वैद्य !] (अस्थिस्रंसम्) हड्डियां गला देने वाले, (परुस्रंसम्) जोड़ो के ढीला कर देने वाले (आस्थितम्) स्थिर (हृदयामयम्) हृदय रोग, अर्थात् (सर्वम्) सब (बलासम्) बल गिरा देने वाले क्षय रोग [खांसी, कफ आदि] को (नाशय) नाश करदे, (यः) जो (अङ्गेष्ठाः) अङ्ग अङ्ग में बैठा हुआ (च) और (पर्वसु) सब जोड़ों में है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य ओषधि द्वारा रोगों का नाश करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या द्वारा अविद्या का नाश करें ॥ १ ॥

पीडाप्रदेभ्यो रोगेभ्यः (भेषजेभ्यः) अ० १ । ४ । ४ । भेषं भयं जयतीति । भेषजं सुखनाम—निघ० ३ । ६ । सुखकरेभ्यो वैद्येभ्यः (मृत्यो) (मूलेभ्यः) मूल प्रतिष्ठायाम्—क । मूलं मोचनाद्वा मोषणाद्वा मोहनाद्वा—निरु० ६ । ३ कारणेभ्यः । निदानेभ्यः । (ब्राह्मणेभ्यः) वेदविद्भ्यः (इदम्) ॥

१—(अस्थिस्रंसम्) स्रंसु पतने—पचाद्यच । अस्थ्नां स्रंसः स्रंसनं पतनं यस्मात् तं रोगम् (परुस्रंसम्) परुषां पर्वणां शरीरसन्धीनां पतनं यस्मात् तम् (आस्थितम्) समन्तात् व्याप्य स्थितम् (हृदयामयम्) हृद्रोगम् (बलासम्) अ० ४ । ६ । ८ । बलस्य असितारं कासकफादिक्षयरोगम् (सर्वम्) निःशेषम् (नाशय) उन्मूलय (अङ्गेष्ठाः) अङ्ग+ष्ठा-विच् । हस्तपादाद्यङ्गेषु स्थितः (यः) (बलासः) (च) (पर्वसु) शरीरसन्धिषु वर्तते ॥

निर्ब॒लासं॑ बला॒सिन॑: क्षि॒णोमि मुष्क॒रं यथा ।
छि॒नद्म्य॑स्य॒ बन्ध॑नं॒ मूल॑मुर्वा॒र्वा इ॑व ॥ २ ॥

निः । ब॒लास॑म् । ब॒ला॒सिन॑: । क्षि॒णोमि । मु॒ष्क॒रम् । य॒था ।
छि॒नद्मि । अ॒स्य॒ । बन्ध॑नम् । मूल॑म् । उ॒र्वा॒र्वाः-इ॑व ॥ २ ॥

भाषार्थ—(बलासिनः) क्षय रोग वाले से (बलासम्) बल घटाने वाले क्षय रोग को (निः क्षिणोमि) उखाड़ कर नाश करता हूं (यथा) जैसे (मुष्करम्) कतरन को। (अस्य) इस रोग के (बन्धनम्) बन्धन को (छिनद्मि) काटे डालता हूं, (इव) जैसे (उर्वार्वाः) ककड़ी की (मूलम्) जड़ को ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य रोग का कारण समझ कर शीघ्र चिकित्सा करता है, वैसे ही विद्वान् अपने दोषों को समझ कर हटावे ॥ २ ॥

निर्बला॑से॒तः प्र प॑ता॒शुं॒गः शि॑शु॒को यथा ।
अथो॒ इट॑ इव हाय॒नोऽप॑ द्रा॒ह्य॒वीरहा ॥ ३ ॥

निः । ब॒ला॒स॒ । इ॒तः । प्र । प॒त॒ । आ॒शुं॒गः । शि॒शु॒कः । य॒था ।
अथो॒ इति॑ । इट॑:-इव । हा॒य॒नः । अप॑ । द्रा॒हि॒ । अ॒वीर॑-हा ॥ ३

भाषार्थ—(बलास) हे बल घटाने वाले क्षय रोग ! (इतः) यहां से (निः=निष्क्रम्य) निकल कर (प्रपत) चला जा, (यथा) जैसे (आशुंगः)

२—(निः) निःसार्य (बलासम्) म० १ । बलनाशकं क्षयादिरोगम् (बलासिनः) क्षयरोगिणः पुरुषात् (क्षिणोमि) नाशयामि (मुष्करम्) पुषः कित्। उ० ४ । ४। इति मुष छेदने—करन् । छिन्नभागम् (यथा) येन प्रकारेण (छिनद्मि) विश्लेषयामि (अस्य) रोगस्य (बन्धनम्) पीडनम् (मूलम्) (उर्वार्वाः) उरु+आर्वाः । णित् कशिपद्यर्तेः । उ० १ । ८५ । इति ऋ गतौ-ऊ प्रत्ययः । उरु विस्तीर्णम् ऋच्छतीति उर्वारूः तस्याः कर्कट्याः (इव) यथा ॥

३—(निः) निष्क्रम्य (बलास) हे बलनाशक क्षयरोग (इतः) अस्मात् स्थानात् (प्र) प्रकर्षेण (पत) दूरं गच्छ (आशुंगः) आशु+गमेः-खच्,

शीघ्रगामी (शिशुकः) छोटा बछड़ा । (अथो) और भी (अवीरहा) वीरों का न नाश करने वाला तू (अप=अपेत्य) हटकर (द्राहि) भाग जा, (इव) जैसे (हायनः) प्रति वर्ष होने वाला (इटः) घास ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को रोग और अज्ञान नाश करने में शीघ्रता करनी चाहिये, जिससे वीरों की सदा जय रहे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १५ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्तमगुणप्राप्त्युपदेशः—उत्तम गुणों की प्राप्ति का उपदेश ॥

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः ।
उपस्तिरस्तु सो३ऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥१॥

उत्-तमः । असि । ओषधीनाम् । तव । वृक्षाः । उप-स्तयः । उप-स्तिः । अस्तु । सः । अस्माकम् । यः । अस्मान् । अभि-दासति ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ओषधीनाम्) सब तापनाशक ओषधियों में तू (उत्तमः) उत्तम (असि) है, (वृक्षाः) सब स्वीकार करने योग्य गुण (तव) तेरे (उपस्तयः) उपासक [अधीन] हैं । (सः) वह पुरुष (अस्माकम्) हमारे (उपस्तिः) अधीन (अस्तु) होवे, (यः) जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सतावे ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्व शक्तिमान् परमेश्वर की भक्ति पूर्वक मनुष्य पुरुषार्थ करके अपने विघ्नों को मिटावें ॥ १ ॥

स च डित् । आशुगामी (शिशुकः) वत्सतरः (यथा) (अथो) अपि च (इटः) इट गतौ—क । घासः (इव) यथा (हायनः) हायन—अर्श आद्यच् । प्रतिवर्षभवः (अप) अपेत्य (द्राहि) द्रा कुत्सायां गतौ । पलायस्व (अवीरहा) वीराणाम् अहन्ता त्वम् ॥

१—(उत्तमः) सर्वोत्कृष्टः (असि) (ओषधीनाम्) अ० १ । ३० । ३ । तापनाशकानां पदार्थानाम् (तव) (वृक्षाः) वृञ् वरणे—क । वरणीयाः श्रेष्ठा गुणाः (उपस्तयः) अ० ३ । ५ । ६ । उपासकाः । वशीभूताः (उपस्तिः) उपासकः (अस्तु) (सः) शत्रुः (अस्माकम्) (यः) (अस्मान्) धार्मिकान् (अभिदासति) अ० ४ । १९ । ५ । अभितो हिनस्ति ॥

सबन्धुश्चासंबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

स-बन्धुः । च । असंबन्धुः । च । यः । अस्मान् । अभि-दासति ।
तेषाम् । सा । वृक्षाणाम्-इव । अहम् । भूयासम् । उत्-तमः ॥२॥

भाषार्थ—(यः) जो शत्रु समूह (सबन्धुः) बन्धुओं सहित (च च) और (असबन्धुः) बिना बन्धुओं के होकर (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सतावे । (वृक्षाणाम्) श्रेष्ठ पदार्थों में (सा इव) लक्ष्मी के समान, (अहम्) मैं (तेषाम्) उनके बीच (उत्तमः) उत्तम (भूयासम्) हो जाऊं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने सब प्रकार की उलझनें हटाकर विद्या सुवर्ण आदि उत्तम पदार्थ प्राप्त करें ॥ २ ॥

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः ।
तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

यथा । सोमः । ओषधीनाम् । उत्-तमः । हविषाम् । कृतः ।
तलाशा । वृक्षाणाम्-इव । अहम् । भूयासम् । उत्-तमः॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (सोमः) अमृत [अन्न वा सोम लता] (ओषधीनाम्) तापनाशक ओषधियों और (हविषाम्) ग्राह्य पदार्थों में (उत्तमः) उत्तम (कृतः) बनाया गया है । और (वृक्षाणाम् इव) जैसे उत्तम

२—(सबन्धुः) बन्धुभिः सहितः (च च) समुच्चये (असबन्धुः) समानबन्धुरहितः (यः) शत्रुसमूहः (अस्मान्) धार्मिकान् (अभिदासति) अ० ४ । १६ । ५ । अभितो हिनस्ति (तेषाम्) शत्रूणाम् (सा) स्यति दारिद्रयम् । षो अन्तकर्मणि ड, टाप् । लक्ष्मीः (वृक्षाणाम्) वरणीयानां पदार्थानाम् (इव) यथा (अहम्) (भूयासम्) (उत्तमः) श्रेष्ठः ॥

३—(यथा) येन प्रकारेण (सोमः) अमृतमन्नं सोमलता वा (ओषधीनाम्) तापनाशकपदार्थानाम् (उत्तमः) श्रेष्ठः (हविषाम्) ग्राह्यवस्तूनाम (कृतः) निर्मितः (तलाशा) तलमाधारम् अश्नुते । तल+अशू व्याप्तौ—अच,

पदार्थों में (तलाशा) आश्रय प्राप्त करने वाली लक्ष्मी है, [वैसे ही] (अहम्) मैं (उत्तमः) उत्तम (भूयासम्) हो जाऊं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न, सुवर्ण आदि पदार्थ प्राप्त करके उत्तम होवें ॥३॥

सूक्तम् ॥ १९ ॥

१-४ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १,४ गायत्री; २ अनुष्टुप्; ३ उष्णिक् ॥

ब्रह्मगुणोपदेशः ॥ ब्रह्म के गुणों का उपदेश ॥

आवयो अनावयो रसस्त उग्र आवयो ।
आ ते करम्भमद्मसि ॥ १ ॥

आवयो इति । अनावयो इति । रसः । ते । उग्रः । आवयो इति । आ । ते । करम्भम् । अद्मसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आवयो) हे चारो ओर गति वाले ! (अनावयो) हे बिना गति वाले ! (आवयो) हे चारो ओर कान्ति वाले ईश्वर ! (ते) तेरा (रसः) रस [आनन्द] (उग्रः) नित्य सम्बन्ध वाला है । हम (ते) तेरे (करम्भम्) सत्तु [अन्न] (आ) भले प्रकार (अद्मसि) खाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में श्रद्धा पूर्वक अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके भोगें ॥ १ ॥

टाप् । आधारव्यापयित्री लक्ष्मीः (वृत्ताणाम्) वरणीयानां मध्ये (अहम्) (भूयासम्) (उत्तमः) ॥

१—(आवयो) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति आङ्+वी गतिव्याप्ति-प्रजनकान्त्यसनखादनेषु—उ । वस्य बः । हे समन्ताद् गतिशील (अनावयो) वी—उ । हे गतिशून्य (रसः) आनन्दः (ते) तव (उग्रः) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । इति उच समवाये—रन् । समवेतः । नित्यसम्बद्धः (आवयो) हे समन्तात् प्रकाशमान (आ) सम्यक् (ते) तव (करम्भम्) अ० ७ । ४ । २ । सक्तून् । अन्नम् (अद्मसि) अद्मः । खादामः ॥

विहह्लो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता ।
स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥
वि-हह्लः । नाम । ते । पिता । मद-वती । नाम । ते । माता ।
सः । हिन । त्वम् । असि । यः । त्वम् । आत्मानम् । आवयः ॥२॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ते) तेरा (पिता) पालन करने वाला गुण (विहह्लः) विशेष कपाने वाला [आश्चर्यजनक] (नाम) प्रसिद्ध है, और (ते) तेरी (माता) निर्माण शक्ति (मदवती) हर्ष युक्त (नाम) प्रसिद्ध है (सः) वह (हिन=हि) ही (त्वम्) तू (असि) है, (यः) जिस (त्वम्) तू ने (आत्मानम्) हमारे आत्मा की (आवयः) रक्षा की है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा में वर्तमान रह कर सदा आत्म-रक्षा करें ॥ २ ॥

तौविलिकेऽवेलयावायमैलब ऐलयीत् ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥
तौविलिके । अव । ईलय । अव । अयम् । ऐलबः । ऐलयीत् ।
बभ्रुः । च । बभ्रु-कर्णः । च । अप । इहि । निः । आल ॥३॥

भाषार्थ—(तौविलिके) वृद्धि से जीतने वाले व्यवहार में [हमें] (अव) अवश्य (ईलय=ईरय) आगे बढ़ा । (अयम्) इस (ऐलबः) पृथवी

२—(विहह्लः) वि+ह्वल चलने—अच् । छान्दसं रूपम् । विशेष-कम्पकः (नाम) प्रसिद्धौ (ते) तव (पिता) पालको गुणः (मदावती) सांहितिको दीर्घः । हर्षवती (माता) अ० ५ । ५ । १ । निर्माणशक्तिः (सः) प्रसिद्धः (हिन) नकारश्छान्दसः । हि । खलु (त्वम्) (असि) (यः) (आत्मानम्) आत्मबलम् (आवयः) अव रक्षणे—लङ्, चुरादित्वं छान्दसम् । आवः । रक्षितवानसि ॥

३—(तौविलके) गुपादिभ्यः कित् । उ० १ । ५६ । इति तु गति वृद्धिहिंसासु—इलच् । तेन दीव्यतिखनतिजयतिजितम् । पा० ४ । ४ । २ । इति

के पदार्थों में व्यापक तू ने [ऋषियों को] (अव) अवश्य (ऐलयीत्=०-यीः) आगे बढ़ाया है। (आल) हे समर्थ परमेश्वर ! (बभ्रुः) पोषण करने वाला (च च) और (बभ्रुकर्णः) पोषक मनुष्यों का पतवार रूप तू (निः) नित्य (अप) आनन्द से (इहि) प्राप्त हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्व ऋषियों के समान परमेश्वर का सहारा लेकर सदा वृद्धि करें ॥ ३ ॥

अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा ।
नीलागलसाला ॥ ४ ॥

अलसाला । असि । पूर्वा । सिलाञ्जाला । असि । उत्तरा ।
नीलागलसाला ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (अलसाला) आलसियों को रोकने वाली (पूर्वा) प्रधान शक्ति (असि) है, और तू (सिलाञ्जाला) कण कण

जयत्यर्थे ठक्, अजादित्वाट्टाप्। तुविलेनवृद्ध्या जयशीले व्यवहारे (अव) अवश्यम् (ईलय) ईर क्षेपे, रस्य लः। अस्मान् प्रेरय (अव) निश्चयेन (अयम्) सर्वव्यापकः (ऐलबः) इला पृथिवी—निघ० १। १। इला-अण्+वा गतिगन्धनयोः-क। इलायाः पृथिव्या इमे पदार्थास्तान् वाति गच्छति स परमेश्वरः (ऐलयीत्) ईल प्रेरणे-णिचि लुङ्, मध्यमपुरुषस्य प्रथमः। नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः। पा० ३। १। ५१। इति च्लेश्चङो निषेधः। ऐलयीः। त्वं प्रेरितवानसि ऋषीन् (बभ्रुः) कुर्भ्रश्च। उ० १। २२। इति भृञ्-कु। पोषकः (च च) समुच्चये (बभ्रुकर्णः) कृवृजॄ०। उ० ३। १०। कॄ विक्षेपे-न। बभ्रूणां पोषकाणां कर्णः अरित्रमिव पारकः (अप) आनन्दे (इहि) गच्छ (निः) निश्चयेन (आल) अल भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणेषु-घञ्। हे शक्त, समर्थ ॥

४—(अलसाला) अलस+अला। न लसतीति, लस दीप्तौ-अच्+अल वारणे—अच्, टाप्। अलसान् क्रियामन्दान् वारयतीति सा (असि) (पूर्वा) प्रधाना शक्तिः (सिलाञ्जाला) षिल कणश आदाने—क। पतिचण्डिभ्यामालञ्। उ० १। ११७। इति सिल+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—आलञ्। सिलान् कणान् कणान् अनक्ति प्रकटयतीति सा (उत्तरा) उत्कृष्टतरा शक्तिः (नीलागलसाला) नील+आगल+साला। नि+इल गतौ-क। डलयोरैक्यम्। ऋदो-

को प्रकट करने वाली और (नीलागलसाला) सब लोकों के घर [ब्रह्माण्ड में] व्यापक (उत्तरा) अति उत्तम शक्ति (असि) है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी परमेश्वर की महिमा को विचारते हुये मनुष्य सदा पुरुषार्थी होवें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १७ ॥

१-३ ॥ पृथिवी देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गर्भाधानविषयोपदेशः—गर्भाधान का उपदेश ॥

यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही भू॒ताना॒ं गर्भ॑माद॒धे ।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतु॒ सवि॑तवे ॥ १ ॥

यथा॑ । इ॒यम् । पृ॒थि॒वी । म॒ही । भू॒ताना॑म् । गर्भ॑म् । आ॒-द॒धे । ए॒व । ते॒ । ध्रि॒यता॑म् । गर्भः॑ । अनु॑ । सूतु॑म् । सवि॑तवे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (भूतानाम्) पञ्च महाभूतों के (गर्भम्) गर्भ को (आदधे) यथावत् धारण किया है, (एव) वैसे ही (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (सूतुम्) संतान को (अनु) अनुकूलता से (सवितवे) उत्पन्न करने के लिये (ध्रियताम्) स्थिर होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे पृथिवी बीज को अपने में धारण करके अनुकूल समय पर उत्पन्न करती है, वैसे ही प्रयत्न किया जावे कि संतान गर्भ से पूरे दिनों में उत्पन्न होकर बली और पराक्रमी होवे, ऐसा ही भावार्थ आगे समझो ॥ १ ॥
यह सूक्त स्वामी दयानन्द कृत संस्कारविधि में गर्भाधान प्रकरण में आया है ।

रप् । पा० ३ । ३ । ७७ । इति आङ्+गॄ निगरणे-अप्, रस्य लः । पल गतौ-घञ्, टाप् । नीलानां नीडानां निवासस्थानां लोकानाम् आगले आगरे आगारे गृहे ब्रह्माण्डे व्यापिका ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (इयम्) परिदृश्यमाना (पृथिवी) (मही) विशाला (भूतानाम्) पृथिव्यादिपञ्चभूतानाम् (गर्भम्) अ० ३ । १० । १२ । स्तुत्यं बालकम् (आदधे) सम्यम् धृतवती (एव) एवम् (ते) तव (ध्रियताम्) गर्भाशये धृतः स्थिरो भवतु (गर्भः) (अनु) आनुकूल्येन (सूतुम्) पः कित्च । उ० १ । ७१ । इति षूङ् प्राणिगर्भविमोचने—तुन् कित् । सूनुं संतानम् (सवितवे) षूङ्—तुमर्थे तवे प्रत्ययः । प्रसवितुं प्रजनयितुम् ॥

यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही दा॒धारे॒मान् वन॒स्पती॑न् ।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे ॥ २ ॥
यथा॑ । इ॒यम् । पृ॒थि॒वी । म॒ही । दा॒धार॑ । इ॒मान् । व॒न॒स्पती॑न् ।
ए॒व । ते॒ । ध्रि॒य॒ता॒म् । गर्भः॑ । अनु॑ । सूतु॑म् । सवि॑तवे ॥२॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (इमान्) इन (वनस्पतीन्) सेवा करने वालों के रक्षक, वृक्ष आदि को (दाधार) धारण किया है (एव) वैसे ही (ते) तेरा......म० १ ॥२॥

यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही दा॒धार॒ पर्व॑तान् गि॒रीन् ।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे ॥ ३ ॥
यथा॑ । इ॒यम् । पृ॒थि॒वी । म॒ही । दा॒धार॑ । पर्व॑तान् । गि॒रीन् ।
ए॒व । ते । ध्रि॒य॒ता॒म् । गर्भः॑ । अनु॑ । सूतु॑म् । सवि॑तवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी ने (पर्वतान्) पहाड़ों और (गिरीन्) पहाड़ियों को (दाधार) धारण किया है (एव) वैसे ही (ते) तेरा......म० १ ॥ ३ ॥

यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही दा॒धार॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त् ।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे ॥ ४ ॥
यथा॑ । इ॒यम् । पृ॒थि॒वी । म॒ही । दा॒धार॑ । वि-स्थि॑तम् । जग॑त् ।
ए॒व । ते॒ । ध्रि॒य॒ता॒म् । गर्भः॑ । अनु॑ । सूतु॑म् । सवि॑तवे ॥४॥

२—(दाधार) धृतवती (इमान्) परिदृश्यमानान् (वनस्पतीन्) अ० १ । १२ । ३ । सेवकानां रक्षकान् वृक्षान् ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(पर्वतान्) महाशैलान् (गिरीन्) क्षुद्रशिलोच्चयान् । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (विष्ठितम्) विविध प्रकार से स्थित (जगत्) जगत को (दाधार) धारण किया है। (एव) वैसे ही (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (सूतुम्) संतान को (अनु) अनुकूलता से (सवितवे) उत्पन्न करने के लिये (ध्रियताम्) धारण किया जावे ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १८ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ईर्ष्यानिवारणायोपदेशः ॥ ईर्ष्या के निवारण का उपदेश ॥

ई॒र्ष्याया॑ ध्राजिं॑ प्रथ॒मां प्र॑थ॒मस्या॑ उ॒ताप॑राम् ।
अ॒ग्निं हृ॑द॒य्यं॒ शोकं॒ तं ते॒ निर्वा॑पयामसि ॥ १ ॥

ई॒र्ष्यायाः॑ । ध्राजि॑म् । प्र॒थ॒माम् । प्र॒थ॒मस्याः॑ । उ॒त । अप॑राम् ।
अ॒ग्निम् । हृ॒द॒य्य॑म् । शोक॑म् । तम् । ते॒ । निः । वा॒प॒या॒म॒सि॒ ॥ १

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरी (ईर्ष्यायाः) डाह की (प्रथमाम्) पहिली (ध्राजिम्) गति को (उत) और (प्रथमस्याः) पहिली गति की (अपराम्) दूसरी गति को, (हृदय्यम्) हृदय में भरी (तम्) सताने वाली (अग्निम्) अग्नि और (शोकम्) शोक को (निः) सर्वथा (वापयामसि) हम नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य दूसरों की वृद्धि देखकर कभी दाह न करें किन्तु दूसरे की उन्नति में अपनी उन्नति जानें ॥ १ ॥

४—(विष्ठितम्) विविधं स्थितम् (जगत्) चराचरात्मकं संसारम् । अन्यद् गतम् ॥

१—(ईर्ष्यायाः) ईर्ष्य ईर्ष्यायाम्-अ । परसम्पत्त्यसहनस्य मत्सरस्य (ध्राजिम्) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति ध्रज गतौ—इञ् । गतिम् (प्रथमाम्) आद्याम् (प्रथमस्याः) प्रथमभाविन्या गतेः (उत) अपि च (अपराम्) अनन्तरां गतिम् (अग्निम्) संतापम् (हृदय्यम्) शरीरावयवाद्द् यत् । पा० ४ । ३ । ५५ । इति हृदय—यत् । हृदये भवम् (शोकम्) खेदम् (तम) तर्द-ड । तर्दकं हिंसकम् (ते) तव (निः) नितराम् (वापयामसि) टुवप बीजसंताने छेदने च । वापयामः शमयामः ॥

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा ।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥ २ ॥

यथा । भूमिः । मृत-मनाः । मृतात् । मृतमनः-तरा । यथा । उत । मम्रुषः । मनः । एव । ईर्ष्योः । मृतम् । मनः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (भूमिः) भूमि (मृतमनाः) मरे मन वाली [ऊसर] होकर (मृतात्) मरे से भी (मृतमनस्तरा) अधिक मरे मन वाली है। (उत) और (यथा) जैसे (मम्रुषः) मरे हुये मनुष्य का (मनः) मन है (एव) वैसे ही (ईर्ष्योः) डाह करने वाले का (मनः) मन (मृतम्) मरा होता है ॥ २ ॥

भावार्थ— जैसे भूमि ऊसर हो जाने से उपजाऊ नहीं रहती और जैसे मृतक प्राणी का मन कुछ नहीं कर सकता, वैसे ही डाह करने वाला जल भुन कर उद्योग हीन हो जाता है ॥ २ ॥

अदो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् ।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥ ३ ॥

अदः । यत् । ते । हृदि । श्रितम् । मनः-कम् । पतयिष्णुकम् । ततः । ते । ईर्ष्याम् । मुञ्चामि । निः । ऊष्माणम् । दृतेः-इव ॥३॥

भाषार्थ—(अदः) वह (यत्) जो (ते) तेरे (हृदि) हृदय में (श्रितम्) रक्खा हुआ (पतयिष्णुकम्) धड़कता हुआ (मनस्कम्) छोटा मन है

२—(यथा) येन प्रकारेण (भूमिः) सर्वप्राणिभिरधिष्ठिता पृथिवी (मृतमनाः) उत्पादनशक्तिहीना । ऊषरा (मृतात्) त्यक्तप्राणात् । मृतकात् (मृतमनस्तरा) अधिकमृतमनाः (उत) अपि च (मम्रुषः) मृङ् प्राणत्यागे-क्वसु । मृतवतः पुरुषस्य (मनः) मनोबलम् (एव) एवमेव (ईर्ष्योः) भृमृशीङ्० । उ० १ । ६ । इति ईर्ष्य-उ । ईर्ष्यायुक्तस्य पुरुषस्य (मृतम्) विनष्टं भवति (मनः) ॥

३—(अदः) तत् प्रसिद्धम् (यत्) (ते) तव (हृदि) हृदये (श्रितम्) स्थितम् (मनस्कम्) अल्पान्तःकरणम् (पतयिष्णुकम्) णेश्छन्दसि । पा०

(ततः) उससे (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (निर्मुञ्चामि) बाहिर निकालता हूं, (इव) जैसे (दृतेः) धौंकनी से (ऊष्माणम्) श्वास को ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य कभी किसी से ईर्ष्या द्वेष न करे क्योंकि उससे मन गिर जाता है, किन्तु पुरुषार्थ से अपनी उन्नति करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १८ ॥

१-३ ॥ पवमानो देवता ॥ १ अनुष्टुप् २, ३ गायत्री ॥

पवित्राचरणायोपदेशः—पवित्र आचरण के लिये उपदेश ॥

पुनन्तु मा देवजुनाः पुनन्तु मनवो धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ १ ॥

पुनन्तु । मा । देव-जनाः । पुनन्तु । मनवः । धिया । पुनन्तु । विश्वा । भूतानि । पवमानः । पुनातु । मा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवजनाः) विजय चाहने वाले वा व्यवहार कुशल पुरुष (मा) मुझे (धिया) कर्म वा बुद्धि से (पुनन्तु) शुद्ध करें, (मनवः) मननशील विद्वान् लोग (पुनन्तु) शुद्ध करें । (विश्वा) सब (भूतानि) प्राणीमात्र (मा) मुझे (पुनन्तु) शुद्ध करें, (पवमानः) पवित्र परमात्मा (पुनातु) शुद्ध करे ॥ १ ॥

भावार्थ—माता पिता और आचार्य आदि विद्वान् पुरुष संतानों को परमेश्वर के ज्ञान सहित ब्रह्मचर्य और सुशिक्षा से धार्मिक सुशील बनावें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ९ सू० ६७ म० २७ और यजु० अ० १९ म० ३९ ॥

---

३ । २ । १३७ । इति पत गतौ–इष्णुच्, कन् च । इतस्ततः पतनशीलम् (ततः) तस्माद् मनसः (ते) तव (ईर्ष्याम्) म० १ । मत्सरम् (मुञ्चामि) मोचयामि (निः) बहिर्भावे (ऊष्माणम्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति उष दाहे–मनिन्, छान्दसो दीर्घः । वाष्पम् । अन्तः पूरितं वायुम् , (दृतेः) दृणातेर्ह्रस्वः । उ० ४ । १८४ । इति दृ विदारणे–ति । चर्ममयात् पात्रात् । भस्त्रायाः सकाशात् (इव) यथा ॥

१—(पुनन्तु) शोधयन्तु (मा) मां संतानम् (देवजनाः) विजिगीषवो व्यवहारिणो वा मनुष्याः (मनवः) शॄस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । इति मन ज्ञाने—उ । मननशीला विद्वांसः (धिया) कर्मणा—निघ २ । १ । प्रज्ञया—निघ० ३ । ९ । (विश्वा) सर्वाणि (भूतानि) प्राणिजातानि (पवमानः) अ० ३ । ३१ । २ । पवित्रः परमेश्वरः (पुनातु) शोधयतु (मा) माम् ॥

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
अथो अरिष्टतातये ॥ २ ॥

पवमानः । पुनातु । मा । क्रत्वे । दक्षाय । जीवसे । अथो इति । अरिष्ट-तातये ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पवमानः) पवित्र परमेश्वर (मा) मुझे (क्रत्वे) उत्तम कर्म वा बुद्धि के लिये, (दक्षाय) बल के लिये, (जीवसे) जीवन के लिये (अथो) और भी (अरिष्टतातये) कल्याण करने के लिये (पुनातु) शुद्ध आचरण वाला करे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा विज्ञान प्राप्त करके बुद्धि, बल और कीर्ति बढ़ा कर आप सुखी रहें और सब को सुखी रक्खें ॥ २ ॥

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च ।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥ ३ ॥

उभाभ्याम् । देव । सवितः । पवित्रेण । सवेन । च । अस्मान् । पुनीहि । चक्षसे । ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देव) हे दानशील (सवितः) सत्य कर्मों में प्रेरक जगदीश्वर ! (उभाभ्याम्) दोनों अर्थात् (पवित्रेण) शुद्ध आचरण से (च) और (सवेन) ऐश्वर्य से (अस्मान्) हमें (चक्षसे) देखने के लिये (पुनीहि) पवित्र कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर शुद्ध आचरण से ऐश्वर्य बढ़ा कर संसार के पदार्थों को विज्ञान पूर्वक साक्षात् करें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—९ । ६७ । २५ । और यजु० १९ । ४३ ॥

२—(पवमानः) पवित्रः परमेश्वरः (पुनातु) शुद्धाचारिणं करोतु (मा) माम् (क्रत्वे) अ० ४ । ३१ । ६ । उत्तमकर्मणे प्रज्ञायै वा (दक्षाय) अ० २ । २९ । ३ । प्रवृद्धाय बलाय (जीवसे) तुमर्थे सेसेन० । पा० ३ । ४ । ९ । इति जीव प्राणधारणे-असे । जीवनार्थम् (अथो) अपि च (अरिष्टतातये) अ० ३ । ५ । ५ । क्षेमकरणाय ॥

३—(उभाभ्याम्) द्वाभ्याम् (देव) हे दातः (सवितः) सत्यकर्मसु प्रेरकेश्वर (पवित्रेण) शुद्धाचरणेन (सवनेन) ऐश्वर्येण (च) (अस्मान्) धार्मिकान् (पुनीहि) शोधय (चक्षसे) अ० १ । ५ । १ । दर्शनाय ॥

सूक्तम् ॥ २० ॥

१-३ ॥ तक्मा देवता ॥ १ जगती; २ पङ्क्तिः; ३ विराट् पङ्क्तिः ॥

रोगनाशायोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिणं उतेवं मत्तो विलपन्नपायति। अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने ॥ १ ॥

अग्नेः-इव । अस्य । दहतः । एति । शुष्मिणः । उत-इव । मत्तः । वि-लपन् । अप । अयति । अन्यम् । अस्मत् । इच्छतु । कम् । चित् । अव्रतः । तपुः-वधाय । नमः । अस्तु । तक्मने ॥१

भाषार्थ—वह [ज्वर] (दहतः) दहकती हुई, (शुष्मिणः) बलवान् (अस्य) इस (अग्नेः) अग्नि के [ताप के] (इव) समान (एति) व्यापता है, (उत) और (मत्तः इव) उन्मत्त के समान (विलपन्) विलपता हुआ (अप अयति) भाग जाता है। (अस्मत्) हम से (अन्यम्) दूसरे (कम् चित्) किसी [कुनयमी] को (अव्रतः) वह व्रतहीन (इच्छतु) ढूंढ लेवे, (तपुर्वधाय) तपते हुये अस्त्र रखने वाले (तक्मने) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जहां पर उत्तम वैद्य होते हैं और मनुष्य उचित आहार विहार करते हैं वहां ज्वरादि रोग नहीं होते ॥ १ ॥

१—(अग्नेः) पावकस्य ताप इति शेषः (इव) यथा (अस्य) प्रसिद्धस्य (दहतः) दाहकस्य (एति) व्याप्नोति (शुष्मिणः) शोषकबलयुक्तस्य (उत) अपि च (इव) यथा (मत्तः) उन्मत्तः। आत्मविस्मारकः (विलपन्) विविधं प्रलापं कुर्वन् (अप अयति) दूरं गच्छति (अन्यम्) व्रतहीनम् (अस्मत्) अस्मत्तः। व्रतधारकेभ्यः (इच्छतु) अन्विच्छतु (कम् चित्) कमपि पुरुषम् (अव्रतः) भ्रष्टनियमः (तपुर्वधाय) तापायुधाय (नमः) नमस्कारः (अस्तु) (तक्मने) अ० १ । २५ । १ । कृच्छ्रजीवनकारिणे ज्वराय ॥

नमो रुद्राय नमो अस्तु तक्मने नमो राज्ञे वरुणाय त्विषीमते । नमो दिवे नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः ॥२॥

नमः । रुद्राय । नमः । अस्तु । तक्मने । नमः । राज्ञे । वरुणाय । त्विषि-मते । नमः । दिवे । नमः । पृथिव्यै । नमः । ओषधीभ्यः २

भाषार्थ—(रुद्राय) दुःख नाशक वैद्य को (नमः) नमस्कार, (तक्मने) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (त्विषिमते) प्रकाशमान, (राज्ञे) सब के राजा, (वरुणाय) श्रेष्ठ परमेश्वर को (नमः) नमस्कार हो । (दिवे) प्रकाशमान सूर्य को (नमः) नमस्कार, (पृथिव्यै) फैली हुयी पृथिवी को (नमः) नमस्कार, और (ओषधीभ्यः) ताप नाशक अन्न आदि पदार्थों को (नमः) नमस्कार हो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्पुरुषों के मेल, ईश्वर विचार और सांसारिक पदार्थों के नियमों के साक्षात् करने से स्वस्थ रहें ॥ २ ॥

अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि । तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय तक्मने ॥३॥

अयम् । यः । अभि-शोचयिष्णुः । विश्वा । रूपाणि । हरिता । कृणोषि । तस्मै । ते । अरुणाय । बभ्रवे । नमः । कृणोमि । वन्याय । तक्मने ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (यः) जो (अभिशोचयिष्णुः) बहुत ही शोक में डालने वाला तू (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों को (हरिता) हरे वा पीले

२—(नमः) नमस्कारः (रुद्राय) अ० २ । २७ । ६ । दुःखनाशकाय वैद्याय (अस्तु) (तक्मने) म० १ । ज्वराय (राज्ञे) सर्वशासकाय (वरुणाय) वरणीयाय परमेश्वराय (त्विषिमते) अ० ४ । १९ । २ । दीप्तियुक्ताय (दिवे) प्रकाशमानाय सूर्याय (पृथिव्यै) विस्तृतायै भूम्यै (ओषधीभ्यः) तापनाशिकाभ्यो व्रीह्यादिभ्यः ॥

३—(अयम्) निर्दिष्टः (यः) तक्मा (अभिशोचयिष्णुः) णेश्छन्दसि । पा० ३ । २ । १३७ । इति शुच शोके-इष्णुच् । सर्वतः शोकमुत्पादयन् (विश्वा)

(कृणोषि) कर देता है। (तस्मै) उस (ते) तुझ (अरुणाय) रक्त, (बभ्रवे) भूरे और (वन्याय) बनैले (तक्मने) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नमः) नमस्कार (कृणोमि) करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सावधान रहकर रुधिर विकार आदि से उत्पन्न दुष्ट ज्वर आदि रोगों से बचकर सदा हृष्ट पुष्ट रहें ॥ ३ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ २१ ॥

१-३ ॥ ब्रह्म देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मगुणोपदेशः—ब्रह्म के गुणों का उपदेश ॥

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ १ ॥

इमाः । याः । तिस्रः । पृथिवीः । तासाम् । ह । भूमिः । उत्-तमा । तासाम् । अधि । त्वचः । अहम् । भेषजम् । सम् । ऊं इति । जग्रभम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इमाः) यह (याः) जो (तिस्रः) तीन [सूर्य, पृथिवी और अन्तरिक्ष] (पृथिवीः) विस्तृत लोक हैं, (तासाम्) उन में (ह) निश्चय

सर्वाणि (रूपाणि) सौन्दर्याणि (हरिता) हञ् हरणे—इतच् । रक्तदूषणेन-नीलपीतमिश्रितवर्णानि हरिद्रावर्णानि वा (कृणोषि) करोषि (तस्मै) तादृशाय (ते) तुभ्यम् (अरुणाय) रक्तवर्णाय (बभ्रवे) पिङ्गलवर्णाय (नमः) नमस्कारम् (कृणोमि) करोमि (वन्याय) वने भवाय (तक्मने) म० १ । कृच्छ्र-जीवनकारिणे ज्वराय ॥

१—(इमाः) दृश्यमानाः (याः) (तिस्रः) त्रिसंख्याका द्यावापृथिव्यन्तरिक्षरूपाः (पृथिवीः) पृथिव्यः । विस्तृता लोकाः (तासाम्) लोकानां मध्ये (ह) खलु (भूमिः) भुवः कित् । उ० ४ । ४५ । इति भू सत्तायाम्—मि ।

करके (भूमिः) भूमि,सब का आधार परमेश्वर (उत्तमा) उत्तम है। (तासाम्) उन [लोकों] के (त्वचः अधि) विस्तार से ऊपर (भेषजम्) भयनाशक ब्रह्म को (उ) अवश्य (अहम्) मैंने (सम् जग्रभम्) यथावत् ग्रहण किया ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के रचे लोक लोकान्तरों के सम्बन्ध और गुणों को जान कर परस्पर उपकार करें ॥ १ ॥

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् ।
सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥ २ ॥

श्रेष्ठम् । असि । भेषजानाम् । वसिष्ठम् । वीरुधानाम् । सोमः । भगःऽइव । यामेषु । देवेषु । वरुणः । यथा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हे ब्रह्म !) तू (भेषजानाम्) भयनाशक पदार्थों में (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ और (वीरुधानाम्) विविध प्रकार से उगती हुई प्रजाओं के बीच (वसिष्ठम्) अत्यन्त धन वाला वा बसने वाला (असि) है, (इव) जैसे (भगः) ऐश्वर्यवान् (सोमः) चन्द्रमा (यामेषु) चलने वाले तारात्रों के बीच, और (यथा) जैसे (वरुणः) सूर्य (देवेषु) प्रकाशमान पदार्थों में है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वश्रेष्ठ परमात्मा का आश्रय लेकर सदा पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

भवन्ति सर्वे लोका यस्यां सा। परमेश्वरः (उत्तमा) श्रेष्ठा (अधि) उपरि (त्वचः) तनोतेरनश्च वः । उ० २ । ६३ । इति तनु विस्तारे-चिक् । विस्तारात् (अहम्) ब्रह्मज्ञानी (भेषजम्) भेषस्य भयस्य जेतृ ब्रह्म (सम्) सम्यक् (उ) अवश्यम् (जग्रभम्) ग्रहः स्वार्थण्यन्तात् लुङि चङि छान्दसं रूपम् । गृहीतवानस्मि ॥

२—(श्रेष्ठम्) प्रशस्यतमम् (असि) (भेषजानाम्) भयनाशकानां पदार्थानां मध्ये (वसिष्ठम्) अ० ४ । २६ । ३ । वसुमत्तमम् । अतिशयेन धनयुक्तम् । वस्तृतमम् (वीरुधानाम्) अ० १ । ३२ । १ । वि+रुह प्रादुर्भावे-क्विप्, टाप् । विरोहणशीलानां प्रजानां मध्ये (सोमः) चन्द्रमाः (भगः) भगवान् । ऐश्वर्यवान् (इव) यथा (यामेषु) या गतौ-मन् । गन्तृषु नक्षत्रेषु (देवेषु) प्रकाशमानेषु पदार्थेषु (वरुणः) अन्धकारनिवारकः सूर्यः ॥

रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ ।
उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥ ३ ॥
रेवतीः । अनाधृषः । सिसासवः । सिसासथ । उत । स्थ ।
केश-दृंहणीः । अथो इति । ह । केश-वर्धनीः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रेवतीः) हे धन वाली ! (अनाधृषः) कभी हिंसा न करने वाली ! (सिषासवः) हे दान करने वा सेवा करने की इच्छा वाली प्रजाओ ! तुम (सिषासथ=०-सत) सेवा करने की इच्छा करो । तुम (उत) अत्यन्त (केशदृंहणीः) प्रकाश दृढ़ करने वाली (अथो ह) और भी (केश-वर्धनीः) प्रकाश बढ़ाने वाली (स्थ) हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या धन और सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके प्रीति पूर्वक ईश्वर भक्ति करते हुये दृढ़ता से विद्या का प्रकाश बढ़ावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २२ ॥

१-३ ॥ मरुतो देवताः ॥ १, ३ त्रिष्टुप्, २ जगती ॥

वृष्टिविद्योपदेशः—वृष्टि विद्या का उपदेश ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति । त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥ १ ॥

३—(रेवतीः) अ० ३ । ४ । ७ । रेवत्यः । रयिमत्यः । विद्यासुवर्णादिधनयुक्ताः (अनाधृषः) धृष हिंसाक्रोधाभिभवेषु—क्विप् । सर्वतोऽहिंसिकाः (सिषासवः) षणु दाने वा षण सम्भक्तौ-सनि-उप्रत्ययः । सनीवन्तर्धभ्रस्ज० । पा० ७ । २ । ४९ । इति इटो विकल्पनाद् अभावपक्षे जनसनखनां । पा० । ६ । ४ । ४२ । इत्यात्वम् । सनितुं दातुं सेवितुं वेच्छवः (सिषासथ) लोडर्थे लट् । सेवितुमिच्छत (उत) अप्यर्थे (स्थ) भवथ (केशदृंहणीः) केश+दृहि वृद्धौ-ल्युट्, ङीप् । केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा-निरु० १२ । २५ । प्रकाशस्य दृढ़कारिण्यः (अथो) अपि च (ह) खलु (केशवर्धनीः) प्रकाशस्य वर्धयित्र्यः ॥

कृष्णम् । नि-यानम् । हरयः । सु-पर्णाः । अपः । वसानाः । दिवम् । उत् । पतन्ति । ते । आ । अववृत्रन् । सदनात् । ऋतस्य । आत् । इत् । घृतेन । पृथिवीम् । वि । ऊदुः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हरयः) रस खींचने वाली, (सुपर्णाः) अच्छा उड़ने वाली किरणें (अपः) जल को (वसानाः) ओढ़ कर (कृष्णम्) खींचने वाले (नियानम्) नित्य गमन स्थान अन्तरिक्ष में होकर (दिवम्) प्रकाशमय सूर्य मण्डल को (उत् पतन्ति) चढ़ जाती हैं। (ते) वे (इत्) ही (आत्) फिर (ऋतस्य) जल के (सदनात्) घर [सूर्य] से (आ अववृत्रन्) लौट आती हैं, और उन्हों ने (घृतेन) जल से (पृथिवीम्) पृथिवी को (वि) विविध प्रकार से (ऊदुः) सींच दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य की किरणें पवन द्वारा भूमि से जल को खींच कर और फिर बरसा कर उपकार करती हैं, वैसे ही मनुष्य विद्या प्राप्त करके संसार का उपकार करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है–म० १ सू० १६४ । म० ४७ और निरु० ७ । २४ । में भी ॥

पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः । ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु ॥ २ ॥

१—(कृष्णम्) आकर्षकम् (नियानम्) नित्यगमनस्थानम् अन्तरिक्षं प्रति । अत्यन्त संयोगे द्वितीया (हरयः) रसं हरन्तः (सुपर्णाः) आदित्यरश्मयः—निरु० ७ । २४ । (अपः) जलानि (वसानाः) आच्छादयन्तः (दिवम्) प्रकाशमयं सूर्यमण्डलम् (उत्) उद्गत्य (पतन्ति) प्राप्नुवन्ति (ते) रश्मयः (आ अववृत्रन) वृतेर्लुङि । द्युद्भ्यो लुङि । पा० १ । ३ । ९१ । इति परस्मैपदम्, च्लेश्चङ् रुडागमश्च छान्दसः । आ वर्तन्ते । आगच्छन्ति (सदनात्) गृहात् । सूर्यमण्डलात् (ऋतस्य) उदकस्य—निघ० १ । १२ । (आत्) अनन्तरम् (इत्) एव (घृतेन) उदकेन । घृतमित्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः—निरु० ७ । २४ । (पृथिवीम्) भूमिम् (वि) विविधम् (ऊदुः) उन्दी क्लेदने, लिट्, उपधालोपश्च छान्दसः । उन्दांचक्रुः । सिक्तवन्तः ॥

पयस्वतीः । कृणुथ । अपः । ओषधीः । शिवाः । यत् । एजथ ।
मरुतः । रुक्म-वक्षसः । ऊर्जम् । च । तत्र । सु-मतिम् । च ।
पिन्वत । यत्र । नरः । मरुतः । सिञ्चथ । मधु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(रुक्मवक्षसः) हे तेज [बिजुली] को हृदय में रखने वाले (मरुतः) वायु के वेगो ! (यत्) जब (एजथ) तुम चलते हो, (अपः) जल और (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (पयस्वतीः) रस वाली और (शिवाः) कल्याणकारी (कृणुथ) तुम करते हो । (च) और (तत्र) वहां (ऊर्जम्) बल देने वाला अन्न (च) और (सुमतिम्) उत्तम बुद्धि (पिन्वत) बरसाते हो, (यत्र) जहां पर (नरः) हे नायक (मरुतः) वायुगणो ! (मधु) जल (सिञ्चथ) सींचते हो ॥२॥

भावार्थ—जिस प्रकार वायु बिजुली से युक्त मेघ से मिलकर बरसा करता है और अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करता है, उसी प्रकार मनुष्यों को विद्या आदि उत्तम गुण प्राप्त करके आनन्दित होना चाहिये ।

उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति ।
एजाति ग्लहा कन्येव तुन्नैरुं तुन्दाना पत्येव जाया ॥३॥

उद्-प्रुतः । मरुतः । तान् । इयर्त । वृष्टिः । या । विश्वाः ।
नि-वतः । पृणाति । एजाति । ग्लहा । कन्या-इव । तुन्ना ।
एरुम् । तुन्दाना । पत्या-इव । जाया ॥ ३ ॥

२—(पयस्वतीः) रसवतीः (कृणुथ) कुरुथ (अपः) जलानि (ओषधीः) अन्ना पदार्थान् (शिवाः) सुखकरीः (यत्) यदा (एजथ) प्रचलथ (मरुतः) अ० १ । २० । १ । वायुगणाः (रुक्मवक्षसः) युजिरुचितिजां कुश्च । उ० १ । १४६ । इति रुच दीप्तावभिप्रीतौ च—मक् । पचिवचिभ्यां सुट् च । उ० ४ । २२० । इति वच परिभाषणे—असुन्, सुट् च । रुक्मं विद्युद्रूपा दीप्तिर्वक्षसि मध्ये येषां ते (ऊर्जम्) बलकरमन्नम् (च) समुच्चये (तत्र) तस्मिन् देशे (सुमतिम्) शोभनां बुद्धिम् (च) (पिन्वत) पिवि सेचने लडर्थे लोट् । सिञ्चथ (यत्र) यस्मिन् स्थाने (नरः) अ० ३ । १६ । ३ । नेतारः (सिञ्चथ) वर्षयथ (मधु) जलम्—निघ० १ । १२ ॥

भाषार्थ—(उदप्रुतः) हे जल के भेजने वाले (मरुतः) वायुगणो ! (तान्=ताम्) उस [वृष्टि] को (इयर्त्त) तुम भेजो, (या) जो (वृष्टिः) वरसा (विश्वाः) सब (निवतः) नीचे स्थानों को (पृणाति) भर देती है। (ग्लहा) वह ग्रहण करने योग्य [वृष्टि] (एरुम्) गतिशीलसमुद्र को (एजाति = एजति) पहुंचती है, (इव) जैसे (तुन्ना) व्यथा में पड़ी (कन्या) कन्या [अपने माता पिता आदि को], और (इव) जैसे (तुन्दाना) दुःख पाती हुई (जाया) पत्नी (पत्या = पतिम्) अपने पति को [पहुंचती है] ॥३॥

भावार्थ—जिस प्रकार वायु द्वारा वृष्टि जल संसार का उपकार करता हुआ समुद्र में शान्ति पाता है, इसी प्रकार मनुष्य परस्पर उपकार करके उस परब्रह्म में सुख प्राप्ति करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २३ ॥

१-३ ॥ आपो देवताः ॥ १ अनुष्टुप्, २ । गायत्री; ३ उष्णिक् छन्दः ॥

कर्मकरणायोपदेशः—कर्म करने के लिये उपदेश ॥

स॒स्रुषी॒स्तद॒पसो॒ दिवा॒ नक्तं॑ च स॒स्रुषीः॑ ।
वरे॑ण्यक्रतुर॒हम॒पो दे॒वीरुप॑ ह्वये ॥ १ ॥

३—(उदप्रुतः) उदकस्योदः संज्ञायाम् । पा० ६ । ३ । ५७ । इति उदकस्य उदभावः । प्रुङ् गतौ–क्विप् । जलस्य प्रेरकाः (मरुतः) हे वायुगणाः (तान्) छान्दसो मकारस्य नकारः । ताम् । वृष्टिम् (इयर्त) ऋ गतौ–तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति लोटि तस्य तप् । अर्तिपिपर्त्योश्च पा० ७ । ४ । ७७ । इति अभ्यासस्य इत्वम् । इयृत । प्रेरयत (वृष्टिः) वर्षणम् (या) (विश्वाः) सर्वाः (निवतः) उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे । पा० ५ । १ । ११८ । इति गमेरर्थे वतिः । निम्नगतान् देशान् (पृणाति) पॄ पालनपूर्त्योः । पूरयति (एजाति) एजृ कम्पने—लडर्थे लेट् । एजति, गतिकर्मा–निघ० २ । १४ । गच्छति । प्राप्नोति (ग्लहा) अ० ४ । ३८ । ३ । ग्रह उपादाने अप्, रस्य लः, टाप् । ग्राह्या वृष्टिः (कन्या) अ० १ । १४ । २ । कमनीया । पुत्री (इव) यथा (तुन्ना) तुद व्यथने—क्तः । व्यथिता (एरुम्) मीपीभ्यां रुः । उ० ४ । १०१ । इति इण् गतौ—रु । गन्तारम् । समुद्रम् (तुन्दाना) तुद व्यथने–शानच्, नुम् गुणाभावश्च । व्यथ्यमाना (पत्या) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति अम् विभक्तेः आ । पतिम् (इव) (जाया) अ० ३ । ४ । ३ । भार्या ॥

सस्रुषीः । तत् । अपसः । दिवा । नक्तम् । च । सस्रुषीः ।
वरेण्य-क्रतुः । अहम् । अपः । देवीः । उप । ह्वये ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वरेण्यक्रतुः) उत्तम कर्म वा बुद्धि वाला (अहम्) मैं (अपसः) व्यापक (तत्=तस्य) विस्तृतब्रह्म की (दिवा) दिन (च) और (नक्तम्) राति (सस्रुषीः सस्रुषीः) अत्यन्त उद्योग शील, (देवीः) प्रकाशमय (अपः) व्यापक शक्तियों को (उप) आदर से (ह्वये) बुलाता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की शक्तियों का विचार करते हुये सदा पुरुषार्थ करें ॥ १ ॥

ओता आपः कर्मण्या मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये ।
सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥ २ ॥

आ-उताः । आपः । कर्मण्याः । मुञ्चन्तु । इतः । प्र-नीतये ।
सद्यः । कृण्वन्तु । एतवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ओताः) अच्छे प्रकार बुनी हुई (कर्मण्याः) कामों में कुशल (आपः) [परमेश्वर की] व्यापक शक्तियां [हमें] (इतः) इस [कष्ट] से

१—(सस्रुषीः सस्रुषीः) सृ गतौ, लिटः क्वसु । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ इति ङीप् । वसोः सम्प्रसारणे यण । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । अतिशयेनोद्योगशीलाः (तत्) त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १ । १३२ । इति तनु विस्तारे—अदि, स च डित् । विस्तृतस्य ब्रह्मणः (अपसः) आपः कर्माख्यायां० । उ० ४ । २०८ । इति आप्लृ व्याप्तौ—असुन्, ह्रस्वश्च व्यापकस्य (दिवा) दिने (नक्तम्) रात्रौ (च) (वरेण्यक्रतुः) वृञ एण्यः । उ० ३ । ६८ । इति वृञ् वरणे-एण्य । क्रतुः कर्मनाम—निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६ । प्रशस्तकर्मा । उत्तमबुद्धिः (अहम्) पुरुषार्थी (अपः) व्यापिकाः शक्तीः (देवीः) प्रकाशमानाः (उप) आदरे (ह्वये) आह्वयामि ॥

२—(ओताः) आङ्+वेञ् तन्तुसन्ताने—क्त । सम्यक् स्यूताः (आपः) परमेश्वरस्य व्यापिकाः शक्तयः (कर्मण्याः) तत्र साधुः । पा० ४ । ४

(प्रणीतये) उत्तम नीति के लिये (मुञ्चन्तु) मुक्त करें । और (सद्यः) तुरन्त (एतवे) चलने को (कृण्वन्तु) बनावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वरीय रचनाओं को देखकर उत्तम नीति पर चलकर सदा आगे बढ़ें ॥ २ ॥

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।

शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

देवस्य । सवितुः । सवे । कर्म । कृण्वन्तु । मानुषाः । शम् । नः । भवन्तु । अपः । ओषधीः । शिवाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मानुषाः) सब मनुष्य (देवस्य) प्रकाशमय (सवितुः) सर्वप्रेरक परमेश्वर के (सवे) शासन में (कर्म) कर्म (कृण्वन्तु) करते रहें । (शिवाः) कल्याणकारक (ओषधीः=०-धयः) अन्न आदि पदार्थ (शम्) शान्ति से (नः) हमारे (अपः) कर्म को (भवन्तु) प्राप्त हों ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद विहित कर्मों को करते हुये पुरुषार्थ पूर्वक अन्न आदि पदार्थों को भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २४ ॥

१-३ ॥ आपो देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः ।

आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्द्योतभेषजम् ॥ १ ॥

---

६८ । इति कर्मन्—यत् । ये चाभावकर्मणोः । पा० ६ । ४ । १६८ । इति प्रकृतिभावः । कर्मसु साधवः (मुञ्चन्तु) मुक्तान् कुर्वन्तु, अस्मान् (इतः) अस्मात् कष्टात् (प्रणीतये) प्रकृष्टनीतिप्राप्तये (सद्यः) शीघ्रम् (कृण्वन्तु) कुर्वन्तु (एतवे) तुमर्थे सेसेन० । पा० ३ । ४ । ९ । इति इण् गतौ, तवे । गन्तुम् ॥

३—(देवस्य) प्रकाशस्वरूपस्य (सवितुः) सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्य (सवे) प्रेरणे । शासने (कृण्वन्तु) अनुतिष्ठन्तु (मानुषाः) मनुष्याः (शम्) शान्त्या (नः) अस्माकम् (भवन्तु) भू प्राप्तौ । प्राप्नुवन्तु (अपः) म० १ कर्म-निघ० २ । १ । (ओषधीः) ओषधयः । अन्नादिपदार्थाः (शिवाः) कल्याणकारिण्यः ॥

हिम-वंतः । प्र । स्रवन्ति । सिन्धौं । समह । सम्-गमः । आपः । ह । मह्यम् । तत् । देवीः । ददन् । हृद्द्योत-भेषजम् ॥१॥

भाषार्थ—(आपः) व्यापक शक्तियां [वा जलधारायें] (हिमवतः) वृद्धिशील वा गतिशील परमेश्वर से [वा हिम वाले पहाड़ से] (प्रस्रवन्ति) बहती रहती हैं, और (समह) हे महिमा के साथ वर्तमान पुरुष ! (सिन्धौ) बहने वाले संसार [वा समुद] में (सङ्गमः) उनका सङ्गम है। (देवीः) वे दिव्य गुण वाली शक्तियां [वा जलधारायें] (ह) निश्चय करके (मह्यम्) मेरे लिये (तत्) वह (हृद्द्योतभेषजम्) हृदय की चमक का भय जीतने वाला औषध (ददन्) देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्व शक्तिमान् परमेश्वर की उपकार शक्तियों को विचार कर अपने दोष मिटावें, अथवा जल द्वारा रोग नाश करें ॥ १ ॥

यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत् ।
आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥

यत् । मे । अक्ष्योः । आ-दिद्योत । पार्ष्ण्योः । प्र-पदोः । च । यत् । आपः । तत् । सर्वम् । निः । करन् । भिषजाम् । सुभिषक्-तमाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो [दुःख] (मे) मेरे (अक्ष्योः) दोनों नेत्रों में (पार्ष्ण्योः) दोनों एड़ियों में, (च) और (यत्) जो (प्रपदोः) पांव के दोनों

१—(हिमवतः) अ० ५ । ४ । २ । हि गतौ वृद्धौ च—मक् । गतिशीलाद् वृद्धिशीलाच्च परमेश्वरात् हिमयुक्तात् पर्वतात् (प्र) प्रकर्षेण (स्रवन्ति) वहन्ति (सिन्धौ) अ० ४ । ३ । १ । स्यन्दनशीले संसारे सागरे वा (समह) अ० । ५ । ४ । १० । हे महेन महिम्ना सह वर्तमान (संगमः) संसर्गः (आपः) अ० । १ । ४ । ३ । व्यापिकाः परमेश्वरशक्तयो जलधारा वा (ह) अवश्यम् (मह्यम्) उपासकाय (तत्) प्रसिद्धम् (देवीः) देव्यः । दिव्याः (ददन्) लेटि रूपम् । ददतु (हृद्द्योतभेषजम्) हृदयदाहनिवर्तकमौषधम् ॥

२—(यत्) दुःखम् (मे) मम (अक्ष्योः) अ० २ । ३३ । १ । अक्ष्णोः (आदिद्योत) द्युत दीप्तौ लिटि छान्दसं परस्मैपदम् । आदिद्युते । समन्ताद्

पंजों में (आदिद्योत) चमक उठा है। (भिषजाम्) वैद्यों में (सुभिषक्तमाः) अति पूजनीय वैद्य रूप (आपः) परमेश्वर की व्यापक शक्तियां वा जलधारायें (तत्) उस (सर्वम्) सब को (निष्करन्) हटावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर रचित पदार्थों के गुण जान कर अपना रोग निवारण करें ॥ २ ॥

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्यः स्थन ।
दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै ॥ ३ ॥

सिन्धु-पत्नीः । सिन्धु-राज्ञीः । सर्वाः । याः । नद्यः । स्थन । दत्त । नः । तस्य । भेषजम् । तेन । वः । भुनजामहै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सिन्धुपत्नीः) बहने वाले संसार [वा समुद्र] की पालने वाली, (सिन्धुराज्ञीः) बहने वाले जगत् की शासन करने वाली, [वा समुद्र की शोभा बढ़ाने वाली] (याः) जो तुम (सर्वाः) सब शक्तियां (नद्यः) [परमेश्वर की] स्तुति करने वाली [वा नदियां] (स्थन) हो। वे तुम (नः)

दिदीपे (पाष्ण्योः) अ० २। ३३। ५। गुल्फस्याधोभागयोः (प्रपदोः) अ० २ ३३। ५। पादस्य पद्भावः। पादाग्रभागयोः (च) (यत्) (आपः) व्यापिकाः परमेश्वरशक्तयो जलधारा वा (तत्) सर्वम्। सकलं दुःखम् (निष्करन्) अ० २। ६। ५। लेटि रूपम्। इदुदुपधस्य०। पा० ८। ३। ४१। इति षत्वम्। बहिष्कुर्वन्तु (भिषजाम्) वैद्यानां मध्ये (सुभिषक्तमाः) अतिशयेन पूजनीया वैद्यरूपाः ॥

३—(सिन्धुपत्नीः) विभाषा सपूर्वस्य। पा० ४। १। ३४। इति ङीप्नकारौ। सिन्धोः स्यन्दनशीलस्य संसारस्य समुद्रस्य वा पत्न्यः पालयित्र्यः (सिन्धुराज्ञीः) सिन्धोः स्यन्दशीलस्य जगतो राज्ञ्यः शासिकाः, यद्वा समुद्रस्य राजयित्र्यः शोभयित्र्यः (सर्वाः) (याः) (नद्यः) णद भाषायां चुरा०—अच्, ङीप्। ऋषिर्नदो भवति नदतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ५। २। स्तोत्र्यः परमेश्वर-गुणानाम्, अथवा जलप्रवाहाः (स्थन) तप्तनप्तनथनाश्च। पा०। ७। १। ४५। इति थन्। स्थ। भवथ (दत्त) प्रयच्छत (नः) अस्मभ्यम् (तस्य) तर्द हिंसायाम्-ड। हिंसकस्य रोगस्य (भेषजम्) औषधम् (तेन) (वः)

हमें (तस्य) हिंसक रोग की (भेषजम्) ओषधि (दत्त) दे, (तेन) उससे (वः) तुम्हारे [गुणों को] (भुनजामहै) हम भोगें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने मनुष्य के सुख के लिये अनन्त रचनायें की हैं, उसकी उपासना करके मनुष्य सदा शान्ति पावें और जल द्वारा रोग निवृति करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २५ ॥

१-३ ॥ वैद्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशायोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

पञ्च च याः पंञ्चाशच्चं संयन्ति मन्या अभि ।

इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अंपचितांमिव ॥ १ ॥

पञ्च । च । याः । पञ्चाशत् । च । सम्-यन्ति । मन्याः । अभि । इतः । ताः । सर्वाः । नश्यन्तु । वाकाः । अपचिताम्-इव १

भाषार्थ—(पञ्च) पांच (च च) और (पञ्चाशत्) पचास (याः) जो पीड़ायें (मन्याः अभि) गले की नसों में (संयन्ति) सब ओर से व्याप्त होती हैं। (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) यहां से (नश्यन्तु) नष्ट हो जावें, (इव) जैसे (अपचिताम्) निर्बलों के (वाकाः) वचन [नष्ट हो जाते हैं] ॥ १ ॥

भावर्थ—जैसे सद्वैद्य गले के गंडमाला आदि रोगों को नष्ट करता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने दोषों का निवारण करें ॥ १ ॥

युष्माकं गुणान् (भुनजामहै) भुज पालनाभ्यवहारयोः । भुजोऽनवने । पा० १ । ३ । ६६ । इत्यात्मनेपदम् । उपजीवाम ॥

१—(पञ्च च पञ्चाशच्च) पञ्चाधिकपञ्चाशत्संख्याकाः (याः) पीडाः (संयन्ति) सर्वतो व्याप्नुवन्ति (मन्याः) मन धृतौ-क्यप्, टाप् । ग्रीवायाः पश्चात् शिराः (अभि) प्रति (इतः) अस्माद्देशात् (ताः) पीडाः (सर्वाः) (नश्यन्तु) अदृष्टा भवन्तु (वाकाः) वच् व्यक्तायां वाचि—घञ् कुत्वम् । वचनानि (अपचिताम्) अप+चिञ् हीनकरणे—क्विप् । हीनानां निर्बलानाम् ॥

सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ २ ॥
सप्त । च । याः । सप्ततिः । च । सम्-यन्ति । ग्रैव्याः । अभि ।
इतः । ताः । सर्वाः । नश्यन्तु । वाकाः । अपचिताम्-इव ॥२॥

भाषार्थ—(सप्त) सात (च च) और (सप्ततिः) सत्तर (याः) जो पीड़ायें (ग्रैव्याः अभि) कण्ठ की नाड़ियों में (संयन्ति) सब ओर से व्याप्ती हैं (ताः सर्वाः) वे सब......म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के सामान ॥ २ ॥

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ ३ ॥
नव । च । याः । नवतिः । च । सम्-यन्ति । स्कन्ध्याः । अभि ।
इतः । ताः । सर्वाः । नश्यन्तु । वाकाः । अपचिताम्-इव ॥३॥

भाषार्थ—(नव) नव (च च) और (नवतिः) नब्बे (याः) जो पीड़ायें (स्कन्ध्याः अभि) कन्धे की नाड़ियों में (संयन्ति) व्याप्ती हैं । (ताः सर्वाः) वे सब......म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के सामान ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २६ ॥

१-३ ॥ पाप्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कष्टत्यागायोपदेशः—कष्ट त्यागने के लिये उपदेश ॥

अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः ।

२—(सप्त च सप्ततिश्च) सप्ताधिकसप्ततिसंख्याकाः (ग्रैव्याः) गम्भीराञ्ज्यः । पा० ४ । ३ । ५८ । इति बाहुलकात् ग्रीवा—ञ्य । ग्रीवासु भवा नाडीः । अन्यत्पूर्ववत् ॥

३—(नव च नवतिश्च) नवोत्तरनवतिसंख्याकाः (स्कन्ध्याः) स्कन्ध—यत् , स्कन्धे भवा धमनीः । अन्यद्गतम् ॥

आ मा॑ भ॒द्रस्य॑ लो॒के पाप्म॑न् धे॒ह्यवि॑हृतम् ॥ १ ॥

अव॑ । मा॒ । पा॒प्म॒न् । सृ॒ज॒ । व॒शी । सन् । मृ॒ड॒या॒सि॒ । नः॒ ।
आ । मा॒ । भ॒द्रस्य॑ । लो॒के । पा॒प्म॒न् । धे॒हि॒ । अवि॑-हृतम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पाप्मन्) हे पापी विघ्न ! (मा) मुझे (अव सृज) छोड़ दे और (वशी) वश में पड़ने वाला (सन्) होकर तू (नः) हमें (मृडयासि) सुख दे (पाप्मन्) हे पापी विघ्न ! (भद्रस्य) आनन्द के (लोके) लोक में (मा) मुझे (अविहृतम्) पीड़ा रहित (आ) अच्छे प्रकार (धेहि) रख ॥१॥

भावार्थ—जो मनुष्य पुरुषार्थ से विघ्नों को हटाते हैं, वे आनन्द पाते हैं ॥ १ ॥

यो नः॑ पाप्म॒न् न जहा॑सि॒ तमु॑ त्वा जहिमो व॒यम् ।
प॒थाम॑नु॑ व्या॒वर्त॑ने॒ऽन्यं पा॒प्मानु॑ पद्यताम् ॥ २ ॥

यः । नः॒ । पा॒प्म॒न् । न । जहा॑सि । तम् । ऊं॒ इति॑ । त्वा॒ ।
ज॒हि॒मः॒ । व॒यम् । प॒थाम् । अनु॑ । वि॒-आ॒वर्त॑ने । अ॒न्यम् ।
पा॒प्मा । अनु॑ । प॒द्य॒ताम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पाप्मन्) हे पापी विघ्न ! (यः) जो तू (नः) हमें (न) नहीं (जहासि) छोड़ता है, (तम्) उस (त्वा) तुझ को (उ) ही (वयम्) हम (जहिमः) छोड़ते हैं। (अनु) फिर (पथाम्) मार्गों के (व्यावर्तने)

१—(मा) माम् (पाप्मन्) अ० ३। ३१। १। हे दुःखप्रद विघ्न (अव सृज) विमोचय (वशी) अ० १। २१। १। आयत्तः (सन्) (मृडयासि) अ० ५। २२। ६। सुखयेः (नः) अस्मान् (आ) समन्तात् (मा) माम् (भद्रस्य) कल्याणस्य (लोके) स्थाने (धेहि) स्थापय (अविहृतम्) हृ ह्वरे-श्छन्दसि। पा० ७। २। ३१। इति ह्व कौटिल्ये निष्ठायां हृभावः। अपीडितम् ॥

२—(यः) यस्त्वम् (नः) अस्मान् (पाप्मन्) हे दुःखप्रद विघ्न (न) निषेधे (जहासि) ओ हाक् त्यागे। त्यजसि (तम्) (उ) एव (त्वा) (जहिमः) ओहाक् त्यागे। त्यजामः (वयम्) धर्मिकाः (पथाम्) मार्गाणाम्



[illegible] (अन्यम्) दूसरे [अधर्मी] को (पाप्मा) दुःखदायी विघ्न (अनु पद्यताम्) प्राप्त होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—अधर्मी लोग अनेक विघ्नों में पड़कर दुःख उठाते हैं। और धर्मात्मा विघ्नों को हटा कर सुख पाते हैं ॥ २ ॥

अन्यत्रास्मन्न्युच्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः ।

यं द्वेषाम तमृच्छतु यमु द्विष्मस्तमिज्जहि ॥ ३ ॥

अन्यत्र । अस्मत् । नि । उच्यतु । सहस्र-अक्षः । अमर्त्यः ।

यम् । द्वेषाम । तम् । ऋच्छतु । यम् । ऊं इति । द्विष्मः ।

तम् । इत् । जहि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सहस्राक्षः) सहस्रों [दोषों] में दृष्टि रखने वाला, (अमर्त्यः) मनुष्यों का हित न करने वाला [विघ्न] (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) दूसरों में (नि) नित्य (उच्यतु) प्राप्त हो। (यम्) जिसको (द्वेषाम) हम बुरा जानें, (तम्) उसको (ऋच्छतु) वह [विघ्न] प्राप्त हो। और (यम्) जिसको (उ) ही (द्विष्मः) हम बुरा जानते हैं, (तम्) उसको (इत्) ही (जहि) नाश कर ॥३॥

भावार्थ—मनुष्यों को अनेक दोषों के कारण बड़े हानिकारक विघ्न रोकते हैं। इस लिये मनुष्यों को पुरुषार्थ पूर्वक विघ्न हटाना योग्य है ॥ ३ ॥

(अनु) पश्चात्। पुनः (व्यावर्तने) वृतु वर्तने-ल्युट्। निवृत्तिस्थाने (अन्यम्) अधार्मिकम् (पाप्मा) दुःखप्रदो विघ्नः (अनु पद्यताम्) प्राप्नोतु ॥

३—(अन्यत्र) पापात्मसु (अस्मत्) अस्मत्तः। सुकर्मभ्यः (नि) नितराम् (उच्यतु) उच समवाये। गच्छतु (सहस्राक्षः) अ० । ३ । ११ । ३ सहस्रेषु बहुषु दोषेषु अक्षि दृष्टिर्यस्य सः (अमर्त्यः) तस्मै हितम्। पा० । ५ । १ । ५ । इति यत्। मर्त्येभ्यो मनुष्येभ्योऽहितः (यम) विघ्नम् (द्वेषाम) अप्रीतिं करवाम (तम्) (ऋच्छतु) प्राप्नोतु (यम्) (उ) अवधारणे (द्विष्मः) अप्रीतिं कुर्मः (तम्) (इत्) एव (जहि) नाशय ॥

सूक्तम् ॥ २७ ॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

देवाः कुपोत इषितो यदिच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम। तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १ ॥

देवाः। कपोतः। इषितः। यत्। इच्छन्। दूतः। निःऋत्याः। इदम्। आ-जगाम। तस्मै। अर्चाम। कृणवाम। निःकृतिम्। शम्। नः। अस्तु। द्वि-पदे। शम्। चतुः-पदे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (इषितः) प्राप्तियोग्य, (निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी का (दूतः) नाश करने वाला, (कपोतः) वरणीय वा स्तुति योग्य [अथवा, कबूतर पक्षी के समान दूरदर्शी और तीक्ष्ण बुद्धि] पुरुष (यत्) पूजनीय ब्रह्म को (इच्छन्) खोजता हुआ, (इदम्) इस स्थान में (आजगाम) आया है। (तस्मै) उस विद्वान् के लिये (अर्चाम) हम पूजा करें और (निष्कृतिम्) अपनी निर्मुक्ति (कृणवाम) हम करें, [जिससे] (नः) हमारे

१—(देवाः) हे विद्वांसः (कपोतः) कबेरोतच्-पश्च। उ० १। ६२। इति कबृ वर्णे स्तुतौ च-ओतच्। बस्य पः। वरणीयः। स्तुत्यः। अथवा कपोतपक्षिवद् दूरदर्शी तीक्ष्णबुद्धिश्च विद्वान् (इषितः) पिशेः किच्च। उ० ३। ९५। इति इष गतौ-इतन्, स च कित्। प्राप्तव्यः (यत्) त्यजितनियजिभ्यो डित्। उ० १। १३२। इति यज्—अदि, स च डित्। यजनीयं पूजनीयं ब्रह्म (इच्छन्) अन्विच्छन् (दूतः) अ० १। ७। ६। टु दु उपतापे-क्त, दीर्घश्च, सन्तापको नाशकः (निर्ऋत्याः) अ० २। १०। १। अलक्ष्म्याः (इदम्) समीपस्थानम् (आजगाम) आगतवान् (तस्मै) कपोताय। विदुषे (अर्चाम) पूजां करवाम (कृणवाम) करवाम (निष्कृतिम्) बहिर्गमनम्। दुःखाद् निर्मुक्तिम् (शम्)

(द्विपदे) दो पाये समूह को (शम्) शान्ति और (चतुष्पदे) चौपाये समूह को (शम्) शान्ति (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे कबूतर दूर देशों में सन्देश लेजाकर उत्तर लाते हैं, उसी प्रकार दूरदर्शी और बुद्धिमान् ब्रह्मज्ञानी विद्वानों से मनुष्य आदरपूर्वक विद्या प्राप्त करके और दुःखों से मुक्ति पाकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में कुछ भेद से है—म० १० । सू० १६५ । म० १–३ । अजमेर वैदिक यन्त्रालय की ऋक् संहिता में [कपोतो नैर्ऋतः] कपोत निर्ऋति का पुत्र ऋषि और [कपोतोपहतौ प्रायश्चित्तं वैश्वदेवम्] कपोत के हनन में, विश्वेदेवा, सब विद्वानों का प्रायश्चित्त देवता है ॥

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः । अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥ २ ॥

शिवः । कपोतः । इषितः । नः । अस्तु । अनागाः । देवाः । शकुनः । गृहम् । नः । अग्निः । हि । विप्रः । जुषताम् । हविः । नः । परि । हेतिः । पक्षिणी । नः । वृणक्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (इषितः) प्राप्ति योग्य (अनागाः) निर्दोष, (शकुनः) समर्थ (कपोतः) स्तुतियोग्य विद्वान् (नः) हमारे लिये और (नः) हमारे (गृहम्=गृहाय) घर के लिये (शिवः) मङ्गलकारी (अस्तु) होवे । (अग्निः) वह विद्वान् (विप्रः) बुद्धिमान् पुरुष (नः) हमारे (हविः)

शान्तिः (नः) अस्माकम् (अस्तु) (द्विपदे) पादद्वयोपेताय मनुष्यादये (शम्) (चतुष्पदे) पादचतुष्टयोपेताय गवाश्वादये ॥

२—(शिवः) सुखकरः (कपोतः) म० १ । स्तुत्यो दूरदर्शी पुरुषः (इषितः) म० १ । प्राप्तव्यः (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) (अनागाः) निर्दोषः (देवाः) हे विद्वांसः (शकुनः) शकेरुनोन्तोन्त्युनयः। उ० ३ । ४९ । इति शक्लृ-शक्तौ–उन । शक्तः समर्थः (गृहम्) चतुर्थ्यां प्रथमा । गृहाय (नः) अस्माकम् (अग्निः) विद्वान् (हि) निश्चयेन (विप्रः) मेधावी–निघ० ३ । १५ । (जुष-

देने लेने योग्य कर्म को (हि) अवश्य (जुषताम्) स्वीकार करें। (पक्षिणी) पक्षपातवाली (हेतिः) चोट (नः) हमें (परि) सब ओर से (वृणक्तु) छोड़े ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्ण विद्वानों के सत्संग से सुशिक्षित होकर अन्याय से पक्षपात न करें ॥ २ ॥

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने। शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवा इह हिंसीत् कपोतः॥ ३ ॥

हेतिः। पक्षिणी। न। दभाति। अस्मान्। आष्ट्री इति। पदम्। कृणुते। अग्नि-धाने। शिवः। गोभ्यः। उत। पुरुषेभ्यः। नः। अस्तु। मा। नः। देवाः। इह। हिंसीत्। कपोतः॥३

भाषार्थ—(पक्षिणी) पक्षपात वाली (हेतिः) चोट (अस्मान्) हमें (न) न (दभाति) दबावे। (आष्ट्री) व्याप्त सभा के बीच (अग्निधाने) विद्वानों के स्थान पर [वह विद्वान्] (पदम्) अपना अधिकार (कृणुते) करता है। (देवाः) हे विद्वानो ! (कपोतः) स्तुतियोग्य पुरुष (नः) हमारी (गोभ्यः) गउओं के लिये (उत) और (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये (शिवः)

ताम्) सेवताम्। स्वीकरोतु (हविः) दातव्यं ग्राह्यं कर्म (नः) अस्माकम् (परि) सर्वतः (हेतिः) अ० १। १३। ३। हननसाधनम्। वज्रः (पक्षिणी) पक्ष परिग्रहे—अच, इनि, ङीप्। पक्षपातयुक्ता। अन्यायेन साहाय्यकारिणी (नः) अस्मान् (वृणक्तु) वर्जयतु ॥

३—(हेतिः) हवनशक्तिः (पक्षिणी) पक्षपातयुक्ता (नः) निषेधे (दभाति) लेटि रूपम्। हिनस्तु (अस्मान्) सदस्यान् (आष्ट्री) असिजगमि-नमि०। उ० ४। १६०। इति अशू व्याप्तौ-ष्ट्रन् वृद्धिश्च, ङीप्। सुपां सुलुक्० पा० ७। १। ३९। इति सप्तम्याः पूर्वसवर्णः, प्रगृह्यं च। आष्ट्र्यां व्याप्तायां सभायाम् (पदम्) अधिकारम् (कृणुते) करोति (अग्निधाने) अग्नीनां विदुषां स्थाने (शिवः) सुखकरः (गोभ्यः) गवादिपशुभ्यः (उत) अपि च

मङ्गलकारी (अस्तु) होवे। और (नः) हमें (इह) यहां पर (मा हिंसीत्) न दुःख देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस सभा में सभापति वेदानुगामी न्यायकारी होता है, वहां के सभासद् अन्यायी पक्षपाती नहीं होते और न दुःख उठाते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २८ ॥

१-३ विश्वेदेवा देवताः ॥ १, ३ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप् ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वान् के गुणों का उपदेश ॥

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः। संलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात् पथिष्ठः ॥ १ ॥

ऋचा। कपोतम्। नुदत। प्र-नोदम्। इषम्। मदन्तः। परि। गाम्। नयामः। सम्-लोभयन्तः। दुः-इता। पदानि। हित्वा। नः। ऊर्जम्। प्र। पदात्। पथिष्ठः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (ऋचा) स्तुति से (प्रणोदम्) आगे बढ़ाने वाले (कपोतम्) स्तुति योग्य विद्वान् को (नुदत) आगे बढ़ाओ। (मदन्तः) हर्ष करते हुये और (दुरिता) दुर्गति के कारण (पदानि) चिह्नों को (संलोभयन्तः) मिटाते हुये हम लोग (इषम्) अन्न और (गाम्] विद्या को (परि)

(पुरुषेभ्यः) मनुष्यादिप्राणिभ्यः (नः) अस्माकम् (अस्तु) (नः) अस्मान् (इह) अस्यां सभायाम् (मा हिंसीत्) न हन्तु (कपोतः) म० १। स्तुत्यो विद्वान् ॥

१—(ऋचा) ऋच स्तुतौ-क्विप्। स्तुत्या। वेदमन्त्रेण (कपोतम्) सू० २७। म० १। स्तुत्यं दूरदर्शिनं पुरुषम् (नुदत) प्रेरयत (प्रणोदम्) णुद प्रेरणे—क्विप्। प्रेरकं नायकम् (इषम्) अन्नम् (मदन्तः) हर्षन्तः (परि) सर्वतः (गाम्) विद्याम् (नयामः) प्रापयामः (संलोभयन्तः) लुभ विमोहने तुदा० शतृ। विमोहयन्तो नाशयन्तः (दुरिता) दुरितानि दुर्गतिनिमित्तानि (पदानि) चिह्नानि (हित्वा) डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च,-क्त्वा। धृत्वा।

सब ओर (नयामः) पहुंचाते हैं। (पथिष्ठः) वह अति शीघ्रगामी विद्वान् (नः) हमें (ऊर्जम्) पराक्रम (हित्वा) देकर (प्र पदात्) आगे ठहरे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि उद्योगी पुरुषार्थी विद्वान् पुरुष को अपना नेता बना कर उन्नति करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । १६५ । ५ ।

परी॒मे॒३॒ऽग्निम॑र्षत॒ परी॒मे गाम॑नेषत ।
दे॒वेष्व॑क्रत॒ श्रव॒: क इ॒माँ आ द॑धर्षति ॥ २ ॥

परि॑ । इ॒मे । अ॒ग्निम् । अ॒र्ष॒त॒ । परि॑ । इ॒मे । गाम् । अ॒ने॒ष॒त॒ ।
दे॒वेषु॑ । अ॒क्र॒त॒ । श्रव॑: । क: । इ॒मान् । आ । द॒ध॒र्ष॒ति॒ ॥२ ॥

भाषार्थ—(इमे) इन पुरुषों ने (अग्निम्) विद्वान् को (परि) सब ओर (अर्षत) प्राप्त किया है, (इमे) इन्होंने (गाम्) विद्या को (परि) सब ओर (अनेषत) पहुंचाया है। और (देवेषु) विद्वानों में (श्रवः) यश (अक्रत) किया है। (कः) कौन (इमान्) इन लोगों को (आ दधर्षति) जीत सकता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों से विद्या पाकर कीर्ति पाते हैं, वे सदा विजयी होते हैं ॥ २ ॥

यः प्र॑थ॒मः प्र॒वत॑मास॒साद॑ ब॒हुभ्य॒: पन्था॑मनुपस्प॒शा॒नः ।

दत्वा (नः) अस्मभ्यम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् (प्र) प्रकर्षेण (पदात्) पद स्थैर्ये गतौ च—लेट् । तिष्ठतु । गच्छतु (पथिष्ठः) पथितृ—इष्ठन् । तुरिष्ठेमेयस्सु । पा० ६ । ४ । १५४ । इति तृलोपः । अतिशयेन गन्ता । महापुरुषार्थी ॥

२—(परि) परितः । सर्वतः (इमे) विद्यार्थिनो मनुष्याः (अग्निम्) विद्वांसम् (अर्षत) ऋष गतौ । प्राप्तवन्तः (परि) (इमे) (गाम्) विद्याम् (अनेषत) णीञ् प्रापणे-लुङ् । प्रापितवन्तः (देवेषु) विद्वत्सु (अक्रत) कृतवन्तः (श्रवः) यशः (कः) शत्रुः (इमान्) समीपवर्तिनो वीरान् (आ) समन्तात् (दधर्षति) धृष अभिभवे, शपः श्लुः । जयति ॥

यो ३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो ऽस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥

यः । प्रथमः । प्र-वतम् । आससाद । बहुभ्यः । पन्थाम् । अनु-पस्पशानः । यः । अस्य । ईशे । द्वि-पदः । यः । चतुः-पदः । तस्मै । यमाय । नमः । अस्तु । मृत्यवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (प्रथमः) गुणियों में पहिला पुरुष (बहुभ्यः) अनेकों के लिये (पन्थाम्) मार्ग (अनुपस्पशानः) खोजता हुआ (प्रवतम्) उत्तम पाने योग्य अधिकार पर (आससाद) आया है। और (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये समूह का (यः) और जो (चतुष्पदः) चौपाये समूह का (ईशे=ईष्टे) राजा है (तस्मै) उस (यमाय) न्यायकारी पुरुष को (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सर्वश्रेष्ठ पुरुष संसार के उपकार के लिये सन्मार्ग दिखाकर सबकी रक्षा करता है, सब मनुष्य विपत्ति से बचने के लिये उस न्यायी वीर पुरुष का सत्कार करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २८ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३ त्रिष्टुभनुष्टपौ ॥

शुभगुणग्रहणायोपदेशः—शुभ गुण ग्रहण करने का उपदेश ॥

अमून् हेतिः पतत्रिणी न्येतु यदुलूको वदति मोघमे-

३—(यः) (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठः (प्रवतम्) अ० ३ । १ । ४ । धात्वर्थे वतिः । प्रगमनीयमधिकारम् (आससाद) आजगाम । प्राप (बहुभ्यः) बहुप्राणिनां हिताय (पन्थाम्) नकारलोपः । पन्थानम् । सन्मार्गम् (अनुपस्पशानः) स्पश बाधनस्पर्शनयोः—शानच् छन्दसिशपः श्लुः । अनुस्पृशन् । अन्विच्छन् (यः) (अस्य) (ईशे) तलोपः । ईष्टे । राजति (द्विपदः) पादद्वयोपेतस्य मनुष्यादेः (यः) (चतुष्पदः) गवादिप्राणिजातस्य (तस्मै) तादृशाय (यमाय) न्यायकारिणे पुरुषाय (नमः) नमस्कारः (अस्तु) भवतु (मृत्यवे) अ० ५ । ३० । १२ । अप्रयुज्यमानस्य धातोः कर्मणि चतुर्थी । मृत्युं नाशयितुम् ॥

तत् । यद् वा कुपोतः पुदमग्नौ कृणोति ॥ १ ॥

अमून् । हेतिः । पतत्रिणी । नि । एतु । यत् । उलूकः । वदति । मोघम् । एतत् । यत् । वा । कुपोतः । पुदम् । अग्नौ । कृणोति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पतत्रिणी) नीचे गिरने वाली (हेतिः) चोट (अमून्) उन [शत्रुओं] को (नि) नीचे (एतु) ले जावे । (उलूकः) अज्ञान से ढकने वाला उल्लू के समान मूर्ख पुरुष (यत्) जो कुछ (वदति) बोलता है, (एतत्) वह (मोघम्) निरर्थक होवे । (यत्) क्योंकि (कपोतः) स्तुति योग्य अथवा कबूतर के समान तीव्र बुद्धि पुरुष (अग्नौ) विद्वानों के समूह में (वा) निश्चय करके (पदम्) अधिकार (कृणोति) करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जहां पर विद्वान् मनुष्य अधिकारी होते हैं, वहां पर मूर्ख शत्रुओं के वचन और कर्म निष्फल होते हैं ॥ १ ॥

इस मन्त्र का दूसरा और तीसरा पाद ऋग्वेद में है-म० १० । १६५ ॥४॥

यौ ते दूतौ निर्ऋत इदमेतोऽप्रहितौ प्रहितौ वा गृहं नः । कुपोतोलूकाभ्यामपदं तदस्तु ॥ २ ॥

यौ । ते । दूतौ । निः-ऋते । इदम् । आ-इतः । अप्र-हितौ । प्र-हितौ । वा । गृहम् । नः । कुपोत-उलूकाभ्याम् । अपदम् । तत् । अस्तु ॥ २ ॥

१—(अमून्) धर्माद् दूरे वर्तमानान् शत्रून् (हेतिः) हवनशक्तिः (पतत्रिणी) अधोगामिनी (नि) नीचैः (एतु) अन्तर्गतण्यर्थः । गमयतु (यत्) यत् किंचित् (उलूकः) उलूकादयश्च । उ० ४ । ४१ । इति वल सम्वरणे, ऊक । अज्ञानेनाच्छादकघूकवद् मूर्खः शत्रुः (वदति) कथयति (मोघम्) मुह अविवेके—घञ्, कुत्वम् । अनर्थकम् (एतत्) वचनम् (यत्) यस्मात् (वा) अवधारणे (कपोतः) सू० २७ । १ । स्तुत्यः पुरुषः । यद्वा कपातवत् तीव्रबुद्धिः (पदम्) अधिकारम् (अग्नौ) विद्वत्समूहे (कृणोति) करोति ॥

भाषार्थ—(निर्ऋते) हे नित्य मङ्गल देने वाले परमेश्वर ! (यौ) जो (अप्रहितौ) अहित करनेवाले (वा) और (प्रहितौ) हित करने वाले (ते) तेरे (दूतौ) विज्ञान कराने वाले दोनों गुण (नः) हमारे (इदम्) इस (गृहम्) घर में (आ—इतः) आते हैं। (कपोतोलूकाभ्याम्) उन विज्ञान से स्तुति के योग्य और अज्ञान से ढकने वाले गुणों द्वारा (तत्) विस्तृत ब्रह्म (अपदम्) न प्राप्ति योग्य दुःख को (अस्तु=अस्यतु) गिरा देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष परमेश्वर की व्यवस्था से सुख और दुःख दोनों का अनुभव करके सुख के मूल सुकर्म का ग्रहण, और दुःख के कारण कुकर्म का त्याग करें ॥ २ ॥

अवैरहत्यायेदमा पपत्यात् सुवीरताया इदमा ससद्यात्। पराङेव परा वद पराचीमनु संवतम्। यथा यमस्य त्वा गृहेऽरसं प्रतिचाकशानाभूकं प्रतिचाकशान् ॥३

अवैर-हत्याय । इदम् । आ । पपत्यात् । सु-वीरतायै । इदम् । आ । ससद्यात् । पराङ् । एव । परा । वद । पराचीम् । अनु । सम्-वतम् । यथा । यमस्य । त्वा । गृहे । अरसम् । प्रति-चाकशान् । आभूकम् । प्रति-चाकशान् ॥ ३ ॥

२—(यौ) (ते) त्वदीयौ (दूतौ) दूतो विज्ञापकः—दयानन्दभाष्ये, ऋग्० १ । ७२ । ७ । विज्ञापकौ गुणौ (निर्ऋते) ऋ गतौ—क्तिन् । नितरां ऋतिर्मङ्गलं कल्याणं यस्मात्सः । हे नित्यसुखप्रद परमेश्वर ! निर्ऋतिः पृथिवीनाम-निघ० १ । १ । (इदम्) (एतः) आगच्छतः (अप्रहितौ) अप्रीतिकरौ (प्रहितौ) हितकारकौ (वा) समुच्चये (गृहम्) निवासम् (नः) अस्माकम् (कपोतोलूकाभ्याम्) कपोतो विज्ञानेन स्तुत्यो गुणः—सू० २७ । १ । उलूकः, अज्ञानेनाच्छादको गुणः—म० १ । ताभ्यां द्वाभ्याम् (अपदम्) अप्रापणीयं दुःखम् (तत्) त्यजितनि । उ० १ । १३२ । इति तनु-अदि, स च डित् । विस्तृतं ब्रह्म (अस्तु) अदादित्वं छान्दसम् । अस्यतु क्षिपतु ॥

भाषार्थ—[स्तुति के योग्य कपोत विद्वान्] (अवैरहत्याय) वीरों के न मारने के लिये (इदम्) इस स्थान पर (आ=आगत्य) आकर (पपत्यात्) समर्थ होवे और (सुवीरतायै) बड़े वीरों के हित के लिये (इदम्) इस स्थान पर (आ) आकर (ससद्यात्) बैठे। [हे उल्लू के समान मूर्ख शत्रु !] (पराङ्) औंधे मुख होकर (पराचीम्) अधोगत (संवतम्) संगति की (अनु=अनुलक्ष्य) ओर (परा) दूर होकर (एव) ही (वद) बात कर। (यथा) क्योंकि (यमस्य) न्यायकारी पुरुष के (गृहे) घर में (त्वा) तुझ को (अरसम्) निर्बल (प्रतिचाकशान्) लोग देखें, और (आभूकम्) असमर्थ (प्रतिचाकशान्) वे देखें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् पुरुषार्थी जन का सहाय लेकर न्यायपूर्वक श्रेष्ठ वीरों की रक्षा और मूर्ख दुराचारियों का नाश करके सुखी रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ३० ॥

१-३ ॥ सरस्वती शमी वा देवता॥१ जगती;२ विराट् ३ उष्णिक् ॥

विद्यागुणोपदेशः । विद्या के गुणों का उपदेश ॥

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः । इन्द्र आसीत सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ १ ॥

३—(अवैरहत्याय) वीर—अण् समूहार्थे+हन क्यप्। वीराणाम् अहननाय रक्षणाय (इदम्) अस्माकं गृहम् (आ) आगत्य (पपत्यात्) पत ऐश्वर्ये। पत्यताम्। समर्थो भवतु (सुवीरतायै) समूहार्थे तल्। श्रेष्ठवीराणां हिताय (आ) आगत्य (ससद्यात्) सीदतु स कपोतः (पराङ्) अधोमुखः सन् (एव) अवधारणे (परा) दूरे (वेद) कथय, हे उलूक शत्रो (पराचीम्) परा+अञ्चु गतौ—क्विन्, ङीप्। अधोगताम् (अनु) अनुलक्ष्य (संवतम्) उपसर्गाच्छन्दसि०। पा० ५। १। ११८। इति गत्यर्थे वतिः। संगतिम् (यथा) यस्मात्कारणात् (यमस्य) न्यायिनः पुरुषस्य (त्वा) त्वाम्। उलूकम् (गृहे) न्यायालये (अरसम्) निर्बलम् (प्रतिचाकशान्) काशृ दीप्तौ, यङ्लुकि-लेट्। अवचाकशत् पश्यति कर्मा—निघ० ३। ११। जनाः प्रतिपश्येयुः (आभूकम्) सृवृभू०। उ० ३। ४१। इति आङ् ईषदर्थे+भू—कक्। असमर्थम् (प्रतिचाकशान्) प्रत्यक्षं पश्येयुः ॥

दे॒वाः । इ॒मम् । मधु॑ना । सम्-यु॑तम् । यव॑म् । सर॑स्वत्याम् । अधि॑ । म॒णौ । अ॒चर्कृ॑षुः । इन्द्रः॑ । आ॒सी॒त् । सीर॑-पतिः । श॒त-क्र॑तुः । की॒नाशाः॑ । आ॒स॒न् । म॒रुतः॑ । सु॒-दान॑वः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोगों ने (मधुना) मधुर रस वा ज्ञान से (संयुतम्) मिले हुये (इमम्) इस (यवम्) यव अन्न को (सरस्वत्याम् अधि) विज्ञान से युक्त वेद विद्या को अधिष्ठात्री मानकर (मणौ) उसके श्रेष्ठपन में (अचर्कृषुः) बार बार जोता । (शतक्रतुः) सैकड़ों कर्म वा बुद्धि वाला (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् आचार्य (सीरपतिः) हल का स्वामी (आसीत्) था और (सुदानवः) बड़े दानी (मरुतः) विद्वान् पुरुष (कीनाशाः) परिश्रमी किसान (आसन्) थे ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मवादी लोग आचार्य के उपदेश से वेदविद्या को प्रधान मान कर उसकी उत्तमता को खोज कर ऐसा आनन्द पाते हैं जैसे किसान लोग अपने स्वामी की आज्ञा से विधिपूर्वक खेत में बीज बोकर अन्न प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं ॥ १ ॥

यस्ते॒ मदो॑ऽवके॒शो वि॑के॒शो येना॑भि॒हस्यं॒ पुरु॑षं कृ॒णोषि॑ ।
आ॒रात् त्वद॒न्या वना॑नि वृक्षि॒ त्वं श॑मि श॒तव॑ल्शा॒ वि रो॑ह ॥ २ ॥

१—(देवाः) विद्वांसः (इमम्) प्रत्यक्षम् (मधुना) मधुररसेन ज्ञानेन वा (संयुतम्) सम्मिलितम् (यवम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—अप् । यवान्नवद् मोक्षसुखम् (सरस्वत्याम् अधि) अधिरीश्वरे । पा० १ । ४ । ९७ । इति अधेः कर्मप्रवचनीयत्वम् । यस्मादधिकं यस्य० । पा० २ । ३ । ९ । इति सप्तमी । विज्ञानवतीं वेदविद्यां सर्वाधिष्ठात्रीं मत्वा (मणौ) स्तुत्ये श्रेष्ठगुणे (अचर्कृषुः) कृष विलेखने यङ्लुकि लुङि । भृशं कृष्टवन्तः कर्षणेन प्राप्तवन्तः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् आचार्यः (आसीत) (सीरपतिः) हलस्य स्वामी । प्रधानकर्षकः (शतक्रतुः) क्रतुः कर्म नाम—निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९ । बहुकर्मदक्षः । बहुप्रज्ञः (कीनाशाः) अ० ३ । १७ । ५ । परिश्रमिणः कर्षकाः (आसन्) (मरुतः) अ० १ । २० । १ विद्वांसः शूराः । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ । (सुदानवः) बहुदातारः ॥

यः । ते । मदः । अव-केशः । वि-केशः । येन । अभि-हस्यम् । पुरुषम् । कृणोषि । आरात् । त्वत् । अन्या । वनानि । वृक्षि । त्वम् । शमि । शत-वल्शा । वि । रोह ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शमि) हे शान्ति करने वाली [सरस्वती !] (यः) जो (ते) तेरा (मदः) आनन्द (अवकेशः) शुद्ध प्रकाश वाला और (विकेशः) विविध प्रकाश वाला है, (येन) जिससे (पुरुषम्) पुरुष को (अभिहस्यम्) बड़ा खिलने योग्य (कृणोषि) तू करती है । (त्वत्) तुझ से (अन्या) भिन्न [अविद्यारूप] (वनानि) मांगने के कर्मों को (आरात्) दूर (वृक्षि) मैं ने छोड़ दिया है । (त्वम्) तू (शतवल्शा) सैकड़ों अंकुर वा शाखा वाली होकर (वि) विविध प्रकार से (रोह) प्रकट हो ॥ २ ॥

भावार्थ—योगी जन विद्या की प्राप्ति से अज्ञान को मिटा कर "ऋतम्भरा" बुद्धि द्वारा अनेक सुख पाते हैं ॥ २ ॥

बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि ।
मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि ॥ ३ ॥

बृहत्-पलाशे । सु-भगे । वर्ष-वृद्धे । ऋत-वरि । माता-इव । पुत्रेभ्यः । मृड । केशेभ्यः । शमि ॥ ३ ॥

२—(यः) (ते) तव (मदः) हर्षः (अवकेशः) केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद् वा प्रकाशनाद्वा—निरु० १२ । २५ । शुद्धप्रकाशः (विकेशः) विविधप्रकाशः (येन) मदेन (अभिहस्यम्) हस विकशने—यत् । अभितो हसनीयं विकाशनीयम् (पुरुषम्) (कृणोषि) करोषि (आरात्) दूरे (त्वत्) त्वत्तः (अन्या) अन्यानि । विरुद्धानि । अविद्यारूपाणि (वनानि) वनु याचने—ल्युट् । याचनानि (वृक्षि) वृजी वर्जने—लुङ्, अडभावः । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । इति सार्वधातुकाश्रयात् इटो निषेधः । अवर्जिषि । अहं वर्जितवानस्मि (त्वम्) (शमि) अ० ६ । ११ । हे शान्तिकरि सरस्वति (शतवल्शा) वल सम्वरणे—शक् । बह्वङ्कुरा बहुशाखा सती (वि) विविधम् (रोह) प्रादुर्भव ॥

भाषार्थ—(बृहत्पलाशे) हे बहुत पालन शक्ति से व्याप्त ! (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्यवाली ! (वर्षवृद्धे) हे वरणीय गुणों से बढ़ी हुई ! (ऋतावरि) हे सत्यशीला ! (शमि) हे शान्तिकारिणी सरस्वती ! (केशेभ्यः) प्रकाशों के लिये (मृड) सुखी हो, (माता इव) जैसे माता (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये ॥३॥

भावार्थ—जो मनुष्य सत्कारपूर्वक विद्या को प्राप्त करते हैं, उन्हें वह ऐसे सुख देती है जैसे माता पुत्रों को ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ३१ ॥

१-३ ॥ सार्पराज्ञी सूर्यो वा देवता । गायत्री छन्दः ॥

सूर्यस्य भूमेर्वा गुणोपदेशः । सूर्य वा भूमि के गुणों का उपदेश

आयंगौः पृश्निरक्रमीदसंदन्मातरं पुरः ।

पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

आ । अयम् । गौः । पृश्निः । अक्रमीत् । असंदत् । मातरम् । पुरः । पितरम् । च । प्र-यन् । स्वः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (गौ) चलने वा चलाने वाला, (पृश्निः) रसों वा प्रकाश का छूने वाला सूर्य (आ अक्रमीत्) घूमता हुआ है, (च) और (पितरम्) पालन करने वाले (स्वः) आकाश में (प्रयन्) चलता हुआ (पुरः)

३—(बृहत्पलाशे) पल रक्षणे—अप्+अशूङ् व्याप्तौ संघाते च-अण् । बहूनि पलानि पालनानि अश्नुते व्याप्नोति सा । तत्सम्बुद्धौ, (सुभगे) हे बह्वैश्वर्यवति (वर्षवृद्धे) वृतॄवदि० । उ०३ । ६२ । इति वृञ् वरणे—सप्रत्ययः । वर्षैर्वरणीयगुणैः प्रवृद्धे (ऋतावरि) अ० ५ । १५ । १ । हे सत्यशीले (माता इव) जननी यथा (पुत्रेभ्यः) सन्तानेभ्यः (मृड) सुखयुक्ता भव (केशेभ्यः) म० २ प्रकाशेभ्यः (शमि) हे शान्तिकारिणि सरस्वति ॥

१—(अयम्) प्रत्यक्षः (गौः) अ० १ । २ । ३ । गौरादित्यो भवति । गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे—निरु० २ । १४ । (पृश्निः) अ० २ । १ । १ । स्पृश—नि । पृश्निरादित्यो भवति......संस्प्रष्टारसान् संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां संस्पृष्टो भासेति वा—निरु० २ । १४ । (आ अक्रमीत्) समन्तात् क्रान्तवान्

सन्मुख हो कर (मातरम्) सब की बनाने वाली पृथिवी माता को (असदत्) व्यापा है ॥ १ ॥

भावार्थ—यह सूर्य अन्तरिक्ष में घूम कर आकर्षण, वृष्टि आदि व्यापारों से पृथ्वी आदि लोकों का उपकार करता है ॥ १ ॥

इस सूक्त के तीनों मन्त्र कुछ भेद से अन्य तीनों वेदों में इस प्रकार हैं ॥

वेद	पता	ऋषि	देवता
ऋग्वेद	१०।१८९।१-३	सार्पराज्ञी	सार्पराज्ञी वा सूर्य्य
यजुर्वेद	३।६-८	सार्पराज्ञी कद्रू	अग्नि
सामवेद	पू० ६।१४।४-६	सार्पराज्ञी	सूर्य्य

हमने "सार्पराज्ञी" चलने वाले और चमकने वाले सूर्य से सम्बन्ध वाली पृथ्वी और "सूर्य" को देवता मान कर सूक्त का अर्थ किया है। प्रत्येक मन्त्र के साथ महर्षि दयानन्दकृत भाष्य के अनुसार संक्षिप्त अर्थ दिखाया गया है सविस्तार उनके भाष्य में देख लेवें ॥

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका-पृष्ठ १३६, पृथिव्यादि भ्रमण-

"(अयम्) यह (गौः) पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, अथवा अन्य लोक (पृश्निः=पृश्निम्) अन्तरिक्ष में (आ अक्रमीत्) घूमता चलता है, इनमें पृथिवी (मातरम्) अपने उत्पत्ति कारण जल को तथा (पितरम्) (स्वः) पिता और अग्निमय सूर्य को (असदत्) प्राप्त होती है (च) और (पुरः) पूर्व पूर्व (प्रयन्) सूर्य के चारों ओर घूमती है। ऐसे ही सूर्य वायु पिता और आकाश माता के, तथा चन्द्रमा, अग्नि पिता और जल माता के प्रति घूमता है ॥"

यजुर्वेद—अ० ३ म० ६ ॥

"(अयम्) यह (गौः) गोलरूपी पृथिवी (पितरम्) पालन करनेवाले (स्वः) सूर्य के और (मातरम्) अपनी योनिरूप जल के (पुरः) आगे आगे (प्रयम्) चलती हुई (पृश्निः) अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में (आ अक्रमीत्) चारो ओर चलती है (च) और (असदत्) अपनी कक्षा में घूमती है ॥

भावार्थ—यह पृथ्वी अपने योनि रूप जल सहित आकर्षण करनेवाले सूर्य के चारों ओर घूमती है, उसी से दिनरात्रि, शुक्ल कृष्णपक्ष और ऋतु और अयन आदि काल विभाग उत्पन्न होते हैं ॥"

(असदत्) असीदत्। प्राप्तवान् (मातरम्) निर्मात्रीं भूमिम् (पुरः) पुरस्तात्। अग्रे (पितरम्) पालकम् (च) समुच्चये (प्रयन्) इण्—शतृ। सञ्चरन् (स्वः) अ० २।५।२। अन्तरिक्ष लोकम् ॥

अ॒न्तश्च॑रति रोच॒ना अ॒स्य प्रा॒णाद॑पान॒तः ।
व्य॑ख्यन्म॒हि॒षः स्वः॑ ॥ २ ॥

अ॒न्त॒रिति॑ । च॒र॒ति॒ । रो॒च॒ना । अ॒स्य । प्रा॒णात् । अ॒प॒ान॒तः ।
वि । अ॒ख्य॒त् । म॒हि॒षः । स्वः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्राणात्) भीतर की श्वास के पीछे (अपानतः) बाहर को श्वास निकालते हुये (अस्य) इस [सूर्य] की (रोचना) रोचक ज्योति (अन्तः) [जगत् के] भीतर (चरति) चलती है, और वह (महिषः) बड़ा सूर्य्य (स्वः) आकाश को (वि) विविध प्रकार (अख्यत्) प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सब प्राणी श्वास प्रश्वास से जीवित रह कर चेष्टा करते हैं, वैसे ही सूर्य प्रकाश का ग्रहण और त्याग करके लोकों को प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

महर्षि दयानन्दकृत भाष्य, यजुर्वेद ३ । ७ ।

"(प्राणात्) ब्रह्माण्ड और शरीर के बीच में ऊपर जाने वाले वायु से (अपानतः) नीचे को जाने वाले वायु को उत्पन्न करते हुये (अस्य) इस अग्नि की (रोचना) दीप्ति अर्थात् बिजुली (अन्तः) ब्रह्माण्ड और शरीर के मध्य (चरति) चलती है, वह (महिषः) अपने गुणों से बड़ा अग्नि (स्वः) सूर्य लोक को (व्यख्यत्) प्रकट करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—सब प्राणियों के भीतर रहने वाली अग्नि की कान्ति बिजुली प्राण और अपान के साथ मिलकर सब चेष्टाओं को सिद्ध करती है ॥"

त्रिं॒शद्धामा॒ वि रा॑जति॒ वाक् प॑त॒ङ्गो अ॑शिश्रियत् ।
प्रति॒ वस्तो॒रह॒र्द्युभिः॑ ॥ ३ ॥

२—(अन्तः) लोकमध्ये (चरति) गच्छति (रोचना) कान्तिः (अस्य) पृश्नेः—म० १ । सूर्यस्य (प्राणात्) श्वासव्यापारादनन्तरम् (अपानतः) प्रश्वासं कुर्वतः (वि) विविधम् (अख्यत्) ख्या प्रकथने—लडर्थे लुङ्, अन्तर्गतण्यर्थः । ख्यापयति प्रकाशयति (महिषः) अ० २ । ३५ । ४ । महान् सूर्यः (स्वः) आकाशम् ॥

त्रिं॒शत् । धाम॑ । वि । रा॒ज॒ति॒ । वाक् । प॒त॒ङ्गः । अ॒शि॒श्रि॒-य॒त् । प्रति॑ । वस्तोः॑ । अहः॑ । द्यु-भिः॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पतङ्गः) चलने वाला वा ऐश्वर्यवाला सूर्य (त्रिंशत् धामा) तीस धामों पर (दिन रात्रि के तीस मुहूर्तों पर) (वस्तोः, अहः) दिन दिन (द्युभिः) अपनी किरणों और गतियों के साथ (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (वि) विविध प्रकार (राजति) राज करता वा चमकता है, (वाक्) इस वचन ने [उस सूर्य में] (अशिश्रियत्) आश्रय लिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—यह बात स्वयं सिद्ध है कि यह सूर्य सर्वदा सब ओर चमकता रह कर अपनी परिधि के लोकों को गमन, आकर्षण, विकर्षण, वृष्टि, शीत, ताप आदि द्वारा स्थिर रखता है ॥ ३ ॥

दिन रात्रि के तीस मुहूर्त भगवान् मनु ने भी माने हैं—अ० १ श्लोक ६४ ॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला।
त्रिंशत् कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ १ ॥

१८ पलक की १ काष्ठा, ३० काष्ठा की १ कला, ३० कला का १ मुहूर्त, और उतने ही, ३० मुहूर्त का दिन रात होता है ॥

महर्षि दयानन्दकृत भाष्य यजुर्वेद ३ । ८ ॥

"**भाषार्थ**—(द्युभिः) प्रकाश आदि गुणों से (प्रति वस्तोः, अहः) प्रति दिन (त्रिंशत्) अन्तरिक्ष, आदित्य और अग्नि को छोड़ के पृथिवी आदि तीस (धाम) स्थानों को (पतङ्गः) चलने चलाने वाला अग्नि (वि राजति)

३—(त्रिंशत् धामा) अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्ताख्यानि धामानि स्थानानि (वि) विविधम् (राजति) अन्तर्गतण्यर्थः। राजयति शास्ति दीपयति वा (वाक्) वेदवाणी (पतङ्गः) पतेरङ्गच् पक्षिणि। उ० १। ११६। इति पत गतौ ऐश्वर्ये च—अङ्गच्। गतिशीलः। ऐश्वर्यवान् (अशिश्रियत्) णिश्रिद्रुस्रुभ्यः०। पा० ३। १। ४८। इति श्रिञ् सेवायाम्—लुङि च्लेश्चङ्। आश्रितवती (प्रति) प्रत्यक्षम् (वस्तोः) ईश्वरे तोसुन्कसुनौ। पा० ३। ४। १३। इति वस आच्छा-

प्रकाशित करता है—(वाक्) इस वचन ने [उस अग्नि में] (अशिश्रियत्) आश्रय लिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो वाणी प्राणयुक्त शरीर में रहने वाले बिजुली नाम अग्नि से प्रकाशित होती है विद्वान् लोग उसका गुण प्रकाश करने के लिये उसका नित्य उपदेश और श्रवण करें ॥ ३ ॥

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका पृष्ठ ६८ वेद विषय में तेंतीस देवता इस प्रकार लिखे हैं—८ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र; ११ ग्यारह रुद्र अर्थात् शरीरस्थ दश प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और ग्यारहवां जीवात्मा ; १२ आदित्य वा महीने; १ इन्द्र अर्थात् बिजुली, और १ प्रजापति अर्थात् यज्ञ । उक्त मन्त्र में उनमें से ऊपर लिखे तीन को छोड़ कर तीस देवताओं का ग्रहण है ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१-३ ॥ अग्निः, २ रुद्रः, ३ मित्रावरुणौ देवते ॥

१, ३ त्रिष्टुप्, २ पङ्क्तिः ॥

रक्षोनाशोपदेशः—राक्षसों के नाश का उपदेश ॥

अन्तर्दावे जुहुता स्वे३तद् यातुधानक्षयणं घृतेन ।
आराद् रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि ॥ १ ॥

अन्तः-दावे । जुहुत । सु । एतत् । यातुधान-क्षयणम् । घृतेन ।

दने-कर्त्तरि तोसुन् । दिनम्—निघ० १ । ६ (अहः) दिनम् (द्युभिः) दिवु क्रीडाविजिगीषादिषु-क्विप् । किरणैः । गतिभिः ॥

आरात् । रक्षांसि । प्रति । दुह । त्वम् । अग्ने । न । नः । गृहाणाम् । उप । तीतपासि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो] (एतत्) इस (यातुधानक्षयणम्) पीड़ा देने वालों के नाश करने वाले कर्म को (घृतेन) प्रकाश के साथ (अन्तर्दावे) भीतरी सन्ताप में (सु) अच्छे प्रकार (जुहुत) छोड़ो। (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (त्वम्) तू (रक्षांसि) राक्षसों को (आरात्) दूर करके (प्रति-दह) भस्म करदे और (नः) हमारे (गृहाणाम्) घरों का (उप) कुछ भी (न तीतपासि) मत तापकारी हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्धकारनाशक परमेश्वर के ज्ञान से विद्या का प्रकाश करके आत्मिक और शारीरिक रोगों का जड़ से नाश करें ॥ १ ॥

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः। वीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥२

रुद्रः । वः । ग्रीवाः । अशरैत् । पिशाचाः । पृष्टीः । वः । अपि । शृणातु । यातुधानाः । वीरुत् । वः । विश्वतः-वीर्या । यमेन । सम् । अजीगमत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पिशाचाः) हे मांसभक्षक ! [रोगो वा प्राणियो] (रुद्रः) दुःखनाशक सेनापति ने (वः) तुम्हारे (ग्रीवाः) गले को (अशरैत्) तोड़ डाला है, (यातुधानाः) हे पीड़ादायको ! (वः) तुम्हारी (पृष्टीः) पसलियां

१—(अन्तर्दावे) दुन्योरनुपसर्गे । पा० ३ । १ । १४२ । इति टु दु उपतापे—ण । अन्तः शत्रूणां हृदयस्य तापे (जुहुत) प्रक्षिपत (सु) सुष्ठु (एतत्) (यातुधानक्षयणम्) पीड़ाप्रदानां नाशकर्म (घृतेन) विद्यादिप्रकाशेन (आरात्) दूरे कृत्वा (रक्षांसि) राक्षसान्। रोगान् (प्रति दह) सर्वथा भस्मसात् कुरु (त्वम्) (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् (न) निषेधे (नः) अस्माकम् (गृहाणाम्) निवासानाम् (उप) हीने (तीतपासि) यङ्लुकि च्छान्दसं रूपम् । भृशं तापकरो भव ॥

२—(रुद्रः) अ० २ । २७ । ६ । दुःखनाशकः सेनापतिः (वः) युष्माकम् (ग्रीवाः) गलावयवान् (अशरैत्) शॄ हिंसायां छान्दसं लुङिरूपम् ।

(अपि) भी (शृणाति) तोड़े । (विश्वतोवीर्या) सब ओर से सामर्थ्य वाली (वीरुत्) विविध प्रकार से प्रकाशित होने वाली शक्ति [परमेश्वर] ने (वः) तुमको (यमेन) नियम के साथ (सम् अजीगमत्) संयुक्त किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा दुःखदायक शत्रु और रोगों का सदा प्रतीकार करे । उस परमात्मा ने सब के कर्मों को वेद द्वारा नियम बद्ध किया है ।२।

अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्रिणो नुदतं प्रतीचः। मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥ ३ ॥

अभयम् । मित्रावरुणौ । इह । अस्तु । नः । अर्चिषा । अत्त्रिणः । नुदतम् । प्रतीचः । मा । ज्ञातारम् । मा । प्रति-स्थाम् । विदन्त । मिथः । वि-घ्नानाः । उप । यन्तु । मृत्युम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मित्रावरुणौ) हे प्राण और अपान् ! [अथवा हे दिन और रात्रि !] (नः) हमारे लिये (इह) यहां पर (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे, [तुम दोनों अपने] (अर्चिषा) तेज से (अत्त्रिणः) खा डालने वालों को (प्रतीचः) उलटा (नुदतम्) हटा दो । वे लोग (मा) न तो (ज्ञातारम्) सन्तोषक पुरुष को और (मा) न (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (विदन्त) पावें,

---

अशारीत् । शीर्णवान् (पिशाचाः) अ० १ । १६ । ३ । हे मांसभक्षका रोगाः प्राणिनो वा (पृष्टीः) अ० २ । ७ । ५ । पार्श्वास्थीनि (अपि) एव (शृणातु) छिनत्तु (यातुधानाः) अ० १ । ७ । १ । हे पीड़ाप्रदाः (वीरुत्) अ० १ । ३२ । १ । वि+रुह प्रादुर्भावे-क्विप् । विविधं प्रादुर्भवित्री शक्तिः, परमेश्वरः (वः) युष्मान् (विश्वतोवीर्या) सर्वतःसामर्थ्या (यमेन) नियमेन (सम् अजीगमत्) इण् गम्लृ गतौ वा णिचि लुङ् । संगमितवान् ॥

३—(अभयम्) भयराहित्यम् (मित्रावरुणौ) अ० १ । २० । २ । हे प्राणापानौ । अहोरात्रे (इह) अत्र (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम् (अर्चिषा) तेजसा (अत्त्रिणः) अ० १ । ७ । ३ । भक्षकान् (नुदतम्) प्रेरयतम् (प्रतीचः) अ० ३ । १ । ४ । प्रत्यङ्मुखान् (मा) निषेधे (ज्ञातारम्) ज्ञा चुरा० तोषे-तृच् । ज्ञापयितारं सन्तोषकम् (मा) (प्रतिष्ठाम्) आश्रयम् (मा विदन्त) विद्लृ

(मिथः) आपस में (विघ्नानाः) मारते हुये (मृत्युम्) मृत्यु को (उप यन्तु) प्राप्त हों ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शारीरिक और आत्मिक बल और समय का ऐसा सुन्दर प्रयोग करें जिससे शत्रु लोग कहीं शरण न पावें और आपस में कट मरें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ गायत्री, २ अनुष्टुप्, ३ उष्णिक् ॥

सर्वलक्ष्मीप्राप्त्युपदेशः—सर्व लक्ष्मी पाने को उपदेश ॥

यस्ये॒दमा रजो॒ युज॑स्तुजे जना॒ वनं॒ स्वः॑ ।
इन्द्र॑स्य॒ रन्त्यं॑ बृ॒हत् ॥ १ ॥

यस्य॑ । इ॒दम् । आ । रजः॑ । युजः॑ । तु॒जे । जनाः॑ । वन॑म् ।
स्वः॑ । इन्द्र॑स्य । रन्त्य॑म् । बृ॒हत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस (युजः) संयोग करने वाले परमेश्वर के (तुजे) बल में (इदम्) यह (रजः) लोक, (जनाः) सब मनुष्य, (वनम्) जल (आ) और (स्वः) सूर्य्य है। (इन्द्रस्य) उस बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर का (रन्त्यम्) क्रीड़ा स्थान (बृहत्) बड़ा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा की शक्ति में यह सब संसार है, उसकी महिमा मनुष्य की समझ से बाहर है ॥ १ ॥

लाभे-लुङ्, तकारश्छान्दसः । अविदन् । मा लभन्ताम् (मिथः) परस्परम् (विघ्नानाः) युधिबुधिदृशः किच्च । उ० २ । ९० । इति हन वधे—आनच् कित् । विघातकाः (उपयन्तु) प्राप्नुवन्तु (मृत्युम्) मरणम् ॥

१—(यस्य) (इदम्) पुरोगतम् (आ) चार्थे (रजः) लोकः (युजः) ऋत्विग् दधृक् ।। पा० ३ । २ । ५९ । इति युजिर् योगे—क्विन् । संयोजकस्य परमेश्वरस्य (तुजे) तुज चुरा० बले—क । बले (जनाः) मनुष्याः (वनम्) उदकम्—निघ० १ । १२ । (स्वः) अ० २ । ५ । २ ।सु+ऋ गतौ—विच् । सूर्यः । आदित्यः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमात्मनः (रन्त्यम्) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ ।१७४। इति रमु क्रीडायाम्-क्तिच् । न क्तिचि दीर्घश्च । पा० ६ । ४ । ३९ । इति अनुनासिकलोपदीर्घयोरभावः । तत्र भवः पा० ४ । ३ । ५३ । इति यत् । क्रीड़ाभवं रमणस्थानम् (बृहत्) महत् ॥

नाधृ॑ष आ द॑धृषते धृषाणो धृ॑षि॒तः शव॑ः ।
पुरा यथा॑ व्यथिः श्रव॒ इन्द्र॑स्य॒ नाधृ॑षे॒ शव॑ः ॥ २ ॥
न । आ-धृ॒षे॒ । आ । द॒धृ॒ष॒ते॒ । धृ॒षा॒णः । धृ॒षि॒तः । शव॑ः ।
पुरा । यथा॑ । व्य॒थिः । श्रव॑ः । इन्द्र॑स्य । न । आ-धृ॒षे॒ । शव॑ः ॥२॥

भाषार्थ—(धृषितः) हारा हुआ शत्रु (धृषाणः=०-णस्य) हराने वाले [इन्द्र] का (शवः) बल (न) नहीं (आधृषे=०-ष्टे) कुछ भी हराता है, (आ) कुछ भी (दधृषते) हराता है। (यथा) क्योंकि (व्यथिः) व्यथा में पड़ा हुआ शत्रु (पुरा) निकट होकर (इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष के (श्रवः) यश और (शवः) बल को (न) नहीं (आधृषे) कुछ भी हराता है ॥ २ ॥

भावार्थ—अधर्मी दुष्ट मनुष्य धर्म्मात्मा बलवानों को कदापि नहीं हरा सकते ॥ २ ॥

स नो॑ ददातु तां र॒यिमु॒रुं पि॒शङ्ग॑संदृशम् ।
इन्द्र॒ः पति॑स्तुविष्ट॑मो जने॒ष्वा ॥ ३ ॥
सः । नः॒ । द॒दा॒तु॒ । ताम् । र॒यिम् । उ॒रुम् । पि॒शङ्ग॑-सं॒दृ॒शम् ।
इन्द्र॑ः । पति॑ः । तु॒वि-त॑मः । जने॑षु । आ ॥ ३ ॥

२—(न) निषेधे (आधृषे) धृष अभिभवे । अदादित्वं छान्दसम् । लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । आधृष्टे । ईषद्धर्षयति अभिभवति (आ) ईषदर्थे, किञ्चित् (दधृषते) धर्षयति अभिभवति (धृषाणः) युधिबुधि० । उ० २ । ९० । इति धृष अभिवे—आनच् कित् । षष्ठ्यर्थे सुः । धृषाणस्य धर्षकस्य (धृषितः) अभिभूतः (शवः) बलम्—निघ० २ । ९ (पुरा) समीपे (यथा) यस्मात् (व्यथिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति व्यथ दुःखसंचलनयोः—इन् । दुःखितः (श्रवः) श्रूयमाणं यशः (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवतो जीवस्य (न) (आधृषे) (शवः) ॥

भाषार्थ—(सः) वह (नः) हमें (उरुम्) विस्तृत (पिशङ्गसंदृशम्) अपने अवयवों को दिखाने वाली (ताम्) उस (रयिम्) लक्ष्मी को (ददातु) देवे। (आ) हां, (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् ईश्वर (पतिः) पालने वाला और (जनेषु) सब मनुष्यों में (तुविष्टमः) सब से महान् है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से सब मनुष्य विद्या, सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके आनन्दित रहें ॥ ३ ॥

(ःतुविष्टमः) के स्थान में पद पाठ में (तुवि-तमः) है ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१-५ अग्निर्देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रुओं के नाश का उपदेश ॥

प्राग्नये॒ वाच॑मीरय॑ वृष॒भाय॑ क्षि॒तीना॑म् ।
स नः॑ पर्ष॒दति॒ द्विषः॑ ॥ १ ॥

प्र । अ॒ग्नये॑ । वाच॑म् । ई॒र॒य॒ । वृ॒ष॒भाय॑ । क्षि॒तीना॑म् । सः । नः॒ । पर्ष॒त् । अति॑ । द्विषः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (क्षितीनाम्) पृथिवी आदि लोकों के बीच (वृषभाय) महाबली (अग्नये) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर के लिये (वाचम्)

३—(सः) इन्द्रः (नः) अस्मभ्यम् (ददातु) प्रयच्छतु (ताम्) प्रसिद्धाम् (रयिम्) लक्ष्मीम्। रयिः, धननाम निघ० २। १०। (उरुम्) विस्तृताम् (पिशङ्गसंदृशम्) विडादिभ्यः कित्। उ० १। १२१। इति पिश अवयवे—अङ्गच् कित्+सम्—दृशिर् दर्शने-क्विप्। स्वावयवदर्शयित्रीम्। सर्वपूर्णाम् (इन्द्रः) परमेश्वरः (पतिः) पालकः (तुविष्टमः) भुवः कित्। उ० २। ११२। इति तु वृद्धौ—इसिन् कित्, तमप्। प्रवृद्धतमः। महत्तमः (जनेषु) मनुष्येषु (आ) अङ्गीकारे समुच्चये वा ॥

१—(अग्नये) ज्ञानस्वरूपाय परमेश्वराय (वाचम्) वाणीम्। स्तुतिम् (प्र ईरय) उच्चारय (वृषभाय) अ० ४। ५। १। बलिष्ठाय (क्षितीनाम्) वसेस्तिः। उ० ४। १८०। क्षि निवासगत्योः—ति। क्षितिः पृथिवीनाम—निघ० १। १। पृथिव्यादिलोकानां मध्ये (सः) अग्निः (नः) अस्मान् (पर्षत्)

वाणी (प्र ईरय) अच्छे प्रकार उच्चारण कर, (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति=अतीत्य) उलांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) पाले ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की स्तुति पूर्वक पुरुषार्थ करके दरिद्रता आदि दुःखों को हटावें ॥ १ ॥

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥

यः । रक्षांसि । नि-जूर्वति । अग्निः । तिग्मेन । शोचिषा ।

सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अग्निः) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर (तिग्मेन) तीव्र (शोचिषा) तेज से (रक्षांसि) राक्षसों को (निजूर्वति) मार गिराता है । (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति) उलांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि के प्रकाश से अन्धकार नष्ट होता है, वैसे ही मनुष्य परमेश्वर के ज्ञान से अज्ञान मिटावें ॥ २ ॥

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥

यः । परस्याः । परा-वतः । तिरः । धन्व । अति-रोचते ।

सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो परमेश्वर (परस्याः) दूर दिशा के भी (परावतः) दूर स्थान से (धन्व) अन्तरिक्ष को (तिरः=तिरस्कृत्य) पार करके (अति-

---

पॄ पालनपूरणयोः—लेटि अडागमः । सिब् बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप् । पालयेत् । पूर्णान् कुर्य्यात् ॥

२—(रक्षांसि) राक्षसान् । दारिद्र्यादिदोषान् (निजूर्वति) जुर्व वधे । निहन्ति (तिग्मेन) तीक्ष्णेन (शोचिषा) तेजसा । अन्यद् गतम् ॥

३—(यः) परमेश्वरः (परस्याः) दूरदिशायाः (परावतः) अ० ३ । ४ । ५ ।

रोचते) अत्यन्त चमकता है। (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति) उलांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर दूर और समीप सब स्थान में हमारी रक्षा करता है ॥ ३ ॥

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥

यः । विश्वा । अभि । वि-पश्यति । भुवना । सम् । च ।

पश्यति । सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो परमेश्वर (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों को । (अभि) चारों ओर से (विपश्यति) अलग अलग देखता है (च) और (सम् पश्यति) मिले हुये देखता है। (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति) उलांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब लोकों और पदार्थों को व्यस्त और समस्त रूप से देखकर उनकी सुधि रखता है ॥ ४ ॥

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत ।

स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥

यः । अस्य । पारे । । रजसः । शुक्रः । अग्निः । अजायत ।

सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (शुक्रः) शुद्ध स्वभाव (अग्निः) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर (अस्य) इस (रजसः) अन्तरिक्ष के (पारे) पार (अजायत) प्रकट

दूरगतात् स्थानात् (तिरः) तिरस्कृत्य, अन्तर्धाय (धन्व) अ० ४ । ४ । ७ । अन्तरिक्षम्-निघ० १ । ३ । (अतिरोचते) अतिशयेन दीप्यते । अन्यद् गतम् ॥

४—(यः) परमेश्वरः (विश्वा) सर्वाणि (अभि) सर्वतः (विपश्यति) पृथक् पृथगवलोकयति (भुवना) भुवनानि (च) (सम् पश्यति) संगतानि निरीक्षते ॥

५—(यः) परमेश्वरः (अस्य) प्रत्यक्षस्य (पारे) अन्ते (रजसः)

हुआ है। (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति) उलांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर प्रत्येक स्थान में व्यापक रहकर हमारी रक्षा करता है ॥ ५ ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-३ ॥ वैश्वानरोऽग्निर्देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

यशःप्राप्त्युपदेशः—यश की प्राप्ति का उपदेश ॥

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः ।
अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ १ ॥

वैश्वानरः । नः । ऊतये । आ । प्र । यातु । परा-वतः ।
अग्निः । नः । सु-स्तुतीः । उप ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब नरों का हितकारक परमेश्वर (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (परावतः) दूर वा उत्कृष्ट स्थान से (आ) सन्मुख (प्रयातु) आवे। (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (नः) हमारी (सुष्टुतीः) यथाशास्त्र स्तुतियों को (उप=उपयातु) प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—हम सर्वान्तर्यामी परमेश्वर की महिमा जानकर उसकी स्तुति करते रहें ॥ १ ॥

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप ।
अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥ २ ॥

अन्तरिक्षलोकस्य—निघ० १ । ७ । (शुक्रः) शुद्धस्वभावः (अजायत) प्रादुरभवत् । अन्यत्पूर्ववत् ॥

१—(वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितः (नः) अस्माकम् (ऊतये) रक्षायै (आ) अभिमुखम् (प्र) प्रकर्षेण (यातु) गच्छतु (परावतः) अ० ३ । ४ । ५ । परागतात् उत्कर्षं प्राप्ताद् दूरगतात् स्थानाद् वा (अग्निः) सर्वव्यापकः (नः) अस्माकम् (सुष्टुतीः) यथाशास्त्रं स्तवान् (उप) उपयात ॥

वैश्वानरः । नः । आ । अगमत् । इमम् । यज्ञम् । स-जूः ।
उप । अग्निः । उक्थेषु । अंह-सु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब का नायक, (सजूः) प्रीति वाला (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (अंहसु) प्राप्ति योग्य (उक्थेषु) प्रकथनीय गुणों में वर्तमान होकर (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय कर्म को (उप=उपेत्य) प्राप्त करके (नः) हमको (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्व शक्तिमान् परमेश्वर की स्तुति गाकर हम सदा पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोमम्मुक्थं च चाक्लृपत् ।
ऐषु द्युम्नं स्वर्यमत् ॥ ३ ॥

वैश्वानरः । अङ्गिरसाम् । स्तोमम् । उक्थम् । च । चक्लृपत् ।
आ । एषु । द्युम्नम् । स्वः । यमत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब नरों का नायक परमेश्वर (अङ्गिरसाम्) ज्ञानी महर्षियों के (स्तोमम्) स्तुति-योग्यकर्म (च) और (उक्थम्) प्रकथनीय गुण को (चक्लृपत्) समर्थ करे । (एषु) इन [महर्षियों] में (द्युम्नम्)

२—(वैश्वानरः) सर्वनायकः (नः) अस्मान् (आ अगमत्) प्राप्तवान् (इमम्) क्रियमाणम् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (सजूः) सह+जुषी प्रीतिसेवनयोः—क्विप् । ससजुषोरुः । पा० ८ । २ । ६६ । इति रुत्वम् । र्वोरुपधाया दीर्घ इकः । पा० ८ । २ । ७६ । इति दीर्घः । जुषा सह वर्तमानः । प्रीतियुक्तः (उप) उपेत्य (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (उक्थेषु) अ० २ । १२ । २ । प्रकथनीयेषु गुणेषु (अंहसु) अहि गतौ—असुन् । प्राप्तव्येषु ॥

३—(वैश्वानरः) सर्वनरहितः (अङ्गिरसाम्) अ० २ । ५ । २ । ज्ञानिनां महर्षीणाम् (स्तोमम्) स्तुत्यं कर्म (उक्थम्) प्रकथनीयं गुणम् (च) (चक्लृपत्) कृपू सामर्थ्ये—लेट् । छान्दसं द्वित्वम् । कल्पयेत् । समर्थं कुर्यात् (एषु) अङ्गिरःसु (द्युम्नम्) तृषिशुषिरसिभ्यः कित् । उ० ३ । १२ । इति द्युत दीप्तौ—न कित्, तकारस्य मकारः । यद्वा, द्यु अभिगमने—न, मगागमः । द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा-निरु० ५ । ५ । द्योतमानं यशः । अन्नम् (स्वः)

प्रकाशमान यश वा अन्न और (स्वः) अच्छे प्रकार प्राप्तियोग्य सुख (आ) सब ओर से (यमत्) स्थिर रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वर के गुणों को जान कर पुरुषार्थ पूर्वक संसार में कीर्ति और आनन्द पाते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१-३ वैश्वानरोऽग्निर्देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् ।
अजस्रं घर्ममीमहे ॥ १ ॥

ऋत-वानम् । वैश्वानरम् । ऋतस्य । ज्योतिषः । पतिम् ।
अजस्रम् । घर्मम् । ईमहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऋतवानम्) सत्यमय, (ऋतस्य) धन के और (ज्योतिषः) प्रकाश के (पतिम्) पति (वैश्वानरम्) सब के नायक परमेश्वर से (अजस्रम्) निरन्तर (घर्म्मम्) प्रकाश को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्यमय ज्योतिःस्वरूप परमात्मा से प्रार्थनापूर्वक विद्या का प्रकाश प्राप्त करें ॥ १ ॥

स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत् सृजते वशी ।
यज्ञस्य वय उत्तिरन् ॥ २ ॥

सः । विश्वा । प्रति । चक्लृपे । ऋतून् । उत् । सृजते ।
वशी । यज्ञस्य । वयः । उत्-तिरन् ॥ २ ॥

सुष्ठु अरणीयं प्राप्तव्यं सुखम् (यमत्) यमु उपरमे—लेट् । इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ९७ । इकारलोपः । उपरमेत् । तिष्ठेत् ॥

१—(ऋतवानम्) छन्दसीवनिपौ च । वा० पा० ५ । २ । १०९ । इति मत्वर्थे—वनिप् । सत्यमयम् (वैश्वानरम्) सर्वस्य नायकम् (ऋतस्य) धनस्य —निघ० २ । १० । (ज्योतिषः) प्रकाशस्य (पतिम्) स्वामिनम् (अजस्रम्) सततम् (घर्म्मम्) अ० ४ । १ २ । प्रकाशम् (ईमहे) ईङ् गतौ, श्यनो लुक्, द्विकर्मकः, याचामहे–निघ० ३ । १९ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (विश्वा प्रति) सब लोकों में व्यापकर (चक्लृपे) समर्थ हुआ है, (वशी) वह वश में रखने वाला (यज्ञस्य) पूजनीय व्यवहार के (वयः) बल को (उत्तिरन्) बढ़ाता हुआ (ऋतून्) सब ऋतुओं को (उत्) उत्तमता से (सृजते) बनाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा मनुष्य के सुख के लिये उत्तम उत्तम पदार्थ और सब ऋतुयें बनाता है, उसकी स्तुति सदा करनी चाहिये ॥२॥

अ॒ग्निः परे॑षु॒ धाम॑सु॒ कामो॑ भू॒तस्य॒ भव्य॑स्य ।
स॒म्राडेको॒ वि रा॑जति ॥ ३ ॥

अ॒ग्निः । परे॑षु । धाम॑-सु । काम॑ः । भू॒तस्य॑ । भव्य॑स्य ।
स॒म्-राट् । एक॑ः । वि । रा॒ज॒ति॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(कामः) कामना के योग्य, (एकः) एक (सम्राट्) राजाधिराज (अग्निः) सर्वव्यापक परमात्मा (भूतस्य) बीते हुये और (भव्यस्य) होनहार काल के (परेषु) दूर दूर (धामसु) धामों में (वि) विविध प्रकार (राजति) राज करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो उस परमात्मा की उपासना करके अपनी उन्नति करो जो अकेला ही इस सब संसार का स्वामी है ॥ ३ ॥

२—(सः) परमेश्वरः (विश्वा) सर्वाणि भुवनानि (प्रति) व्याप्य (चक्लृपे) कृपू सामर्थ्ये-लिट् । समर्थो बभूव (ऋतून्) वसन्तादिकालावयवान् (उत्) उत्कर्षेण (सृजते) निर्मिमीते (वशी) वशयिता । स्वतन्त्रः (यज्ञस्य) पूजनीयव्यवहारस्य (वयः) अ० २ । १० । ३ । सामर्थ्यम् (उत्तिरन्) तॄ प्लवनतरणयोः-शतृ । ऋत इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति इकारः प्रवर्धयन् ॥

३—(अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (परेषु) दूरेषु (धामसु) स्थानेषु (कामः) कमु कान्तौ-घञ् । कमनीयः (भूतस्य) अतीतस्य (भव्यस्य) भविष्यतः कालस्य (सम्राट्) राजाधिराजः (एकः) अद्वितीयः (वि) विविधम् (राजति) ईष्टे ॥

सूक्तम् ३७ ॥

१-३ ॥ शपथो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कुवचनत्यागोपदेशः—कुवचन के त्याग का उपदेश ॥

उप प्रागात् सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम् ।
शप्तारमन्विच्छन् मम वृक इवाविमतो गृहम् ॥१॥

उप । प्र । अगात् । सहस्र-अक्षः । युक्त्वा । शपथः । रथम् ।
शप्तारम् । अनु-इच्छन् । मम । वृकः-इव । अवि-मतः । गृहम् ॥१॥

भाषार्थ—(सहस्राक्षः) सहस्रों व्यवहार में दृष्टि वाला (शपथः) शांतिपथ बताने वाला (रथम्) रथ को (युक्त्वा) जोत कर (मम) मेरे (शप्तारम्) कुवचन बोलने वाले को (अन्विच्छन्) ढूंढ़ता हुआ (उप) समीप (प्र अगात्) आया है, (इव) जैसे (वृकः) भेड़िया (अविमतः) भेड़ वाले के (गृहम्) घर में [आता है] ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा बहुदर्शी होकर कुवचन भाषियों को दण्ड देता रहे ॥१॥

परि णो वृङ्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन् ॥
शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥ २ ॥

परि । नः । वृङ्धि । शपथ । ह्रदम् । अग्निः-इव । दहन् ।
शप्तारम् । अत्र । नः । जहि । दिवः । वृक्षम्-इव । अशनिः २

भाषार्थ—(शपथ) हे शान्ति मार्ग दिखाने वाले राजन् ! (नः) हमें

१—(उप) समीपे (प्र) प्रकर्षेण (अगात्) आगतवान् (सहस्राक्षः) अ० ३ । ११ । ३ । सहस्रेषु व्यवहारेषु अक्षि दृष्टिर्यस्य सः । बहुदर्शी (युक्त्वा) संयोज्य (शपथः) अ० २ । ७ । २ । शम् शान्तिकरणे—ड+पथ गतौ—अच् । शस्य मङ्गलस्य पथो यस्मात् सः । शान्तिमार्गदर्शकः (रथम्) यानम् (शप्तारम्) शापकारिणम् । कुवचन भाषिणम् (अन्विच्छन्) अनुसृत्य गच्छन् (मम) (वृकः) हिंस्रजन्तुविशेषः (इव) यथा (अविमतः) अवीनां मेषाणां स्वामिनः पुरुषस्य (गृहम्) गेहम् ॥

२—(परि) सर्वतः (नः) अस्मान् (वृङ्धि) अ० १ । २५ । १ । वर्जय

(परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे (इव) जैसे (दहन्) जलता हुआ (अग्निः) अग्नि (हूदम्) अथाह झील को [छोड़ जाता है] । (अत्र) यहां पर (नः) हमारे (शप्तारम्) कोसने वाले को (जहि) नाश करदे, (इव) जैसे (दिवः) आकाश से (अशनिः) बिजुली (वृक्षम्) स्वीकरणीय वृक्ष को ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों के कलङ्क लगाने से धर्म्मात्माओं की रक्षा करे ॥ २ ॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ॥
शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥३॥

यः । नः । शपात् । अशपतः । शपतः । यः । च । नः । शपात्
शुने । पेष्ट्रम्-इव । अव-क्षामम् । तम् । प्रति । अस्यामि । मृत्यवे ३

भाषार्थ—(यः) जो (अशपतः) न शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे, (च) और (यः) जो (शपतः) शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे। (अवक्षामम् तम्) उस निर्बल को (मृत्यवे) मृत्यु के सामने (प्रति अस्यामि) मैं फैंके देता हूं (इव) जैसे (पेष्ट्रम्) रोटी का टुकड़ा (शुने) कुत्ते के सामने ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो अधर्मी धर्म्मात्माओं में दोष लगावें राजा उसको यथोचित दण्ड देवे ॥ ३ ॥

(शपथ) म० १ । हे शान्तिपथदर्शक (हूदम्) ह्राद खने-अच् । अगाधजलाशयम् (अग्निः) पावकः (इव) यथा (दहन्) भस्मीकुर्वन् (शप्तराम्) कुभाषिणम् (अत्र) अस्मिन् राज्ये (नः) अस्माकम् (जहि) नाशय, (दिवः) आकाशात् (वृक्षम्) स्वीकरणीयं द्रुमम् (इव) यथा (अशनिः) विद्युत् ॥

३—(यः) कुभाषणशीलः (नः) अस्मान् (शपात्) शपेत् । परुषं भाषयेत् (अशपतः) अशापिनः (शपतः) शापकारिणः (यः) (च) (नः) (शपात्) (शुने) कुक्कुराय (पेष्ट्रम्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० । ४ । १५८ । इति पिष्लृ संचूर्णने—ष्ट्रन् । रोटिकाखण्डम् (इव) यथा (अवक्षामम्) क्षायो मः । पा० ८ । २ । ५३ । इति क्षै क्षये—निष्ठातकारस्य मः । अवक्षीणां दुर्बलम् (तम्) शप्तारम् (प्रति) प्रत्यक्षम् (अस्यामि) क्षिपामि (मृत्यवे) मरणाय ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१-४ ॥ त्विषिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने के लिये उपदेश ॥

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ १ ॥

सिंहे । व्याघ्रे । उत । या । पृदाकौ । त्विषिः । अग्नौ । ब्राह्मणे । सूर्ये । या । इन्द्रम् । या । देवी । सु-भगा । जजान । सा । नः । आ । एतु । वर्चसा । सम्-विदाना ॥ १ ॥

भाषार्थ—(या) जो (त्विषिः) ज्योति (सिंहे) सिंह में, (व्याघ्रे) बाघ में (उत) और (पृदाकौ) फुंसकारते हुये सांप में, और (या) जो (अग्नौ) अग्नि में, (ब्राह्मणे) वेदवेत्ता पुरुष में और (सूर्ये) सूर्य में है। (या) जिस (देवी) दिव्य गुणवाली, (सुभगा) बड़े ऐश्वर्यवाली [ज्योति] ने (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य को (जजान) उत्पन्न किया है, (सा) वह (वर्चसा) अन्न से (संविदाना) मिलती हुई (नः) हमें (आ) आकर (एतु) मिले ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के सब बलवान् तेजस्वी पदार्थों में संयम करके ऐश्वर्य और पराक्रम प्राप्त करे ॥ १ ॥

यही भावार्थ अगले मन्त्रों भी समझो ॥

१—(सिंहे) अ० ४ । ८ । ७ । हिंसके जन्तौ (व्याघ्रे) अ० ४ । ३ । १ । शार्दूले (उत) अपि (या) (पृदाकौ) अ० ३ । २७ । ३ । कुत्सितशब्दकारिणि सर्पे (त्विषिः) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति त्विष दीप्तौ—इन् कित् । कान्तिः । उत्साहशक्तिः (अग्नौ) पावके (ब्राह्मणे) अ० २ । ६ । ३ । वेदज्ञे पुरुषे (सूर्ये) आदित्ये (या) (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्यम् (देवी) दिव्यगुणा (सुभगा) बह्वैश्वर्ययुक्ता (जजान) जनयामास (सा) त्विषिः (नः) अस्मान् (आ) आगत्य (एतु) प्राप्नोतु (वर्चसा) अन्नेन—निघ० २ । ७ । (संविदाना) अ० २ २८ । २ । संगच्छमाना ॥

या ह॒स्तिनि॑ द्वी॒पिनि॒ या हिर॑ण्ये॒ त्विषि॑र॒प्सु गोषु॑ या पुरु॑षेषु । इन्द्र॒ं या दे॒वी सुभगा॑ ज॒जान॒ सा न॒ ऐतु॒ वर्च॑सा संविदा॒ना ॥ २ ॥

या । ह॒स्तिनि॑ । द्वी॒पिनि॑ । या । हिर॑ण्ये । त्विषि॑ः । अ॒प्-सु गोषु॑ । या । पुरु॑षेषु । इन्द्र॑म् । या । दे॒वी । सु॒-भगा॑ । ज॒जान॑ । सा । न॒ः । आ । ए॒तु॒ । वर्च॑सा । स॒म्-वि॒दा॒ना ॥ २ ॥

भाषार्थ—(या) जो (त्विषिः) ज्योति (हस्तिनि) हाथी में, (द्वीपिनि) चीते में, (या) जो (हिरण्ये) सुवर्ण में, और (या) जो (अप्सु) जल में (गोषु) गौ आदिकों में और (पुरुषेषु) पुरुषों में है । (या) जिस······१॥२॥

रथे॑ अ॒क्षेष्वृ॑ष॒भस्य॒ वाजे॒ वाते॒ प॒र्जन्ये॒ वरु॑णस्य॒ शुष्मे॑ । इन्द्र॒ं या दे॒वी सुभगा॑ ज॒जान॒ सा न॒ ऐतु॒ वर्च॑सा संविदा॒ना ॥ ३ ॥

रथे॑ । अ॒क्षेषु॑ । ऋ॒ष॒भस्य॑ । वाजे॑ । वाते॑ । प॒र्जन्ये॑ । वरु॑णस्य । शुष्मे॑ । इन्द्र॑म् । या । दे॒वी । सु॒-भगा॑ । ज॒जान॑ । सा । न॒ः । आ । ए॒तु॒ । वर्च॑सा । स॒म्-वि॒दा॒ना ॥ ३ ॥

भाषार्थ--(रथे) रथ में, (अक्षेषु) पहियों में, (ऋषभस्य) बैल के (वाजे) बल में, (वाते) पवन में, (पर्जन्ये) मेघ में, और (वरुणस्य) सूर्य के (शुष्मे) सुखाने वाले सामर्थ्य में [जो ज्योति है] । (या) जिस ········ म० १ ॥ ३ ॥

२—(हस्तिनि) अ० ३ । २२ । ३ । गजेन्द्रे (द्वीपिनि) अ० ३ । ८ । ७ । चित्रके (हिरण्ये) सुवर्णे (अप्सु) उदकेषु (गोषु) गवादिपशुषु (पुरुषेषु) मनुष्येषु ॥

३—(रथे) याने (अक्षेषु) रथचक्रेषु (ऋषभस्य) बलीवर्दस्य (वाजे) बले (वाते) पवने (पर्जन्ये) अ० २ । १ । २ । मेघे (वरुणस्य) सूर्यस्य (शुष्मे) शोषके सामर्थ्ये । अन्यद्गतम् ॥

राजन्ये॑ दुन्दुभावाय॑तायामश्व॑स्य वाजे॑ पुरु॑षस्य मायौ । इन्द्रं॑ या दे॒वी सुभगा॑ जजान॒ सा न॒ ऐतु वर्च॑सा संविदा॒ना ॥

राजन्ये॑ । दुन्दुभौ । आ-य॑तायाम् । अश्व॑स्य । वाजे॑ । पुरु॑षस्य । मायौ । इन्द्र॑म् । या । दे॒वी । सु-भगा॑ । जजान॑ । सा । नः॒ । आ । एतु । वर्च॑सा । सम्-विदा॒ना ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(राजन्ये) क्षत्रिय में, (आयतायाम्) फली हुई (दुन्दुभौ) दुन्दुभी में, (अश्वस्य) घोड़े के (वाजे) बल में, (पुरुषस्य) मनुष्य के (मायौ) पित्त वा शब्द में [जो ज्योति है] (या) जिस···१ ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ जगती; २ त्रिष्टुप् ३ अनुष्टुप् ॥

यशःप्राप्त्युपदेशः—यश पाने का उपदेश ॥

यशो॑ ह॒विर्व॑र्धता॒मिन्द्र॑जूतं स॒हस्र॑वीर्यं॒ सुभृ॑तं॒ सह॑स्कृतम् । प्र॒सर्स्रा॑णमनु॑ दी॒र्घाय॒ चक्ष॑से ह॒विष्म॑न्तं मा वर्धय ज्ये॒ष्ठता॑तये ॥ १ ॥

यशः॑ । ह॒विः । व॒र्ध॒ताम् । इन्द्र॑-जूतम् । स॒हस्र॑-वीर्यम् । सु-भृ॑तम् । सहः॑-कृतम् । प्र॒-सर्स्रा॑णम् । अनु॑ । दी॒र्घाय॑ । चक्ष॑से । ह॒विष्म॑न्तम् । मा । व॒र्ध॒य । ज्ये॒ष्ठ-ता॑तये ॥ १ ॥

४—(राजन्ये) अ० ५ । १७ । ९ । क्षत्रियकुले (दुन्दुभौ) अ० ५ । २० । १ । बृहड्ढक्कायाम् (आयतायाम्) दीर्घायाम् (अश्वस्य) तुरङ्गस्य (वाजे) बले (पुरुषस्य) मनुष्यस्य (मायौ) कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । इति मेञ् प्रक्षेपणे-उण् अथवा माङ् माने शब्दे च-यु । पित्ते । शब्दे । अन्यद्गतम् ॥

भाषार्थ—(इन्द्रजूतम्) परमेश्वर का भेजा हुआ (सहस्रवीर्यम्) सहस्रों सामर्थ्यवाला (सुभृतम्) अच्छे प्रकार भरा गया (सहस्कृतम्) पराक्रम से किया गया (यशः) यश और (हविः) अन्न (वर्धताम्) बढ़े। [हे परमेश्वर !] (दीर्घाय) बड़े और (ज्येष्ठतातये) अत्यन्त प्रशंसनीय (चक्षसे) दर्शन के लिये (प्रसर्स्राणम्) आगे बढ़ने वाले और (हविष्मन्तम्) भक्तिवाले (मा) मुझको (अनु) निरन्तर (वर्धय) तू बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की प्रार्थना करके पुरुषार्थपूर्वक संसार में कीर्ति और अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करें ॥ १ ॥

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम। स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम ॥ २ ॥

अच्छ । नः । इन्द्रम् । यशसम् । यशः-भिः । यशस्विनम् । नमसानाः । विधेम । सः । नः । रास्व । राष्ट्रम् । इन्द्र-जूतम् । तस्य । ते । रातौ । यशसः । स्याम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यशसम्) यशस्वी, (यशोभिः) अपनी व्याप्तियों से (यशस्विनम्) बड़े कीर्ति वाले (इन्द्रम्) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले परमेश्वर को (नम-

---

१—(यशः) कीर्त्तिः (हविः) देवयोग्यान्नम् (वर्धताम्) समृध्यताम् (इन्द्रजूतम्) परमेश्वरेण प्रेरितम् (सहस्रवीर्यम्) बहुसामर्थ्ययुक्तम् (सुभृतम्) यथावत्पोषितम् (सहस्कृतम्) बलेन सम्पादितम् (प्रसर्स्राणम्) सृ गतौ—यङ्लुकि ताच्छील्ये चानश् । अतिप्रसरणशीलम् । उद्योगिनम् (अनु) पश्चात् । निरन्तरम् (दीर्घाय) प्रवृद्धाय (चक्षसे) दर्शनाय (हविष्मन्तम्) भक्तिमन्तम् (मा) माम् (वर्धय) समर्धय (ज्येष्ठतातये) ज्येष्ठा प्रशस्ता तातिर्विस्तारो यस्य तस्मै । यद्वा । वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च च्छन्दसि । पा० ५ । ४ । ४१ । इति प्रसंशायां तातिल् । अतिविस्तारयुक्ताय । अत्यन्तप्रसंशनीयाय ।

२—(अच्छ) सुष्ठु (नः) अस्मभ्यम् । स्वहिताय (इन्द्रम्) परमेश्वरम् (यशसम्) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति यशःसब्दात्—क्यच्

साना:) नमस्कार करते हुये हम (नः) अपने लिये (अच्छ) अच्छे प्रकार (विधेम) पूजें । (सः) वह तू (इन्द्रजूतम्) तुझ परमेश्वर से भेजा हुआ (राष्ट्रम्) राज्य (नः) हमें (रास्व) दे, (तस्य ते) उस तेरे (रातौ) दान में हम लोग (यशसा) यशस्वी (स्याम) होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की प्रार्थना और उपासना करके पुरुषार्थ करते हैं, वे संसार में कीर्ति पाते हैं ॥ २ ॥

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

यशाः । इन्द्रः । यशाः । अग्निः । यशाः । सोमः । अजायत ।
यशाः । विश्वस्य । भूतस्य । अहम् । अस्मि । यशःऽतमः ॥३॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) सूर्य (यशाः) यश वाला, (अग्निः) अग्नि (यशाः) यश वाला, और (सोमः) चन्द्रमा (यशाः) यश वाला (अजायत) हुआ है । (यशाः) यश चाहने वाला (अहम्) मैं (विश्वस्य) सब (भूतस्य) संसार के बीच (यशस्तमः) अतियशस्वी (अस्मि) हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर महायशस्वी होवे ॥ ३ ॥

क्विपि । अलोपयलोपौ । आत्मनो यश इच्छन्तम् (यशोभिः) अशेर्देवने युट् च । उ० ४ । १९१ । इति अशू व्याप्तौ—असुन्, युट् च धातोः । व्याप्तिभिः (यशस्विनम्) कीर्त्तिमन्तम् (नमसानाः) पूर्ववद् यशस्यतेः क्विपि शानच् । आत्मनेपदं छान्दसम् । नमस्यन्तः (विधेम) परिचरेम (सः) स त्वम् (नः) अस्मभ्यम् (रास्व) रासृ दाने । देहि (राष्ट्रम्) राज्यम् (इन्द्रजूतम्) परमेश्वरेण त्वया प्रेरितम् (तस्य) प्रसिद्धस्य (ते) तव (रातौ) दाने (यशसः) आत्मनो यश इच्छन्तः (स्याम) भवेम ॥

३—(यशाः) म० २ । यशस्यतेः क्विप् । यशस्कामः (इन्द्रः) सूर्य्यः (यशाः) यशस्वी (अग्निः) पावकः (सोमः) चन्द्रः (अजायत) प्रादुरभवत् (यशाः) यशस्कामः (विश्वस्य) सर्वस्य (भूतस्य) भूतजातस्य । संसारस्य (अहम्) पुरुषार्थी (अस्मि) भवामि (यशस्तमः) अतिशयेन यशस्वी ॥

सूक्तम् ४० ॥

१-३ ॥ सविता ॥ देवता १, २ जगती; ३ अनुष्टुप् ॥

शत्रुभ्यो रक्षणोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा के लिये उपदेश ॥

अभ॑यं द्यावापृथिवी इ॒हास्तु नोऽभ॑यं॒ सोमः॑ सवि॒ता नः॑ कृणोतु । अभ॑यं नोऽस्तू॒र्व॑१॒न्तरि॑क्षं सप्तऋषी॒णां च॑ ह॒विषाभ॑यं नो अस्तु ॥ १ ॥

अभ॑यम् । द्यावा॑पृ॒थि॒वी इति॑ । इ॒ह । अ॒स्तु॒ । नः॒ । अभ॑यम् । सोमः॑ । स॒वि॒ता । नः॒ । कृ॒णो॒तु॒ । अभ॑यम् । नः॒ । अ॒स्तु॒ । उ॒रु । अ॒न्तरि॑क्षम् । स॒प्त॒-ऋ॒षी॒णाम् । च॒ । ह॒विषा॑ । अभ॑यम् । नः॒ । अ॒स्तु॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी ! (इह) यहां पर (नः) हमारे लिये (अभयम) अभय (अस्तु) होवे, (सोमः) बड़े ऐश्वर्य वाला (सविता) सब का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (कृणोतु) करे । (उरु) बड़ा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे, (च) और (सप्तऋषीणाम्) सात व्यापनशीलों वा दर्शन शीलों के [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन, और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नथने, दो आंख, और मुख इन सात छिद्रों के] (हविषा) ठीक ठीक दान और ग्रहण से (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ-मनुष्य प्रयत्न करे कि संसार के सब पदार्थ और अपने शरीर के सब अवयव यथावत् उपकार करके शान्तिप्रद होवें ॥ १ ॥

१—(अभयम्) भयराहित्यम (द्यावापृथिवी) हे सूर्यभूलोकौ (इह) अत्र (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम (अभयम्) (सोमः) परमैश्वर्यवान् (सविता) सर्वोत्पादको जगदीश्वरः (नः) (कृणोतु) करोतु (अभयम्) भयरहितम् । शान्तम् (नः) (अस्तु) (उरु) विस्तीर्णम् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (सप्तऋषीणाम्) अ० ४ । ११ । ६ । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धीनाम् । अथवा, शीर्षण्यानां सप्तच्छिद्राणाम् (च) (हविषा) यथावद् दानेन ग्रहणेन च (अभयम्) (नः) (अस्तु) ॥

अस्मै ग्रामा॑य प्र॒दिश॒श्चत॑स्र॒ ऊर्जं॑ सुभू॒तं॑ स्व॒स्ति स॑वि॒ता नः॑ कृणोतु। अ॒श॒त्र्विन्द्रो॒ अभ॑यं नः कृणोत्व॒न्यत्र॒ राज्ञा॑म॒भि या॑तु म॒न्युः ॥ २ ॥

अ॒स्मै। ग्रामा॑य। प्र॒-दिशः॑। चत॑स्रः। ऊर्ज॑म्। सु॒-भू॒तम्। स्व॒-स्ति। स॒वि॒ता। नः॒। कृ॒णो॒तु। अ॒श॒त्रु। इन्द्रः॑। अभ॑यम्। नः॒। कृ॒णो॒तु। अ॒न्यत्र॑। राज्ञा॑म्। अ॒भि। या॒तु। म॒न्युः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सविता) सबका चलाने वाला परमेश्वर (अस्मै) इस (ग्रामाय) गांव के लिये और (नः) हमारे लिये (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाओं में (ऊर्जम्) पराक्रम, (सुभूतम्) बहुत धन और (स्वस्ति) कल्याण (कृणोतु) करे। (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाला परमात्मा (नः) हमारे लिये (अशत्रु) निर्वैर (अभयम्) अभय (कृणोतु) करे, (राज्ञाम्) राजाओं का (मन्युः) क्रोध (अन्यत्र) औरों पर (अभि यातु) चला जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य धर्मपूर्वक उत्तम उत्तम पदार्थ प्राप्त करके शान्त चित्त रहें और ऐसे शुभ कर्म करें जिससे राजपुरुष उनसे सदा प्रसन्न रहें ॥२

अ॒न॒मि॒त्रं नो॑ अध॒राद॑नमि॒त्रं न॒ उत्त॒रात्।
इन्द्रा॑नमि॒त्रं नः॑ प॒श्चाद॑नमि॒त्रं पु॒रस्कृ॑धि ॥ ३ ॥

अ॒न॒मि॒त्रम्। नः॒। अ॒ध॒रात्। अ॒न॒मि॒त्रम्। नः॒। उ॒त्त॒रात्। इन्द्र॑। अ॒न॒मि॒त्रम्। नः॒। प॒श्चात्। अ॒न॒मि॒त्रम्। पु॒रः। कृ॒धि॒। ॥३॥

२—(अस्मै) समीपस्थाय (ग्रामाय) जनसमूहाय (प्रदिशः) अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। प्राच्यादिदिशाः प्रति (चतस्रः) चतुः संख्यकाः (ऊर्जम्) पराक्रमम् (सुभूतम्) अ० १। ३१। ३। सुभूतिम्। प्रभूतं धनम् (स्वस्ति) क्षेमम् (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यं च (कृणोतु) करोतु (अशत्रु) शत्रुरहितम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (अभयम्) भयराहित्यम्। शान्तिम् (नः) (कृणोतु) (अन्यत्र) अन्येषु शत्रुषु (राज्ञाम्) शासकानाम् (अभि) (यातु) प्राप्नोतु (मन्युः) क्रोधः ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे महाप्रतापी परमेश्वर ! (नः) हमारे लिये (अधरात्) नीचे से (अनमित्रम्) निर्वैरता, (नः) हमारे लिये (उत्तरात्) ऊपर से (अनमित्रम्) निर्वैरता, (नः) हमारे लिये (पश्चात्) पीछे से (अनमित्रम्) निर्वैरता और (पुरः) आगे से (अनमित्रम्) निर्वैरता (कृधि) तू कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब स्थान और सब काल में शान्तिदायक कर्म करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ४१ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये ।

मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥

मनसे । चेतसे । धिये । आ-कूतये । उत । चित्तये । मत्यै । श्रुताय । चक्षसे । विधेम । हविषा । वयम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मनसे) उत्तम मनन साधन मन के लिये, (चेतसे) ज्ञान के साधन चित्त के लिये, (धिये) धारणावती बुद्धि के लिये, (आकूतये) अच्छे सङ्कल्प वा उत्साह के लिये (उत) और (चित्तये) स्मृति के हेतु विवेक के लिये, (मत्यै) समझ के लिये, (श्रुताय) श्रवण के लिये और (चक्षसे) दर्शन के लिये (वयम्) हम लोग (हविषा) भक्ति से [परमेश्वर को (विधेम) पूजें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर ज्ञान द्वारा आत्मिक शक्तियों को बढ़ा कर सदा पुरुषार्थ करें ॥ १ ॥

३—(अनमित्रम्) अमेर्द्विषति चित् । उ० ४ । १७४ । इति अम पीडने—भावे इत्रच् । निर्वैरत्वम् (नः) अस्मभ्यम् (अधरात्) अधस्तात् (उत्तरात्) उपरिदेशात् (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् जगदीश्वर (पश्चात्) अ० ४ । ४० । ३ । पृष्ठतो देशात् (पुरः) अग्रदेशात् (कृधि) कुरु । अन्यद्गतम् ॥

१—(मनसे) मननसाधनाय हृदयाय (चेतसे) चिती संज्ञाने—असुन् । ज्ञानसाधनाय चित्ताय (धिये) धारणावत्यै प्रज्ञायै (आकूतये) सङ्कल्पाय । उत्साहाय (उत) अपिच (चित्तये) स्मृतिहेतवे विवेकाय (मत्यै) ज्ञानजनन्यै शक्तये (श्रुताय) श्रवणाय (चक्षसे) दर्शनाय (विधेम) परिचरेम—इन्द्रम्, इति शेषः (हविषा) आत्मदानेन । भक्त्या (वयम्) धार्मिकाः ॥

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे ।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥ २ ॥

अपानाय । वि-आनाय । प्राणाय । भूरि-धायसे । सरस्वत्यै । उरु-व्यचे । विधेम । हविषा । वयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अपानाय) बाहिर निकलने वाले अपानवायु के लिये, (व्यानाय) शरीर में व्यापक व्यान वायु के लिये, (भूरिधायसे) अनेक प्रकार से धारण करने वाले (प्राणाय) जीवन वायु प्राण के लिये और (उरुव्यचे) दूर दूर तक फैलने वाले (सरस्वत्यै) विज्ञानवती सरस्वती [विद्या] के लिये (वयम्) हम लोग (हविषा) भक्ति से [परमेश्वर को (विधेम) पूजें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर को आत्म समर्पण करके आत्मा और शरीर से स्वस्थ रहकर अनेक प्रकार से विज्ञान प्राप्त करें ॥ १ ॥

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः । अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥ ३ ॥

मा । नः । हासिषुः । ऋषयः । दैव्याः । ये । तनू-पाः । ये । नः । तन्वः । तनू-जाः । अमर्त्याः । मर्त्यान् । अभि । नः । सचध्वम् । आयुः । धत्त । प्र-तरम् । जीवसे । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(दैव्याः) दिव्यगुण वाले (ऋषयः) व्यापनशील वा दर्शनशील [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि; अथवा दो कान

२—(अपानाय) शरीराद्बहिर्गन्त्रे वायवे (व्यानाय) शरीरव्यापकाय पवनाय (प्राणाय) जीवनसाधनाय समीराय (भूरिधायसे) अ० १ । २ । १ बहुपोषकाय (सरस्वत्यै) विज्ञानवत्यै विद्यायै (उरुव्यचे) अ० ५ । ३ । ८ उरु+वि+अच गतौ—विच् । बहुलं व्याप्नुवत्यै । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(मा हासिषुः) ओहाक् त्यागे—लुङ् । मा त्यजन्तु (नः) अस्मान् (ऋषयः) अ० ४ । ११ । ६ । व्यापनशीलाः । दर्शनशीलाः । त्वक्चक्षुःश्रवण

दो नथने, दो आंख और मुख] (नः) हमें (मा हासिषुः) न त्यागें, (ये) जो (तनूपाः) शरीर की रक्षा करने हारे और (ये) जो (नः) हमारे (तन्वः) शरीर के (तनूजाः) विस्तार के साथ उत्पन्न हुये हैं । (अमर्त्याः) हे अमर ! [नित्य उत्साहियो] (मर्त्यान्) मरते हुये [निरुत्साही] मनुष्यों के हित करने वाले (नः) हम से (अभि) सब ओर से (सचध्वम्) मिले रहो, और (नः) हमें (प्रतरम्) अधिक श्रेष्ठ (आयुः) आयु (जीवसे) जीवन के लिये (धत्त) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, विद्याप्राप्ति आदि कर्मों से हृष्ट पुष्ट रह कर संसार का उपकार करके कीर्ति पावें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र स्वामी दयानन्द कृत "संस्कार विधि, जातकर्म" में आशीर्वाद का है ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ४२ ॥

१-३ ॥ मन्युर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

क्रोधशान्त्युपदेशः—क्रोध की शान्ति के लिये उपदेश ॥

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः ।
यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै ॥ १ ॥

अव । ज्याम्-इव । धन्वनः । मन्युम् । तनोमि । ते । हृदः ।
यथा । सम्-मनसौ । भूत्वा । सखायौ-इव । सचावहै ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (हृदः) हृदय से (मन्युम्) क्रोध

रसन घ्राणमनो बुद्धयः । अथवा । शीर्षण्यानि सप्तच्छिद्राणि (दैव्याः) अ० २ । २ । २ । दिव्यगुणयुक्ताः (ये) ऋषयः (तनूपाः) तन्वाः शरीरस्य पातारः (ये) (नः) अस्माकम् (तन्वः) शरीरस्य (तनूजाः) तन्वा विस्तृत्या सह जाताः (अमर्त्याः) अ० ४ । ३७ । १२ । अमराः । नित्योत्साहिनः (मर्त्यान्) अ० ४ । ३७ । १२ । मर्तेभ्यो मनुष्येभ्यो हितान् (अभि) अभितः (नः) अस्मान् (सचध्वम्) समवेत (आयुः) जीवनम् (धत्त) डुधाञ् धारणपोषणदानेषु । दत्त (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (जीवसे) जीवनाय (नः) अस्मभ्यम् ॥

१—(ज्याम्) अ० १ । १ । ३ । मौर्वीम् (इव) यथा (धन्वनः)

को (अव तनोमि) मैं उतारता हूं, (इव) जैसे (धन्वनः) धनुष से (ज्याम्) डोरी को। (यथा) जिस से (संमनसौ) एकमन (भूत्वा) होकर (सखायौ इव) दो मित्रों के समान (सचावहै) हम दोनों मिले रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को ईर्ष्या द्वेष छोड़कर सदा मित्र होकर रहना चाहिये ॥ १ ॥

सखा॑याविव सचावहा॒ अव॑ म॒न्युं त॑नोमि ते ।

अ॒धस्ते॒ अश्म॑नो म॒न्युमु॒पास्या॑मसि॒ यो गु॒रुः ॥ २ ॥

सखा॑यौ-इव । स॒चा॒व॒है॒ । अव॑ । म॒न्युम् । त॒नो॒मि॒ । ते॒ । अ॒धः । ते॒ । अश्म॑नः । म॒न्युम् । उप॑ । अ॒स्या॒म॒सि॒ । यः । गु॒रुः ॥२॥

भाषार्थ—(सखायौ इव) दो मित्रों के समान (सचावहै) हम दोनों मिले रहें, (ते) तेरे (मन्युम्) क्रोध को (अव तनोमि) मैं उतारता हूं। (ते) तेरे (मन्युम्) क्रोध को (अश्मनः) उस पत्थर के (अधः) नीचे (उप अस्यामसि) दबाकर हम गिराते हैं (यः) जो (गुरुः) भारी [पत्थर] है ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य क्रोध छोड़कर परस्पर प्रीति से रहें ॥ २ ॥

अ॒भि ति॑ष्ठामि ते म॒न्युं पार्ष्ण्या॒ प्रप॑देन च ।

यथा॑व॒शो न वा॒दिषो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ ३ ॥

अ॒भि । ति॒ष्ठा॒मि॒ । ते॒ । म॒न्युम् । पार्ष्ण्या॑ । प्र-प॑देन । च॒ । यथा॑ । अ॒व॒शः । न । वा॒दिषः॑ । मम॑ । चि॒त्तम् । उ॒प-आय॑सि ॥३॥

धनुषः (मन्युम्) क्रोधम् (अव तनोमि) अवरोपयामि । अवतरामि (ते) तव (हृदः) हृदयात् (यथा) येन प्रकारेण (संमनसौ) समानमनस्कौ परस्परानुरागिणौ (भूत्वा) (सखायौ) सुहृदौ (सचावहै) षच समवाये—लोट् । समवेतौ नित्यसंगतौ भवाव ॥

२—पूर्वार्धो यथा म० १ । (अधः) अधस्तात् (ते) तव (अश्मनः) पाषाणस्य (मन्युम्) क्रोधम् (उप) उपेत्य (अस्यामसि) क्षिपामः (यः) अश्मा (गुरुः) भारोपेतः ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (मन्युम्) क्रोध को [तेरी] (पार्ष्ण्या) एड़ी से (च) और (प्रपदेन) ठोकर से (अभि तिष्ठामि) मैं दबाता हूं। (यथा) जिस से (अवशः) परवश (न=न भूत्वा) न होकर (वादिषः) तू बात चीत करे, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उप-आयसि) तू पहुंच करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य क्रोधवश न होकर परस्पर शान्त चित्त रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४३ ॥

१-३ ॥ दर्भो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

क्रोधशमनोपदेशः—क्रोध की शान्ति के लिये उपदेश ॥

अयं दुर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च ।
मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥ १ ॥

अयम् । दुर्भः । वि-मन्युकः । स्वाय । च । अरणाय । च । मन्योः । वि-मन्युकस्य । अयम् । मन्यु-शमनः । उच्यते ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (दर्भः) दर्भ अर्थात् दुःख नाश करने वाला वा सुकर्म गूथने वाला पुरुष (स्वाय) अपने समुदाय के लिये (च च) और (अरणाय) प्राप्ति योग्य शूद्र अन्त्यज आदि के लिये (विमन्युकः) क्रोध हटाने वाला है।

३—(अभि तिष्ठामि) अभिभवामि (ते) तव (मन्युम् क्रोधम्) (पार्ष्ण्या) पादापरभागेन (प्रपदेन) पादाग्रेण (यथा) येन प्रकारेण (अवशः) परवशः। क्रोधवशः (न) न भूत्वा (वादिषः) वदेर्लेटि अडागमः, सिप् च। त्वं ब्रूयाः (मम) (चित्तम्) अन्तःकरणम् (उप—आयसि) अ० १। ३४। २। उपागच्छसि। आदरेण सर्वतः प्राप्नोसि ॥

१—(अयम्) पुरोवर्ती (दर्भः) दॄदलिभ्यां भः। उ० ३। १५१। इति दॄ विदारणे—भ। यद्वा। दृभो ग्रन्थे—घञ्। दुःखविदारकः। सुकर्मग्रन्थकः (विमन्युकः) शेषाद् विभाषा। पा० ५। ४। १५४। इति कप्। वि विगमितो मन्युर्येन सः। क्रोधनिवारकः (स्वाय) ज्ञातये (च च) समुच्चये (अरणाय) ऋ गतौ—ल्यु। प्राप्तव्याय शूद्रान्त्यजादये (मन्योः) मतुपो लोपः। मन्यु

(अयम्) यह (मन्योः) क्रोधी का (विमन्युकः) क्रोध दूर करने वाला और (मन्युशमनः) क्रोध शान्ति करनेवाला (उच्यते) कहा जाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि बड़े और छोटों से शान्त चित्त होकर बर्ताव करें ॥ १ ॥

(दर्भ) अर्थात् कुश घास औषध विशेष भी है जो वात पित्त कफ त्रिदोष आदि रोग नाश करता है ॥

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति ।
दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥ २ ॥

अयम् । यः । भूरि-मूलः । समुद्रम् । अव-तिष्ठति । दर्भः । पृथिव्याः । उत्थितः । मन्यु-शमनः । उच्यते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (यः) जो (भूरिमूलः) बहुत प्रतिष्ठा वाला होकर (समुद्रम्) अन्तरिक्ष लोक तक (अवतिष्ठति) फैलता है । (दर्भः) वह दर्भ सुकर्मों का गूथने वाला पुरुष (पृथिव्याः) पृथिवी से (उत्थितः) उठकर (मन्युशमनः) क्रोध शान्त करने वाला (उच्यते) कहा जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विवेक द्वारा प्रतिष्ठित होकर अन्तरिक्ष आदि लोक तक अधिकार जमाता है, वह संसार में यशस्वी और शान्त चित्त माना जाता है ॥ २ ॥

वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि ।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

वि । ते । हनव्याम् । शरणिम् । वि । ते । मुख्याम् । नयामसि ।

मतः पुरुषस्य (विमन्युकस्य) सुपां सुपो भवन्तीतिवक्तव्यम् । वा० पा० ७ । १ । ३६ । इति प्रथमार्थे षष्ठी । विमन्युकः । क्रोधनिवारकः (अयम्) (मन्युशमनः) क्रोधशान्तिकरः (उच्यते) अभिधीयते ॥

२—(अयम्) (यः) दर्भः (भूरिमूलः) मूल प्रतिष्ठायां गोपरो स-क बहुप्रतिष्ठितः सन् (समुद्रम्) अ० १ । ३ । ८ । अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ । (अवतिष्ठति) व्याप्य वर्तते (दर्भः) म० १ । सुकर्मणां ग्रन्थकः (पृथिव्याः) भूमेः शकाशात् (उत्थितः) उपरि स्थितः सन् । अन्यत्पूर्ववत् ॥

यथा । अवशः । न । वादिषः । मम । चित्तम् । उप-आयसि ॥३॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (हनव्याम्) ठोड़ी में वर्त्तमान और (ते) तेरे (मुख्याम्) मुख पर वर्त्तमान (शरणिम्) हिंसा के चिह्न को (वि वि नयामसि) सर्वथा हम हटाते हैं। (यथा) जिससे (अवशः) परवश (न= न भूत्वा) न होकर (वादिषः) तू बात चीत करे, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उप आयसि) तू पहुंच करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर के सब अङ्गों से सुचेष्टा करके सबका प्रिय रहे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४४ ॥

१-३ ॥ मनुष्यो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ बृहती ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥ १ ॥

अस्थात् । द्यौः । अस्थात् । पृथिवी । अस्थात् । विश्वम् । इदम् । जगत् । अस्थुः । वृक्षाः । ऊर्ध्व-स्वप्नाः । तिष्ठात् । रोगः । अयम् । तव ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यौः) सूर्य लोक (अस्थात्) ठहरा है, (पृथिवी) पृथिवी (अस्थात्) ठहरी है, (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) जगत् (अस्थात्)

३—(ते) तव (हनव्याम्) शरीरावयवाच्च । पा० ४ । ३ । ५५ । इति हनु-यत् । ओर्गुणः । पा० ६ । ४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६ । १ । ७९ । इति अवादेशः । हनौ वर्तमानाम् (शरणिम्) अर्त्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । इति शॄ हिंसायाम्-अनि । हिंसालक्षणम् (मुख्याम्) मुख-यत् पूर्ववत् । मुखे वर्त्तमानाम् (वि वि नयामसि) सर्वथा विनयामः । अपगमयामः । अन्यद् गतम्-सू० ४२ । म० ३ ॥

१—(अस्थात्) स्थिरोऽभूत् (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (अस्थात्) (पृथिवी) विस्तृता भूमिः (अस्थात्) (विश्वम्) सर्वम् (इदम्) दृश्यमानम्

ठहरा है। (ऊर्ध्वस्वप्नाः) ऊपर को मुख करके सोने वाले (वृक्षाः) वृक्ष (अस्थुः) ठहरे हुये हैं, [ऐसे ही] (तव) तेरा (अयम्) यह (रोगः) रोग (तिष्ठात्) ठहर जावे [और न बढ़े] ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे संसार के सब लोक परस्पर धारण और आकर्षण द्वारा अपनी अपनी कक्षा और परिधि में स्थित हैं, वैसे ही मनुष्य अपने दोषों को नियम में रक्खें ॥ १ ॥

श॒तं या भे॑ष॒जानि॑ ते स॒हस्रं॒ संग॑तानि च ।

श्रेष्ठ॑मास्राव॒भेष॒जं वसि॑ष्ठं रोग॒नाश॑नम् ॥ २ ॥

श॒तम् । या । भे॒ष॒जानि॑ । ते॒ । स॒हस्र॑म् । सम्-ग॑तानि । च॒ ।

श्रेष्ठ॑म् । आ॒स्रा॒व-भे॒ष॒जम् । वसि॑ष्ठम् । रो॒ग॒-नाश॑नम् ॥ २

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (या) जो (शतम्) सौ (च) और (सहस्रम्) सहस्र (भेषजानि) ओषधियां (संगतानि) परस्पर मेल वाली हैं, [उनमें से] (वसिष्ठम्) अतिशय धनी वा निवास करने वाला ब्रह्म (श्रेष्ठम्) अति श्रेष्ठ (आस्रावभेषजम्) रुधिर के बहाव वा घाव की औषध और (रोगनाशनम्) रोगों का नाश करने वाला है ॥ २ ॥

भावार्थ—योगीजन सब पदार्थों से गुण ग्रहण करके उस परब्रह्म की आज्ञा पालन से सदा स्वस्थ और सुखी रहते हैं ॥ २ ॥

(जगत्) लोकः (अस्थुः) स्थिता अभूवन् (वृक्षाः) पादपाः (ऊर्ध्वस्वप्नाः) उपरिमुखाः सन्तो निद्रालवः (तिष्ठात्) गतिनिवृत्तो भूयात् (रोगः) शारीरिको मानसिको वा व्याधिः (अयम् तव) ॥

२—(शतम्) (या) यानि (भेषजानि) भयनिवर्त्तकानि । औषधानि (ते) तुभ्यम् (सहस्रम्) बहूनि (संगतानि) परस्परमिलितानि (च) (श्रेष्ठम्) सर्वेषां प्रशस्ततमम् (आस्रावभेषजम्) आस्रावः—अ० १ । २ । ४ आङ्+स्रु स्रवणे-ण । आस्रावस्य रुधिरादिस्रवणस्य आघातस्य चौषधम् (वसिष्ठम्) अ० ४ । २६ । ३ । अतिशयेन धनयुक्तम् । वस्तृतमं ब्रह्म (रोगनाशनम्) सर्वव्याधिनाशकम् ॥

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः । विषाणका नाम वा असि पितृणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥३॥

रुद्रस्य । मूत्रम् । असि । अमृतस्य । नाभिः । वि-सानका । नाम । वै । असि । पितृणाम् । मूलात् । उत्थिता । वातीकृत-नाशनी ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष] (रुद्रस्य) रुलाने वाले भीषण क्लेश का (मूत्रम्) छुड़ाने वा बन्ध करने वाला बल और (अमृतस्य) अमरपन वा मुक्ति का (नाभिः) मध्यस्थ (असि) तू है । (विषाणका) विषाणका, विविध भक्ति का उपदेश करने वाली (नाम) प्रसिद्ध (पितृणाम्) पालन करने वाले गुणों के (मूलात्) मूल से [आदि कारण परमेश्वर से] (उत्थिता) प्रकट हुई और (वातीकृतनाशनी) हिंसा कर्म की नाश करने वाली शक्ति (वै) निश्चय करके (असि) तू है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अनेक क्लेशों को सहते हैं और परमेश्वर का विश्वास करते हैं, वे ही सब प्रकार का सुख प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

विषाण और विषाणिका ओषधि विशेष भी हैं ॥

३—(रुद्रस्य) रोदेर्णिलुक् च । उ० २ । २२ । इति रोदयतेः—रक् । रुद्रो रौतीति सतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा । निरु० १० । ५ । रोदकस्य भीषणक्लेशस्य (मूत्रम्) सिविमुच्योष्टेरू च । उ० ४ । १६३ । इति मुच्लृ मोक्षणे—ष्ट्रन् , टेः ऊ । यद्वा, मूबन्धने—ष्ट्रन् । मोचकम् । मावकं बन्धकं बलम् (अमृतस्य) मोक्षस्य (नाभिः) मध्यस्थानम् (विषाणका) वि+षण सम्भक्तौ-घञ् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति विषाण+कै शब्दे-क । टाप् । उपपदमतिङ् । पा० २ । २ । १६ । इति समासः । विषाणं विविधं सम्भजनं काययति कथयति या सा शक्तिः (नाम) प्रसिद्धौ (वै) निश्चयेन (असि) (पितृणाम्) पालकगुणानाम् (मूलात्) आदिकारणात् परमेश्वरात् (उत्थिता) प्रादुर्भूता (वातीकृतनाशनी) वातेर्नित् । उ० ५ । ६ । इति वा गतिहिंसनयोः—अति । छान्दसो दीर्घः । वातेर्हिंसायाः कृतस्य कर्मणो नाशयित्री ॥

सूक्तम् ४५ ॥

१-३ ॥ अग्निरिन्द्रो वा देवता ॥ १ पथ्या पङ्क्तिः; २ त्रिष्टुप्; ३ अनुष्टुप ॥

मानसिकपापनाशोपदेशः—मानसिक पाप के नाश का उपदेश ॥

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥१॥

परः। अप। इहि। मनः-पाप। किम्। अशस्तानि। शंससि। परा। इहि। न। त्वा। कामये। वृक्षान्। वनानि। सम्। चर। गृहेषु। गोषु। मे। मनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मनस्पाप) हे मानसिक पाप ! (परः) दूर (अप इहि) हट जा, (किम्) क्या (अशस्तानि) बुरी बातें (शंससि) तू बताता है। (परा इहि) दूर चला जा, (त्वा) तुझको (न कामये) मैं नहीं चाहता, (वृक्षान्) वृक्षों और (वनानि) वनों में (सम् चर) फिरता रह, (गृहेषु घरों में और (गोषु) गौ आदि पशुओं में (मे) मेरा (मनः) मन है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वानों को योग्य है कि वनचर डाकू आदियों के समान दुष्कर्मों में अपना मन न लगावें, किन्तु सत्य व्यवहारी होकर परस्पर रक्षा करें॥ १ ॥

अवशसा निःशसा यत् पराशसोपारिम जाग्रतो यत्

१—(परः) परस्तात्। दूरदेशे (अपेहि) अपगच्छ (मनस्पाप) हे मनसि चेतसि वर्तमान पाप (किम्) निन्दायाम् (अशस्तानि) अशोभनानि कर्माणि (शंससि) कथयसि (परेहि) दूरे गच्छ (न) निषेधे (त्वा) त्वाम्) (कामये) अभिलष्यामि (वृक्षान्) वृक्षवासिनः पुरुषान्-इत्यर्थः (वनानि) वनचरान् दस्य्वादीनिति यावत् (सं चर) सम्यक् प्राप्नुहि (गृहेषु) गृहावस्थितेषु जनेषु (गोषु) गवादिपशुषु, तेषां रक्षण इत्यर्थः (मे) मम (मनः) अन्तःकरणम् ॥

स्वपन्तः । अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥ २ ॥

अव-शसा । निः-शसा । यत् । परा-शसा । उप-आरिम । जाग्रतः । यत् । स्वपन्तः । अग्निः । विश्वानि । अप । दुः-कृतानि । अजुष्टानि । आरे । अस्मत् । दधातु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो पाप (अवशसा) विश्वास घात से (निःशसा) घृणा से, और (पराशसा) अपवाद से, अथवा (यत्) जो पाप (जाग्रतः) जागते हुये वा (स्वपन्तः) सोते हुये (उपारिम) हम ने किया है। (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (विश्वानि) सब (अजुष्टानि) अप्रिय (दुष्कृतानि) दुष्कर्मों को (अस्मत्) हम से (आरे) दूर (अप दधातु) हटा रक्खे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् न्यायकारी परमेश्वर का भय मानकर कभी कोई दुष्कर्म न करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६४ । ३ ॥

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि ।
प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥ ३ ॥

यत् । इन्द्र । ब्रह्मणः । पते । अपि । मृषा । चरामसि । प्रचेताः । नः । आङ्गिरसः । दुः-इतात् । पातु । अंहसः ॥३॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणस्पते) हे बड़े बड़े लोकों के स्वामी (इन्द्र) सम्पूर्ण

२—(अवशसा) शंसु हिंसायाम्—क्विप् । अपशसनेन । विश्वासघातेन (निःशसा) नितरां हिंसनेन । अतिघृणया (यत्) यत्किंचित् पापम् (पराशसा) पराङ्मुखहिंसनेन अपवादेन (उप—आरिम) ऋ गतौ—लिट् । वयं समीपे प्राप्तवन्तः । कृतवन्तः (जाग्रतः) जागृ निद्राक्षये—शतृ । जागरदवस्थापन्नाः (स्वपन्तः) निद्रावस्थां प्राप्ताः (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (विश्वानि) सर्वाणि (अप) अपकृष्य (दुष्कृतानि) दुष्कर्माणि (अजुष्टानि) अप्रियाणि (आरे) दूरे (अस्मत्) अस्मत्तः (दधातु) स्थापयतु ॥

३—(यत् अपि) यत् किञ्चिदपि पापम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जग-

ऐश्वर्यवाले जगदीश्वर ! (यत् अपि) जो कुछ भी पाप (मृषा) असत्य व्यवहार से (चरामसि) हम करें । (आङ्गिरसः) ज्ञानियों का हितकारी (प्रचेताः) बड़ी बुद्धि वाला परमात्मा (नः) हमें (दुरितात्) दुर्गति और (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य न्यायकारी परमात्मा का ध्यान रखते हैं, वे पापों से बचकर सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ४६ ॥

१-३ ॥ स्वप्नो देवता ॥ १ बृहती; २ विद्म त इत्यनुष्टुप्, तं त्वेति बृहती; ३ अनुष्टुप् ॥

स्वप्नगुणोपदेशः—स्वप्न के गुणों का उपदेश ॥

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न । वरुणानी ते माता यमः पिताररुर्नामासि ॥ १ ॥

यः । न । जीवः । असि । न । मृतः । देवानाम् । अमृत-गर्भः । असि । स्वप्न । वरुणानी । ते । माता । यमः । पिता । अररुः । नाम । असि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न ! (यः) जो तू (न) न तो (जीवः) जीवित और (न) न (मृतः) मृतक (असि) है, [परन्तु] (देवानाम्)

दीश्वर (ब्रह्मणस्पते) बृहतां लोकानां पालक (मृषा) असत्यव्यवहारेण (चरामसि) चरामः । वयं कुर्मः (प्रचेताः) प्रकृष्टज्ञानोपेतः परमेश्वरः (नः) अस्मान् (आङ्गिरसः) अङ्गिरस्-अण् । अङ्गिरोभ्यो ज्ञानिभ्यो हितः (दुरितात्) दुर्गतेः । कष्टात् (पातु) रक्षतु (अंहसः) पापात् ॥

१—(यः) यस्त्वम् (न) निषेधे (जीवः) प्राणधारकः (असि) (न) (मृतः) मृतकः । त्यक्तप्राणः (देवानाम्) इन्द्रियाणाम् (अमृतगर्भः) अमरणस्य सुखस्य गर्भ आधारः (असि) (स्वप्न) स्वपो नन् । पा० ३ । ३ । ९१ । इति ञिष्वप् शये—नन् । यद्वा । कॄवृजॄ० । उ० ३ । १० । इति नन् । हे निद्रे (वरुणानी) वृणोति आच्छादयतीति वरुणः, अन्धकारः-अ० १ । ३ । ३ । इन्द्र-वरुणभवशर्व० । पा० ४ । १ । ४९ । इति वरुण—ङीषानुकौ । वरुणस्य अन्ध-

इन्द्रियों के (अमृतगर्भः) अमरपन का आधार (असि) तू है। (वरुणानी) वरुण अर्थात् ढकने वाले अन्धकार की शक्ति, रात्रि (ते) तेरी (माता) माता और (यमः) नियम में चलाने वाला सूर्य (पिता) पिता है, और तू (अररुः) हिंसक (नाम) नाम (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—स्वप्न अवस्था में शरीर के कुछ अंग चेष्टा करते रहते हैं और कुछ चेष्टा बिना हो जाते हैं, इससे स्वप्न जीवन और मरण के बीच में है। स्वप्न इन्द्रियों को सुख देता है अर्थात् दिन में परिश्रम करने वालों को रात्रि में सोने से सुख मिलता है परन्तु नियम विरुद्ध सोने से आयु घटती है॥१

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः। अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात् पाहि ॥ २ ॥

विद्म। ते। स्वप्न। जनित्रम्। देव-जामीनाम्। पुत्रः। असि। यमस्य। करणः। अन्तकः। असि। मृत्युः। असि। तम्। त्वा। स्वप्न। तथा। सम्। विद्म। सः। नः। स्वप्न। दुः-स्वप्न्यात्। पाहि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्म स्थान को (विद्म) हम जानते हैं, तू (देवजामीनाम्) इन्द्रियों की गतियों का (पुत्रः) शुद्ध करने वाला और (यमस्य) नियम का (करणः) बनाने वाला (असि) है। तू (अन्तकः) अन्त करने वाला (असि) है, और तू (मृत्युः) मरण

कारस्य पत्नी पालयित्री शक्तिः। रात्रिः (ते) तव (माता) जननी (यमः) नियामकः सूर्यः (पिता) पालकः। जनकः (अररुः) अर्तेररुः। उ० ४। ७९। इति ऋ गतिहिंसनयोः—अरु। हिंसकः। वयोनाशकः (असि)॥

२—(विद्म) जानीमः (ते) तव (स्वप्न) म० १। हे निद्रे (जनित्रम्) अ० १। २५। १। जन्मस्थानम् (देवजामीनाम्) नियो मिः। उ० ४। ४३। इति या प्रापणे—मि, यस्य जः। इन्द्रियाणां जामीनां गतीनाम् (पुत्रः) अ० १। ११। ५। पुनातीति यः सः। पावकः। शोधकः (असि) (यमस्य) नियमस्य

करने वाला (असि) है। (स्वप्न) हे स्वप्न ! (तम्) उस (त्वा) तुझको (तथा) वैसा ही (सम्) अच्छे प्रकार (विद्म) हम जानते हैं, (सः) सो तू (स्वप्न) हे स्वप्न ! (नः) हमें (दुःस्वप्न्यात्) बुरी निद्रा में उठे कुविचार से (पाहि) बचा ॥ २॥

भावार्थ—जो मनुष्य सदा धर्म कर्म में लगे रहते हैं उनके हृदय में सोते समय भी कुविचार नहीं आते ॥ २ ॥

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति ।
एवा दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते सं नयामसि ॥ ३ ॥

यथा । कलाम् । यथा। शफम् । यथा । ऋणम् । सम्-नयन्ति । एव । दुः-स्वप्न्यम् । सर्वम् । द्विषते । सम् । नयामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा यथा) जैसे जैसे (कलाम्) सोलहवां अंश और (यथा) जैसे (शफम्) आठवां अंश [देकर] (ऋणम्) ऋण को (संनमयन्ति) लोग चुकाते हैं। (एव) वैसे ही (सर्वम्) सब (दुःस्वप्न्यम्) नींद में उठे बुरे विचार को (द्विषते) वैरी के लिये (सम् नयामसि) हम यथावत् छोड़ते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य अपने आय का सोलहवां वा आठवां अंश देकर ऋण चुकाते हैं वैसे ही स्वप्न के कुविचारों को वैरी पर छोड़ते हैं ॥ ३ ॥

(करणः) करोतेः—ल्युट् । कर्ता (अन्तकः) तत्करोती त्युपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । १ । २६ । इति अन्त, णिच्—ण्वुल् । अन्तयतीति अन्तकः । अन्तकरः (असि) (मृत्युः) मरणकर्ता (तम्) तादृशम् (त्वा) त्वाम् (स्वप्न) (तथा) तेन प्रकारेण (सम्) सम्यक् (सः) स त्वम् (नः) अस्मान् (दुःस्वप्न्यात्) अ० ४ । ६ । ६ । दुःस्वप्न—यत् । दुर् दुष्टेषु स्वप्नेषु भवात् कुविचारात् ॥

३—(यथ यथा) येनैव प्रकारेण (कलाम्) आयस्य षोडशांशम् (शफम्) गवादिपादचतुष्टयस्य द्विखुरत्वाद् एकस्य खुरस्याष्टमांशग्रहणम् । अष्टमांशम् (ऋणम्) पुनर्देयत्वेन गृहीतं धनम् (संनमयन्ति) सम्प्रदानेन गमयन्ति (एव) एवम् (दुःस्वप्न्यम्) कुनिद्राभवं विचारम् (सर्वम्) (द्विषते) द्वेष्टे जनाय (सम्) सम्यक् (नयामसि) प्रापयामः ॥

सूक्तम् ४७ ॥

१-३ ॥ १ अग्निः; २, ३ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

अ॒ग्निः प्रा॒तःस॑व॒ने पा॑त्व॒स्मान् वै॑श्वान॒रो वि॑श्व॒कृद् वि॒श्वशं॑भूः । स नः॑ पाव॒को द्रवि॑णे दधा॒त्वायु॑ष्मन्तः स॒हभ॑क्षाः स्याम ॥ १ ॥

अ॒ग्निः । प्रा॒तः-स॒व॒ने । पा॒तु॒ । अ॒स्मान् । वै॒श्वा॒न॒रः । वि॒श्व॒-कृ॒त् । वि॒श्व-शं॑भूः । सः । नः॒ । पा॒व॒कः । द्रवि॑णे । द॒धा॒तु॒ । आयु॑ष्मन्तः । स॒ह-भ॑क्षाः । स्या॒म॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी, (विश्वकृत्) जगत् का बनाने वाला, (विश्वशंभूः) संसार को सुख पहुंचाने वाला (अग्निः) सर्व व्यापक परमेश्वर (प्रातः सवने) प्रातःकाल के यज्ञ में (अस्मान्) हमारी (पातु) रक्षा करे। (सः) वह (पावकः) शुद्ध करने वाला जगदीश्वर (नः) हमको (द्रविणे) धन के बीच (दधातु) रक्खे, (आयुष्मन्तः) उत्तम आयु वाले और (सहभक्षाः) साथ साथ भोजन करने वाले (स्याम) हम रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के महा उपकारों को देखकर पुरुषार्थ करके धन प्राप्त करें और परस्पर सहायक होकर सुख भोगें ॥ १ ॥

विश्वे॑ दे॒वा म॒रुत॒ इन्द्रो॑ अ॒स्मान॒स्मिन् द्वि॒तीये॒ सव॑ने

१—(अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (प्रातः सवने) प्रातःकालस्य यज्ञे (पातु) रक्षतु (अस्मान्) धार्मिकान् (वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्व-नरहितः (विश्वकृत्) सर्वस्य जगतः कर्ता (विश्वशंभूः) भू—क्विप् । सर्वस्मिन् जगति सुखस्य भावयिता (सः) परमेश्वरः (नः) अस्मान् (पावकः) शोधकः (द्रविणे) अ० २ । २९ । ३ । धने (दधातु) धरतु (आयुष्मन्तः) प्रशस्तेन जीवनेन युक्ताः (सहभक्षाः) सहभोजनाः (स्याम) भवेम ॥

न जंह्युः । आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ २ ॥

विश्वे । देवाः । मुरुतः । इन्द्रः । अस्मान् । अस्मिन् । द्वितीये । सवने । न । जुह्युः । आयुष्मन्तः । प्रियम् । एषाम् । वदन्तः । वयम् । देवानाम् । सु-मतौ । स्याम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण, (मरुतः) विद्वान् लोग और (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (अस्मान्) हमको (अस्मिन्) इस (द्वितीये) दूसरे (सवने) यज्ञ में (न) नहीं (जह्युः=जहतु) त्याग करें (आयुष्मन्तः) उत्तम जीवन रखने वाले, (प्रियम्) प्रिय (वदन्तः) बोलते हुये (वयम्) हम लोग (एषाम्) इन (देवानाम्) उत्तम गुणों की (सुमतौ) सुमति में (स्याम्) रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर आदि सब उत्तम पदार्थों का विचार करके उत्तम बुद्धि प्राप्त करें ॥ २ ॥

इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त ।
ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु ३

इदम् । तृतीयम् । सवनम् । कवीनाम् । ऋतेन । ये । चमसम् । ऐरयन्त । ते । सौधन्वनाः । स्वः । आनशानाः । सु-इष्टिम् । नः । अभि । वस्यः । नयन्तु ॥ ३ ॥

२—(विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणाः (मरुतः) अ० १ । २० । १ । विद्वांसः । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ (इन्द्रः) जगदीश्वरः (अस्मान्) (अस्मिन्) वर्तमाने (द्वितीये) मध्याह्ने भवे (सवने) यज्ञे (न) निषेधे (जह्युः) ओ हाक् त्यागे लोडर्थे लिट् । यकारश्छान्दसः । जहुः । जहतु । त्यजन्तु (आयुष्मन्तः) उत्तमेन जीवनेन युक्ताः (प्रियम्) प्रीतिकरम् (एषाम्) एतेषाम् (वदन्तः) कथयन्तः (वयम्) (देवानाम) दिव्यगुणानाम् (सुमतौ) शोभनायां बुद्धौ (स्याम) ॥

भाषार्थ—(ये) जिन [महात्माओं] ने (कवीनाम्) बुद्धिमानों के (ऋतेन) सत्य से (इदम्) इस (तृतीयम्) तीसरे (सवनम्) यज्ञ में (चमसम्) अन्न (ऐरयन्त) प्राप्त कराया है। (ते) वे (स्वः) सुख (आनशानाः) भोगते हुये (सौधन्वानाः) अच्छे अच्छे धनुष् वा विज्ञान वाले पुरुष (नः) हमारे (स्विष्टिम्) अच्छे यज्ञ को (वस्यः अभि) उत्तम फल की ओर (नयन्तु) ले चलें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परोपकारी पूर्वज महाशयों से उत्तम धनुर्वेद विद्या और शास्त्र विद्या प्राप्त करके उत्तम फल भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ पुरउष्णिक् छन्दः ॥

परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

श्येनोऽसि गायत्रच्छन्दा अनु त्वा रभे ।
स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ १ ॥

श्येनः । असि । गायत्र-छन्दाः । अनु । त्वा । आ । रभे । स्वस्ति । मा । सम् । वह । अस्य । यज्ञस्य । उत्-ऋचि । स्वाहा ॥१॥

३—(इदम्) (तृतीयम्) सायंकालीनम् (सवनम्) यज्ञं प्रति (कवीनाम्) मेधाविनाम्—निघ० ३। १५। (ऋतेन) सत्येन (ये) विद्वांसः (चमसम्) अत्यविचमि०। उ० ३। ११७। इति चमु अदने—असच्। चमसः कस्माच्चमन्त्यस्मिन्निति-निरु० १०। १२। अन्नम् (ऐरयन्त) ईर गतौ कम्पने च, द्विकर्मकः। प्रापितवन्तः (ते) प्रसिद्धाः (सौधन्वानाः) कनिन् युवृषितक्षि०। उ० १। १५६। इति धवि, धन्व गतौ—कनिन्। तस्येदम्। पा० ४। ३। १२०। इति सुधन्वन्—अण्। सुधन्वानि शोभनानि धनूंषि विज्ञानानि वा येषां ते। शोभनधनुर्वेदयुक्ताः। शोभनविज्ञानाः—दयानन्दभाष्ये, ऋ० १। ११०। ४, ८ (स्वः) सुखम् (आनशानाः) अ० २। १। ५। प्राप्नुवन्तः (स्विष्टिम्) शोभनं यज्ञम् (नः) अस्माकम् (अभि) अभिलक्ष्य (वस्यः) वसु—ईयसुन्, ईकारलोपः। वसीयः। अतिप्रशस्तं फलम् (नयन्तु) गमयन्तु ॥

भाषार्थ—तू (गायत्रच्छन्दाः) गाने योग्य आनन्द कर्मों वाला (श्येनः) महाज्ञानी परमात्मा (असि) है, (त्वा) तुझ को (अनु) निरन्तर (आ रभे) मैं ग्रहण करता हूं। (मा) मुझ को (अस्य) इस (यज्ञस्य) पूजनीय कर्म को (उदृचि) उत्तम स्तुति में (स्वस्ति) आनन्द से (सम्) यथावत् (वह) ले चल, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव जान कर पुरुषार्थ करते हैं, वेही उत्तम कर्मों को समाप्त करके कीर्ति और आनन्द पाते हैं ॥ १ ॥

ऋ॒भुर॑सि॒ जग॑च्छन्दा॒ अनु॒ त्वा र॑भे ।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृचि॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥

ऋ॒भुः । अ॒सि॒ । जग॑त्-छन्दाः । अनु॑ । त्वा॒ । आ । र॒भे॒ ।
स्व॒स्ति । मा॒ । सम् । व॒ह॒ । अ॒स्य । य॒ज्ञस्य॑ । उ॒त्-ऋचि॑ । स्वाहा॑ २

भाषार्थ—तू (जगच्छन्दाः) जगत् में स्वतन्त्र (ऋभुः) मेधावी परमात्मा (असि) है, (त्वा) तुझ को······म० । १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान ॥ २ ॥

१—(श्येनः) अ० । ३ । ३ । ३ । श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः—निरु० । १४ । १३ । महाज्ञानी परमात्मा (असि) (गायत्रच्छन्दाः) अमिनक्षियजि० । उ० । ३ । १०५ । इति गै गाने—अत्रन्, स च णित् । आतो युक् चिण् कृतोः । पा० । ७ । ३ । ३३ । इति–युक् । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः, निरु० । १ । ८ । चन्देरादेश्च छः । उ० । ४ । २१६ । इति चदि आह्लादने-असुन् चस्य छः । छन्दति, अर्चतिकर्मा—निघ० । ३ । १४ । गायत्राणि गानयोग्यानि छन्दांस्याह्लादकर्माणि यस्य सः (अनु) पश्चात् निरन्तरम् (त्वा) त्वाम् (आ रभे) परिगृह्णामि । आश्रयामि (स्वस्ति) कल्याणेन (मा) माम् (सम्) सम्यक् (वह) गमय (अस्य) वर्तमानस्य (यज्ञस्य) पूजनीयव्यवहारस्य (उदृचि) उत्तमायां स्तुतौ (स्वाहा) अ० । २ । १६ । १ । सुवाणी । आशीर्वादः ॥

२—(ऋभुः) अ० । १ । २ । ३ । मेधावी—निघ० । ३ । १५ । (जगच्छन्दाः) जगत्सु लोकेषु । छन्दः स्वातन्त्र्यं यस्य सः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

वृषा॑सि त्रि॒ष्टुप्छ॑न्दा॒ अनु॑ त्वा॒ र॑भे ।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृचि॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

वृषा॑ । अ॒सि॒ । त्रि॒स्तुप्-छ॑न्दाः । अनु॑ । त्वा॒ । आ । र॒भे॒ ।
स्व॒स्ति । मा॒ । सम् । व॒ह॒ । अ॒स्य । य॒ज्ञस्य॑ । उ॒त्-ऋचि॑ स्वाहा॑ ॥ ३

भाषार्थ—तू (त्रिष्टुप्छन्दाः) तीनों [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक] ताप छोड़ाने में समर्थ (वृषा) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (असि) है, (त्वा) तुझको ...... म० । १ । ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ जगती; ३ त्रिष्टुप् ॥

प्रलयसृष्टि विद्योपदेशः—प्रलय और सृष्टि विद्या का उपदेश ॥

न॒हि ते॑ अग्ने त॒न्वः॑ क्रू॒रमा॒नंश॒ मर्त्यः॑ ।
क॒पिर्ब॑भस्ति॒ तेज॑नं॒ स्वं ज॒रायु॒ गौरि॑व ॥ १ ॥

न॒हि । ते॒ । अ॒ग्ने॒ । त॒न्वः॑ । क्रू॒रम् । आ॒नंश॑ । मर्त्यः॑ ।
क॒पिः । ब॒भ॒स्ति॒ । तेज॑नम् । स्वम् । ज॒रायु॑ । गौः-इ॑व ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप परमेश्वर ! (मर्त्यः) मनुष्य ने (ते) तेरे (तन्वः) स्वरूप की (क्रूरम्) क्रूरता को (नहि) नहीं (आनंश) पाया है । (कपिः) कपाने वाले आप (तेजनम्) प्रकाशमान सूर्य मण्डल को

३—(वृषा) अ० । १ । १२ । १ । ऐश्वर्यवान् परमात्मा (त्रिष्टुप्छन्दाः) ष्टुभ स्तम्भे—क्विप् । तापत्रयस्य आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकरूपस्य स्तोभने वर्जने छन्दः स्वातन्त्र्यं यस्य सः । अन्यत् पूर्ववत्—म० । १ ।

१—(नहि) नैव (ते) तव (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् (तन्वः) विस्तृतस्य स्वरूपस्य (क्रूरम्) अ० । ५ । १९ । ५ । क्रूरभावम् (आनंश) अश्नोते लिट् । परस्मैपदं छान्दसम् । प्राप (मर्त्यः) अध्न्यादयश्च । उ० । ४ । ११२ । इति मृङ् प्राणत्यागे-यक्, तुडागमः । मनुष्य,-निघ० । २ । ३

(बभस्ति) खा जाते हैं (इव) जैसे (गौः) गौ (स्वम्) अपनी (जरायु) जरायु को [खा लेती है] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की अनन्त शक्ति को नहीं जान सकता है। परमेश्वर ही इस संसार को बना कर फिर अपने में प्रविष्ट कर लेता है, जैसे गौ बच्चा उत्पन्न होने के पीछे अपने पेट से निकली झिल्ली को आप निगल जाती है ॥ १ ॥

मे॒ष इ॑व॒ वै सं च॒ वि चो॒र्व॑च्यसे॒ यदु॑त्तर॒द्रावुप॑रश्च॒ खाद॑तः। शी॒र्ष्णा शिरोऽप्स॒साप्सो॑ अ॒र्दय॑न्न॒ंशून् ब॑भस्ति॒ हरि॑तेभिरा॒सभिः॑ ॥२॥

मे॒षः-इ॑व। वै। सम्। च॒। वि। च॒। उ॒रु। अ॒च्य॒से॒। यत्। उ॒त्त॒र॒-द्रौ। उप॑रः। च॒। खाद॑तः। शी॒र्ष्णा। शिरः॑। अप्स॑सा। अप्सः॑। अ॒र्दय॑न्। अ॒ं॒शून्। ब॒भ॒स्ति॒। हरि॑तेभिः। आ॒स-भिः॑ ॥२॥

भाषार्थ—[हे अग्ने परमात्मन्] (मेषः इव) मेढ़ा के समान तू (वै) निश्चय करके (सम् अच्यसे) सिमट जाता है (च च) और (उरु) बहुत (वि=वि अच्यसे) फैल जाता है, (यत्) जब कि (उत्तरद्रौ) ऊंची शाखा पर (खादतः=खादन्) खाता हुआ तू (च) निश्चय करके (उपरः) ठहरने वाला होता है। (शीर्ष्णा) शिर से (शिरः) शिर को, और (अप्ससा)

(कपिः) कुण्ठिकम्प्योर्नलोपश्च । उ० । ४ । १४४। इति कपि चलने—इ। कम्पकः (बभस्ति) भस भर्त्सनदीप्त्योः, अदने च। बभस्तिरत्तिकर्मा-निरु०। ५। १२ । भक्षयति (तेजनम्) अ० । १ । २। ४ । प्रकाशमयं सूर्यमण्डलम् (स्वम्) स्वकीयम् (जरायु) अ० । १ । ११ । ४ । गर्भवेष्टनम् (गौः) प्रसूता धेनुः ॥

२—(मेषः) मिष स्पर्धने सेचने च—अच्। पशुभेदः (इव) यथा (वै) निश्चयेन (सम्) संगत्य (च च) समुच्चये (वि) व्याप्य (उरु) बहुलम् (अच्यसे) गच्छसि (यत्) यदा (उत्तरद्रौ) द्रु गतौ—डु। उच्च शाखायाम् (उपरः) उप+रमु उपरमे—ड। उपरतः। स्थितो वर्तसे (च) (खादतः)

रूप से (अप्सः) रूप को (अर्दयन्) दबाते हुये आप (हरितेभिः) हरण शील (आसभिः) गिराने के सामर्थ्यों से (अंशून्) सूर्य आदि लोकों को (बभस्ति) खा जाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे भेड़ बकरी सिमट कर और फैल कर पेड़ों की पत्ती खा जाती हैं, वैसे ही परमात्मा सृष्टि और प्रलय करके सब से ऊपर विराजमान रहता है। वही सब पदार्थों को आपस में टकराकर परमाणुओं की अवस्था में करता है ॥ २ ॥

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अंनर्तिषुः।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः॥३॥

सु-पुर्णाः । वाचम् । अक्रत । उप । द्यवि । आ-खरे । कृष्णाः । इषिराः । अनर्तिषुः । नि । यत् । नि-यन्ति । उपरस्य । निः-कृतिम् । पुरु । रेतः । दधिरे । सूर्य-श्रितः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सूर्यश्रितः) सूर्य में ठहरी हुई (सुपर्णाः) अच्छे प्रकार पालन करने वाली वा बड़ी शीघ्रगामी किरणों ने (आखरे) खनन योग्य (द्यवि) अन्तरिक्ष में (उप=उपेत्य) मिलकर (वाचम्) शब्द (अक्रत) किया, और (कृष्णाः) रस खैंचने वाली (इषिराः) चलने वाली [उन किरणों]

प्रथमार्थे षष्ठी। खादन् भक्षयन् (शीर्ष्णा) शिरसा (शिरः) मस्तकम् (अप्ससा) रूपेण (अप्सः) आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा। उ० ४। २०८। इति आप्लृ व्याप्तौ—असुन्, अकारलोपः। अप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयं भवति आदर्शनीयं व्यापनीयं वा–निरु० । ५ । १३। रूपम्। आकारम् (अर्दयन्) पीडयन् (अंशून्) अंश विभाजने—कु। सूर्यादिलोकान् (बभस्ति) म० १। भक्षयति भवान् (हरितेभिः) हरितैः। हरणशीलैः (आसभिः) असु क्षेपणे—घञ्। आसैः। असनसामर्थ्यैः ॥

३—(सुपर्णाः) अ० १। २४। १। सुपालकाः। शोभनपतनाः किरणाः (वाचम्) शब्दम् (अक्रत) करोतेर्लुङि। मन्त्रे घसह्वरणश०। पा० २। ४। ८०। इतिच्लेर्लुक्। अकृषत। कृतवन्तः (उप) उपेत्य (द्यवि) गमेर्डोसिः। उ० । २। ६६। इति द्युत दीप्तौ-डोसि। द्योतते द्यौः। अन्तरिक्षे (आखरे) डरो

ने (अनर्तिषुः) नृत्य किया। (यत्) जब वे (उपरस्य) मेघ की (निष्कृतिम्) रचना की ओर (नि) नियम से (नियन्ति) झुकती हैं, [तब] उन्होंने (पुरु) बहुत (रतः) वृष्टि जल (दधिरे) धारण किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की महिमा से सूर्य की किरणें विशाल आकाश में शब्द करके पार्थिव रस को खींचकर इधर उधर चेष्टा करती हैं। उससे मेघ, मेघ से वृष्टि होकर संसार का उपकार करती है। इसी प्रकार प्रलय के पीछे सृष्टि और सृष्टि के पीछे पलय होती है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । सू० ९४ म० ५ ॥

सूक्तम् ५० ॥

१-३ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ जगती; २, ३ पथ्या पङ्क्तिः ॥

आत्मदोषनिवारणोपदेशः—आत्मा के दोष निवारण का उपदेश ॥

हतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम् । यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याय ॥ १ ॥

हतम् । तर्दम् । सम्-अङ्कम् । आखुम् । अश्विना । छिन्तम् । शिरः । अपि । पृष्टीः । शृणीतम् । यवान् । न । इत् । अदान् । अपि । नह्यतम् । मुखम् । अथ । अभयम् । कृणुतम् । धान्याय ॥१॥

वक्तव्यः । वा० पा० । ३ । ३ । १२५ । इति आङ्+खनु अवदारणे—डर। समन्तात् खननीये (कृष्णाः) अ० ५ । २३ । ५ । रसानामाकर्षकाः (इषिराः) अ० । ५ । १ । ९ । गमनशीलाः (अनर्तिषुः) नृती गात्रविनामे—लुङ् । नृत्यन्ति स्म । चेष्टां कृतवन्तः (नि) नियमेन (यत्) यदा (नियन्ति) नीचैः प्राप्नुवन्ति (उपरस्य) म० । २ । उपर उपलो मेघोभवत्युपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राण्युपरता आप इति वा-निरु० २ । २१ । मेघस्य (निष्कृतिम्) अ० ४ । २७ । ६ । निर्माणम् (उरु) बहुलम् (रेतः) अ० २ । २८ । ५ । जलम्—निघ० १ । १२ । (दधिरे) धृतवन्तः (सूर्यश्रितः) श्रिञ् सेवायाम्—क्विप् । सूर्यं प्राप्ताः किरणाः ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे कामों में व्याप्त रहने वाले स्त्री पुरुषो ! (तर्दम्) हिंसा करने वाले कौवे आदि को, (समङ्कम्) पृथिवी में अङ्क करने वाले शूकर आदि को और (आखुम्) कुतरने वाले चूहे आदि को (हतम्) तुम मारो, (शिरः) उनका शिर (छिन्तम्) काटो और (पृष्टीः) पसलियाँ (अपि) भी (शृणीतम्) तोड़ो। वे (यवान्) जवादि अन्नों को (न इत्) कभी न (अदान्) खावें, (मुखम्) उनका मुख (अपि) भी (नह्यतम्) तुम बाँधो, (अथ) और (धान्याय) धान्य के लिये (अभयम्) अभय (कृणुतम्) करो ॥१॥

भावार्थ—जैसे किसान लोग हानिकारक पक्षी पशु आदि से खेती की रक्षा करके धान्य प्राप्त करते हैं। वैसे ही विद्वान् स्त्री पुरुष काम क्रोध आदि शत्रुओं से अपनी रक्षा करके सुख भोगें ॥ १ ॥

तर्द॒ है पत॑ङ्ग॒ है जभ्य॒ हा उप॑क्वस । ब्र॒ह्मेवासं॑स्थितं ह॒विरन॑दन्त इ॒मान् यवा॒नहिं॑सन्तो अ॒पोदि॑त ॥ २ ॥

तर्द॑ । है । पत॑ङ्ग । है । जभ्य॑ । है । उप॑-क्वस । ब्र॒ह्मा-इ॑व । अस॑म्-स्थितम् । ह॒विः । अन॑दन्तः । इ॒मान् । यवा॑न् । अहिं॑-सन्तः । अ॒प॒-उ॒दि॑त ॥ २ ॥

१—(हतम्) हन्तेर्लोट् । युवां नाशयतम् (तर्दम्) तर्द हिंसायाम्—अच् । हिंसकं काकादिकम् (समङ्कम्), अकि लक्षणे—अच् । भूमौ अङ्कनशीलं शूकरादिकम् (आखुम्) आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च । उ० १ । ३३ । इति आङ्+खनु अवदारणे—उ, स च डित् । खननशीलं मूषकादिकम् (अश्विना) अ० । २ । २९ । ६ । अश्विनौ । हे कर्मसु व्यापनशीलौ स्त्रीपुरुषौ (छिन्तम्) भिन्तम् (शिरः) ललाटम् (अपि) (पृष्टीः) अ० २ । ७ । ५ । पार्श्वास्थीनि (शृणीतम्) हिंस्तं चूर्णीकुरुतम् (यवान्) यवाद्यन्नानि (न इत्) नैव (अदान्) अद भक्षणे—लेट् । भक्षयेयुः (अपि) (नह्यतम्) बध्नीतम् (मुखम्) (अथ) अनन्तरम् (अभयम्) भयराहित्यं कुशलम् (कृणुतम्) कुरुतम् (धान्याय) अन्नवर्धनाय ॥

भाषार्थ—(है) हे (तर्द) हे हिंसक काक आदि ! (है) हे (पतङ्ग) फुदकने वाले टिड्डी आदि । (हा) हे (जभ्य) वधयोग्य (उपक्वस) भूमि पर रेंगने वाले कीड़े ! (ब्रह्मा इव) विद्वान् पुरुष ब्रह्मा के समान (असंस्थितम्) बिना संस्कार किये हुये (हविः) अन्न को, (इमाम्) इन् (यवान्) जव आदि अन्न को (अनदन्तः) न खाते हुये और (अहिंसन्तः) न तोड़ते हुये (अपोदित) उड़ जाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् पुरुष कुपथ्य अन्न को छोड़कर चला जाता है, इसी प्रकार हिंसक पशु आदि जवादि अन्नों के खेतों को छोड़कर चले जावें ॥२॥

तर्दा॑पते॒ वघा॑पते॒ तृष्ट॑जम्भा॒ आ शृ॑णोत मे । य आ॑-रण्या व्य॑द्व॒रा ये के च॒ स्थ व्य॑द्व॒रास्तान्त्सर्वा॑न् जम्भ-यामसि ॥ ३ ॥

तर्द॑-पते । वघा॑-पते । तृष्ट॑-जम्भाः । आ । शृ॒णो॒त॒ । मे॒ । ये । आ॒र॒ण्याः । वि॒-अ॒द्व॒राः । ये । के । च॒ । स्थ । वि॒-अ॒द्व॒राः । तान् । सर्वा॑न् । ज॒म्भ॒या॒म॒सि॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तर्दपते) हे हिंसकों के स्वामी ! (वघापते) हे टिड्डी आदिकों के स्वामी ! (तृष्टजम्भाः) हे प्यासे मुख वाले कीड़ो ! (मे) मेरी (आ) अच्छे प्रकार (शृणोत) सुनो । (ये) जो तुम (आरण्याः) जंगली और

२—(तर्द) हिंसककाकादे (है) हे (पतङ्ग) पतनशील शलभादे (है) (जभ्य) हिंस्य (हा) हे (उपक्वस) उप+कु+अस गतौ—अच् । उप हीनतया कौ भूमौ असति गच्छतीति यः सः, तत्सम्बुद्धौ । हे कीटादे (ब्रह्मा) ऋत्विक् । महाविद्वान् (इव) यथा (असंस्थितम्) असंस्कृतम् । अपथ्यम् (हविः) अन्नम् (अनदन्तः) अभक्षयन्तः (इमान्) समीपस्थान् (यवान्) यवाद्यन्नानि (अहिंसन्तः) अविनाशयन्तः (अपोदित) अप+उत्+इण गतौ लोट् । उड्डीय गच्छत ॥

३—(तर्दपते) संहितको दीर्घः । तर्दानां हिंसकानां स्वामिन् (वघापते) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति अव+हन् हिंसागत्योः—ड । वष्टि भागुरिरल्लोपम्—अव शब्दस्य अलोपः–टाप । हे अवहननशीलानां जन्तूनां कीटा-

(व्यद्वराः) विविध प्रकार खाने वाले (च) और (ये) (के) जो कोई दूसरे जन्तु (व्यद्वराः) भख लेने वाले (स्थ) हो, (तान्) उन तुम (सर्वान्) सब को (जम्भयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य छोटे बड़े हिंसक जन्तुओं को मार हटाते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग अपने दोषों को हटावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५१ ॥

१-३ ॥ १ सोमः; २ आपः; ३ वरुणो देवता ॥ १ गायत्री; २ त्रिष्टुप्; ३ जगती ॥

द्रोहनाशोपदेशः—द्रोह के नाश का उपदेश ॥

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥

वायोः । पूतः । पवित्रेण । प्रत्यङ् । सोमः । अति । द्रुतः ।
इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वायोः) सर्वव्यापक परमेश्वर के [बताये हुये] (पवित्रेण) शुद्ध आचरण से (पूतः) शुद्ध किया हुआ, (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष पूजनीय, (अति) अति (द्रुतः) शीघ्रगामी (सोमः) ऐश्वर्यवान् वा अच्छे गुण वाला पुरुष (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (युज्यः) योगी (सखा) सखा होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वेदविहित कर्मों को अति शीघ्र करके परमेश्वर के मित्र बन के सदा सुखी रहें ॥ १ ॥

(वायु) शब्द परमेश्वर वाचक है-देखो [तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः] य० ३२ । १ । ब्रह्म [वायुः] सर्वव्यापक और ब्रह्म ही आनन्द दाता है ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १ । ३१ ॥

दीनां स्वामिन् (तृष्टजम्भाः) पिपासितमुखाः (आ) सम्यक् (शृणोत) तशब्दस्य तप् । शृणुत (मे) मम वचनम् (ये) (आरण्याः) अरण्ये भवाः (व्यद्वराः) अ० ३ । २८ । २ । विविधमदनशीलाः (ये के) ये केचित् अन्ये जन्तवः (च) (स्थ) भवथ (तान्) तान् युष्मान् (सर्वान्) समस्तान् (जम्भयामसि) जम्भयामः । नाशयामः ॥

१—(वायोः) सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य विज्ञापितेन—तद् यथा [तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः] य० ३२ । १ । (पूतः) शोधितः (पवित्रेण) शुद्धेन धर्म्माचरणेन (प्रत्यङ्) प्रत्यक्षमञ्चितः पूजितः (सोमः) ऐश्वर्यवान् सोमगुणसम्पन्नो वा (अति) अत्यन्तम् (द्रुतः) शीघ्रगामी (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (युज्यः) समाहितः । योगी (सखा) मित्रम् ॥

आपो॑ अ॒स्मान् मा॒तरः॑ सूदयन्तु घृ॒तेन॑ नो घृत॒प्व॑ः पुनन्तु ।
विश्वं॒ हि रि॒प्रं प्र॒वह॑न्ति दे॒वीरुदिदा॑भ्यः शु॒चि॒रा पू॒त ए॑मि ॥२॥

आप॑ः । अ॒स्मान् । मा॒तर॑ः । सू॒द॒य॒न्तु॒ । घृ॒तेन॑ । नः॒ । घृ॒त॒-प्व॑ः । पु॒न॒न्तु॒ । विश्व॑म् । हि । रि॒प्रम् । प्र॒-वह॑न्ति । दे॒वीः । उत् । इत् । आ॒भ्यः॒ । शु॒चिः॑ । आ । पू॒तः । ए॒मि॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मातरः) माता के समान पालन करने वाले (आपः) जल (अस्मान्) हम को (सूदयन्तु) सींचें, (घृतप्वः) घृतको पवित्र करने वाले [जल] (घृतेन) घृत से (नः) हमको (पुनन्तु) पवित्र करें। (देवीः) दिव्यगुणयुक्त जल (विश्वम्) सब (हि) ही (रिप्रम्) मल को (प्रवहन्ति) बहा देते हैं, (आभ्यः) इन जलों से (इत्) ही (शुचिः) शुद्ध और (आ पूतः) सर्वथा पवित्र होकर (उत् एमि) मैं ऊँचा चलता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे जल अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करके मलों को शुद्ध करके और अनेक शिल्पों में प्रयुक्त होकर उपकारी होते हैं, वैसे ही मनुष्य विद्या आदि शुभ गुण प्राप्त करके परस्पर उपकार करके उदय को प्राप्त हों ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ४ । २ ॥

यत् किं चे॒दं व॑रुण॒ दैव्ये॒ जने॑ऽभिद्रो॒हं म॑नु॒ष्या॒३॒ श्चर॑न्ति
अचि॑त्त्या चेत् तव॒ धर्मा॑ युयो॒पिम मा न॒स्तस्मा॒देन॑सो
देव रीरिषः ॥ ३ ॥

२—(आपः) जलानि (अस्मान्) मनुष्यादीन् (मातरः) मातृवत्पालिकाः (सूदयन्तु) षूद क्षरणे । सिञ्चन्तु । शुन्धयन्तु (घृतेन) आज्येन (नः) अस्मान् (घृतप्वः) घृत + पूञ् पवने-क्विप् । घृतं पुनन्ति यास्ता आपः (पुनन्तु) पवित्रयन्तु (विश्वम्) सर्वम् (हि) खलु (रिप्रम्) लीरीङो ह्रस्वः पुट् च तरौ श्लेषणकुत्सनयोः । उ० ५ । ५५ । इति रीङ् श्रवणे—रप्रत्ययः, ह्रस्वः पुट् च । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ । कुत्सितं मलम् (प्रवहन्ति) प्रकर्षेण क्षालयन्ति, अपगमयन्ति (देवीः) देव्यः । दिव्यगुणयुक्ताः (उत्) उदित्य (इत्) एव (आभ्यः) अद्भ्यः (शुचिः) शुद्धः (आ) समन्तात् (पूतः) पवित्रः (एमि) गच्छामि ॥

यत् । किम् । च । इदम् । वरुण । दैव्ये । जने । अभि-द्रोहम् । मनुष्याः । चरन्ति । अचित्त्या । च । इत् । तव । धर्म । युयोपिम । मा । नः । तस्मात् । एनसः । देव । रीरिषः ॥३॥

भाषार्थ—(वरुण) हे अति उत्तम परमेश्वर ! (मनुष्याः) मनुष्य (इदम्) यह (यत् किम् च) जो कुछ भी (अभिद्रोहम्) अपकार (दैव्ये) विद्वानों के बीच विद्वान् (जने) मनुष्य पर (चरन्ति) करते हैं । (च) और (इत्) भी (अचित्त्या) अचेतनपन से (तव) तेरे (धर्म्म) धर्म को (युयोपिम) हमने तोड़ा है, (देव) हे प्रकाशमय परमात्मन् ! (नः) हमें (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से (मा रीरिषः) मत नष्ट कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—यदि मनुष्य अज्ञान से कोई पाप कर्म करें तो वे दण्ड रूप प्रायश्चित्त, अनुताप आदि करके धर्म आचरण में सदा प्रवृत्त रहें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋगवेद में है-म० ७ । ८९ । ५ ।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

अथ षष्ठोऽनुवाकः

सूक्तम् ५२ ॥

१-३ ॥ सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आत्मदोषनाशोपदेशः—आत्मा के दोष के नाश का उपदेश ॥

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् ।

३—(यत्) (किम् च इदम्) किञ्चिदपि (वरुण) हे अत्युत्तम परमेश्वर (दैव्ये) अ० २ । २ । २ । देवेषु विद्वत्सु जाते विदुषि (जने) मनुष्ये (अभिद्रोहम्) अपराधम् (मनुष्याः) पुरुषाः (चरन्ति) अनुतिष्ठन्ति (अचित्त्या) अ० ५ । १७ । १२ । अज्ञानेन (च) (इत्) अपि (धर्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति धृ धारणे-मनिन् । धारणसामर्थ्यम् । नियमम् (युयोपिम) युप् विमोहने—लिट् । विमोहितवन्तः । नाशितवन्तः (नः) अस्मान् (तस्मात्) (एनसः) अ० २ । १० । ८ । पापात् (देव) हे प्रकाशमय परमात्मन् (मा रीरिषः) रिष हिंसायाम्, ण्यन्ताद् माङि लुङि चङि रूपम् । मा हिंसीः ॥

आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥

उत् । सूर्यः । दिवः । एति । पुरः । रक्षांसि । नि-जूर्वन् ।
आदित्यः । पर्वतेभ्यः । विश्व-दृष्टः । अदृष्ट-हा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आदित्यः) सब ओर प्रकाश वाला, (विश्वदृष्टः) सबों करके देखा गया और (अदृष्टहा) न दीखते हुये पदार्थों में गति वाला (सूर्यः) सूर्य (दिवः) अन्तरिक्ष के बीच (रक्षांसि) राक्षसों [अन्धकार आदि उपद्रवों] को (निजूर्वन्) सर्वथा नाश करता हुआ (पर्वतेभ्यः) मेघों वा पहाड़ों से (पुरः) सन्मुख (उत् एति) उदय होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अन्धकार हटा कर प्रकाश करता है, वैसे ही विद्वान् लोग अविद्या मिटा कर विद्या का प्रकाश करते हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-म० १ । १९१ । ८, ९ ॥

नि गावो गोष्ठे असदन् नि मृगासो अविक्षत ।
न्यू३र्मयो नदीनां न्य१दृष्टा अलिप्सत ॥ २ ॥

नि । गावः । गो-स्थे । असदन् । नि । मृगासः । अविक्षत ।
नि । ऊर्मयः । नदीनाम् । नि । अदृष्टाः । अलिप्सत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(गावः) किरणें (गोष्ठे) किरणों के स्थान, अन्तरिक्ष में (नि) पैठ कर (असदन्) ठहरी हैं, (मृगासः) खोजने वाले पुरुषों ने (नि

१—(उत्) उद्गत्य (सूर्यः) लोकस्य प्रेरको दिनकरः (दिवः) अन्तरिक्षस्य मध्यात् (एति) गच्छति (पुरः) अग्रे (रक्षांसि) अ० १ । २१ । ३ । रक्षो रक्षितव्यमस्मात्-निरु० ४ । १८ । अन्धकारादीन् उपद्रवान् (निजूर्वन्) जुर्वी हिंसायाम्—शतृ । नितरां नाशयन् (आदित्यः) अ० १ । ९ । १ । आदीप्यमानः (पर्वतेभ्यः) मेघेभ्यः शैलेभ्यो वा (विश्वदृष्टः) विश्वेन दृष्टः (अदृष्टहा) अ० ५ । २३ । ६ । अदृष्टान् अन्धकारयुक्तान् पदार्थान् हन्ति गच्छतीति यः सः ॥

२—(नि) अन्तर्भूय (गावः) किरणाः (गोष्ठे) गवां किरणानां स्थाने अन्तरिक्षे (असदन्) निषण्णा अभूवन् (नि) (मृगासः) मृग

अविक्षत) [अपने कामों में] प्रवेश किया है। (नदीनाम्) स्तुति करने वाली प्रजाओं की (ऊर्मयः) गति क्रियाओं ने (अदृष्टाः) न दीखती हुई पंक्तियों को (नि नि) अति निश्चय करके (अलिप्सत) पाने की इच्छा की है ॥ २ ॥

भावार्थ—सूर्य के चमकने पर सब मनुष्य आदि प्राणी परमेश्वर की स्तुति करते हुये अभीष्ट पदार्थों को खोजकर अपने २ कर्तव्य कर्म करते हैं ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १ । १९१ । ४ ।

आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम् ।
आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान् नि शमयत् ॥ ३ ॥

आयुः-ददम् । विपः-चितम् । श्रुताम् । कण्वस्य । वीरुधम् । आ । अभारिषम् । विश्व-भेषजीम् । अस्य । अदृष्टान् । नि । शमयत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(कण्वस्य) बुद्धिमान् पुरुष की (आयुर्ददम्) जीवन देने वाली, (विपश्चितम्) भले प्रकार चेताने वाली, (श्रुताम्) प्रसिद्ध, (वीरुधम्) विविध प्रकार प्रगट होने वाली, (विश्वभेषजीम्) संसार का भय जीतने वाली वेद विद्या को (आ अभारिषम्) मैंने पाया है, वह (अस्य) इस

अन्वेषणे—क, असुक् च । मृगाः । अन्वेषकाः पुरुषाः (अविक्षत) नेर्विशः । पा० १ । ३ । १७ । इत्यात्मनेपदम् । शल इगुपधादनिटः क्सः । पा० ३ । १ । ४५ । इति लुङि च्लेः क्सः । स्वकार्याणि प्रविष्टा अभूवन् (नि नि) निश्चयेनैव (ऊर्मयः) अर्त्तेरूच्च । उ० ४ । ४४ । इति ऋ गतौ-मि । गतिक्रियाः (नदीनाम्) नद—ङीप् । नदः स्तोता—निघ० ३ । १६ । स्तोत्रीणां प्रजानाम् (अदृष्टाः) अगोचराः पंक्तीः । अन्धकारयुक्तान् पदार्थान् (अलिप्सत) लभेः सनि । सनिमीमाघुरभलभ० । पा० ७ । ४ । ५४ । इति अचः स्थाने इस् । स्कोः संयोगा० । पा ८ । २ । २९ । सकार लोपः । लब्धुमैच्छन् ॥

३—(आयुर्ददम्) दद दाने—क्विप् । उत्कृष्टजीवनस्य दात्रीम् (विपश्चितम्) वि+प्र+चिती संज्ञाने—क्विप् , पृषोदरादि रूपम् । विविधं प्रकृष्टं ज्ञापयित्रीम् (श्रुताम्) प्रसिद्धाम् (कण्वस्य) अशू प्रुषिलटिकणि० । उ० १ । १५१ । इति कण शब्दे—क्वन् । मेधाविनः पुरुषस्य—निघ० ३ । १५ । (वीरु-

पुरुष के (अदृष्टान्) न दीखते हुये दोषों को (नि शमयत्) शान्त कर देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्व सुख दायक वेद विद्या द्वारा अपने सब कुसंस्कारों का नाश करके आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५३ ॥

१-३ ॥ १ विश्वेदेवाः; २ अग्निः; ३ त्वष्टा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

स्वास्थ्यरक्षणोपदेशः—स्वास्थ्य की रक्षा का उपदेश ॥

द्यौश्च॑ म इ॒दं पृ॑थि॒वी च॒ प्रचे॑तसौ शु॒क्रो बृ॒हन् दक्षि॑णया पिपर्तु । अनु॑ स्व॒धा चि॑कि॒तां सोमो॑ अ॒ग्निर्वा॒युर्नः॑ पातु सवि॒ता भग॑श्च ॥ १ ॥

द्यौः । च॒ । मे॒ । इ॒दम् । पृ॒थि॒वी । च॒ । प्र-चे॑तसौ । शु॒क्रः । बृ॒हन् । दक्षि॑णया । पि॒प॒र्तु॒ । अनु॑ । स्व॒धा । चि॒कि॒ताम् । सोमः॑ । अ॒ग्निः । वा॒युः । नः॒ । पा॒तु॒ । स॒वि॒ता । भगः॑ । च॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रचेतसौ) उत्तम ज्ञान देने वाले (द्यौः) आकाश (च) और (पृथिवी) पृथिवी (च) और (बृहन्) बड़ा (शुक्रः) प्रकाशमान सूर्य (मे) मेरे लिये (इदम्) इस घर को (दक्षिणया) दक्षिणा [दान वा प्रतिष्ठा] से (पिपर्तु) भरपूर करे । (सोमः) चन्द्रमा और (अग्निः) अग्नि (अनु) अनुग्रह करके (स्वधा) अन्न को (चिकिताम्) जतावे, (वायुः) वायु (च)

धम्) विविध प्रादुर्भवित्रीम् (आ अभारिषम्) हञ् प्रापणे, हस्य भत्वम् आर्षम् । प्राप्तवानस्मि (विश्वभेषजीम्) सर्वस्य भयस्य शमनीं वेदविद्याम् (अस्य) पुरुषस्य (अदृष्टान्) अलक्षितान् दोषान् कुसंस्कारान् (नि शमयत्) शम उपशमने, एयन्ताल्लेटि अडागमः । निशमयतु ॥

१—(द्यौः) आकाशः (च च) समुच्चये (मे) मह्यम् (इदम्) पुरोवर्ति गृहम् (पृथिवी) (च) (प्रचेतसौ) प्रचेतः प्रज्ञानं याभ्यां सकाशात् ते । प्रकृष्टज्ञानदात्र्यौ (शुक्रः) शोचमानो दीप्यमानः सूर्य्यः (बृहन्) महान् (दक्षिणया) अ० ५ । ७ । १ । दानेन । प्रतिष्ठया (पिपर्तु) प्रपूरयतु (अनु) अनुग्रहेण (स्वधा)

और (सविता) सबका उत्पन्न करने हारा (भगः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर रचित पदार्थों से यथावत् उपकार लेकर सदा सुखी रहें ॥ १ ॥

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु । वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥ २ ॥

पुनः । प्राणः । पुनः । आत्मा । नः । आ । एतु । पुनः । चक्षुः । पुनः । असुः । नः । आ । एतु । वैश्वानरः । नः । अदब्धः । तनू-पाः । अन्तः । तिष्ठाति । दुः-इतानि । विश्वा २

भाषार्थ—(पुनः) बार बार (प्राणः) प्राण, (पुनः) बार बार (आत्मा) आत्मबल (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो, (पुनः) बार बार (चक्षुः) देखने का सामर्थ्य, (पुनः) बार बार (असुः) बुद्धि (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो। (अदब्धः) बेचूक, (तनूपाः) शरीरों का रक्षक, (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी परमात्मा (नः) हमारे (विश्वा) सब (दुरितानि) कष्टों के (अन्तः) बीच में (तिष्ठाति) स्थित रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि सदा धर्म में प्रवृत्त रह कर परमेश्वर की आज्ञा पालन करें, जिससे विश्राम के पश्चात् और पुनर्जन्म में भी उत्तम शरीर और इन्द्रियां प्राप्त करके सुख भोगते रहें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ४ । म० १५ ।

अन्नम् (चिकिताम्) कित ज्ञाने—अन्तर्गतण्यर्थः । ज्ञापयतु (अग्निः) पावकः (वायुः) पवनः (नः) अस्मान् (पातु) रक्षतु (सविता) सर्वोत्पादकः (भगः) भगमैश्वर्यं यस्य सः । भगवान् परमेश्वरः (च) ॥

२—(पुनः) वारं वारम् । विश्रामानन्तरं द्वितीये जन्मनि वा (प्राणः) जीवस्थितिहेतुः प्राणवायुः (पुनः) (आत्मा) आत्मबलम् (नः) अस्मान् (ऐतु) आगच्छतु । प्राप्नोतु (पुनः) (चक्षुः) दर्शनशक्तिः (पुनः) (असुः) प्रज्ञा—निघ० ३ । ६ । (नः) (ऐतु) (वैश्वानरः) सर्वनरहितः परमेश्वरः (नः) अस्माकम् (तनूपाः) शरीरपालकः (अन्तः) मध्ये । अन्तरान्तरेणयुक्ते । पा० २ । ३ । ४ । इति द्वितीया (तिष्ठाति) लेट् । तिष्ठेत् (दुरितानि) दुःखानि (विश्वा) सर्वाणि ॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो॒ यद् विरिष्टम् ॥ ३ ॥

सम् । वर्चसा । पयसा । सम् । तनूभिः । अगन्महि । मनसा । सम् । शिवेन । त्वष्टा । नः । अत्र । वरीयः । कृणोतु । अनु । नः । मार्ष्टु । तन्वः । यत् । वि-रिष्टम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वर्चसा) अन्न के साथ, (पयसा) विज्ञान के साथ (सम्) यथावत्, (तनूभिः) शरीरों के साथ (सम्) यथाविधि, और (शिवेन) मङ्गलकारी (मनसा) मन के साथ (सम् अगन्महि) हम संगत हुये हैं। (त्वष्टा) विश्वकर्मा परमेश्वर (नः) हमारे लिये (अत्र) यहां पर (वरीयः) अति विस्तीर्ण धन (कृणोतु) करे और (नः) हमारे (तन्वः) शरीर का (यत्) जो (विरिष्टम्) विविध कष्ट है उसे (अनु मार्ष्टु) शुद्ध करता रहे ॥३॥

भावार्थ—परमेश्वर ने कृपा करके हमें अन्न, विद्या, और मनन शक्ति पहिले से दी है, हम उन सब से यथावत् उपकार लेकर अपने सब कष्ट दूर करें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० २ । २४ ।

३—(सम्) सम्यक् (वर्चसा) अन्नेन—निघ० २ । ७ । (पयसा) पय गतौ—असुन् । विज्ञानेन (सम्) यथाविधि (तनूभिः) शरीरैः (सम् अगन्महि) समो गम्यृच्छिभ्याम् । पा० १ । ३ । २६ । इत्यात्मनेपदम् । संगता अभूम (मनसा) अन्तः करणेन (शिवेन) कल्याणकरेण (त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । त्वष्टा····· त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणस्त्वक्षतेर्वा स्यात्करोतिकर्मणः· निरु० ८ । १३ । विश्वकर्मा परमात्मा (नः) अस्मभ्यम् (अत्र) अस्मिन् गृहे (वरीयः) अ० १ । २ । २ । उरुतरम् । विस्तीर्णतरं धनम् (कृणोतु) करोतु (अनु) अनन्तरम् (नः) अस्माकम् (मार्ष्टु) मृजूष् शुद्धौ । शोधयतु (तन्वः) शरीरस्य (यत्) यावत् (विरिष्टम्) रिष हिंसायाम्—भावे क्त । विहिंसनम् । विविध दुःखम् ॥

सूक्तम् ५४ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राज्यरक्षणायोपदेशः—राज्य की रक्षा के लिये उपदेश ॥

इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये ।
अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ॥ १ ॥

इदम् । तत् । युजे । उत्-तरम् । इन्द्रम् । शुम्भामि । अष्टये ।
अस्य । क्षत्रम् । श्रियम् । महीम् । वृष्टिः-इव । वर्धय । तृणम् ॥१॥

भाषार्थ—(इन्द्रम्) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले राजा को (अष्टये) इष्ट प्राप्ति के लिये (शुम्भामि) सुशोभित करता हूं, [जिस से] (युजे) उसके मित्र के लिये (इदम्) यह और (तत्) वह (उत्तरम्) अधिक ऊंचा पद होवे । [हे जगदीश्वर !] (अस्य) इस पुरुष के (क्षत्रम्) राज्य और (महीम्) बड़ी (श्रियम्) सम्पत्ति को (वर्धय) बढ़ा, (वृष्टिः इव) जैसे बरसा (तृणम्) घास को ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वर के अनुग्रह से धर्म आचरण करता हुआ सर्वत्र अपने राज्य की वृद्धि करे ॥ १ ॥

अस्मै क्षत्रमग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम् ।
इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम् ॥ २ ॥

अस्मै । क्षत्रम् । अग्नीषोमौ । अस्मै । धारयतम् । रयिम् ।
इमम् । राष्ट्रस्य । अभि-वर्गे । कृणुतम् । युजे । उत्-तरम् ॥२॥

१—(इदम्) समीपस्थम् (तत्) दूरस्थम् (युजे) युजेः—क्विप् मित्राय (उत्तरम्) उच्चतरं पदं भवतु (इन्द्रम्) राजानम् (शुम्भामि) शुम्भ शोभायाम्, णिजर्थः । शोभयामि (अष्टये) अशू व्याप्तौ—क्तिन् । इष्ट प्राप्तये (अस्य) पुरुषस्य (क्षत्रम्) राज्यम् (श्रियम्) सम्पत्तिम् (महीम्) महतीम् (वृष्टिः) वर्षणम् (इव) यथा (वर्धय) समर्धय (तृणम्) घासम् ॥

भाषार्थ—(अग्नीषोमौ) हे सूर्य और चन्द्रमा ! तुम दोनों (अस्मै) इस पुरुष के लिये (क्षत्रम्) राज्य को और (अस्मै) इसके लिये (रयिम्) सम्पत्ति को (धारयतम्) दृढ़ करो । (इमम्) इस पुरुष को (राष्ट्रस्य) राज्य के (अभीवर्गे) मण्डल में (युजे) मित्र वर्ग के लिये (उत्तरम्) अधिक ऊंचा (कृणुतम्) करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य चन्द्रमा नियम बद्ध होकर परस्पर आकर्षण आदि से जगत् का उपकार करते हैं वैसे ही मनुष्य सब से प्रीति करके अपना राज्य और धन बढ़ावे ॥ २ ॥

सबन्धुश्चासंबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

स-बन्धुः । च । असंबन्धुः । च । यः । अस्मान् । अभि-दासति ।
सर्वम् । तम् । रन्धयासि । मे । यजमानाय । सुन्वते ॥३॥

भाषार्थ—(यः) जो शत्रु (सबन्धुः) बन्धुओं सहित (च च) और (असबन्धुः) बिना बन्धुओं के होकर (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सतावे । (तम्) उस (सर्वम्) सब को (सुन्वते) तत्त्वमथन करने वाले (यजमानाय) विद्वानों का सत्कार करने वाले (मे) मेरे लिये (रन्धयासि) वश में कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—धार्मिक पुरुष परमात्मा की आज्ञा मान कर तत्त्वमथन कर के शत्रुओं का नाश करें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध अ० ६ । १५-२ । और उत्तरार्द्ध अ० ६ । ६ । १ । में आया है ॥

२—(अस्मै) पुरुषाय (क्षत्रम्) राष्ट्रम् (अग्नीषोमौ) सूर्यचन्द्रौ (अस्मै) (धारयतम्) दृढ़ीकुरुतम् (रयिम्) वैभवम् (इमम्) पुरुषम् (राष्ट्रस्य) राज्यस्य (अभीवर्गे) अ० ३ । ५ । २ । राज्यमण्डले (कृणुतम्) कुरुतम् (युजे) मित्रवर्गहिताय (उत्तरम्) उच्चतरम् ॥

३—पूर्वार्द्धो व्याख्यातः—अ०६ । १५ । २ । उत्तरार्द्धः—अ० ६ । ६ । १ ।

सूक्तम् ५५ ॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सर्वसम्पत्तिप्राप्त्युपदेशः—सब सम्पत्ति प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति । तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥ १ ॥

ये । पन्थानः । बहवः । देव-यानाः । अन्तरा । द्यावापृथिवी इति । सम्-चरन्ति । तेषाम् । अज्यानिम् । यतमः । वहाति । तस्मै । मा । देवाः । परि । धत्त । इह । सर्वे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (देवयानाः) विद्वानों के यानों, रथादिकों के योग्य (बहवः) बहुत से (पन्थानः) मार्ग (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी के (अन्तरा) बीच (संचरन्ति) चलते रहते हैं। (तेषाम्) उन मार्गों में से (यतमः) जो कोई मार्ग (अज्यानिम्) अभङ्ग शान्ति (वहाति) पहुंचावे। (सर्वे देवाः) हे सब विद्वानों ! (तस्मै) उस मार्ग के लिये (मा) मुझे (इह) यहां पर (परि) अच्छे प्रकार (धत्त) स्थिर करो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज महात्माओं के समान विज्ञान पूर्वक वैदिक मार्ग में चलकर शांन्ति प्राप्त करें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध अ० ३ । १५ । २ में आ गया है ॥

१—पूर्वार्द्धो व्याख्यातः—अ० ३ । १५ । २ । यथा (ये) (पन्थानः) मार्गाः (बहवः) नानाविधाः (देवयानाः) विदुषां यानयोग्याः (अन्तरा) मध्ये (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी (संचरन्ति) वर्तन्ते (तेषाम्) पथां मध्ये (अज्यानिम्) ज्या वयोहनौ-क्तिन् । अजरां शान्तिम् (यतमः) अ० ४ । ११ । ५ । यः कश्चित् (वहाति) लेटि, अडागमः । वहेत् प्रापयेत् (तस्मै) मार्गाय (मा) माम् (देवाः) विद्वांसः (परि) सर्वतः (धत्त) स्थापय (इह) अस्मिन् लोके (सर्वे) समस्ताः ॥

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात । आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम ॥ २ ॥

ग्रीष्मः । हेमन्तः । शिशिरः । वसन्तः । शरत् । वर्षाः । सु-इते । नः । दधात । आ । नः । गोषु । भजत । आ । प्र-जायाम् । नि-वाते । इत् । वः । शरणे । स्याम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वसन्तः) वसन्तकाल [चैत्र, वैशाख] (ग्रीष्मः) घाम ऋतु [ज्येष्ठ, आषाढ़] (वर्षाः) बरसा [श्रावण भाद्रमास] (शरत्) शरद् ऋतु [आश्विन, कार्तिक] (हेमन्तः) शीत काल [अग्रहायण, पौष] (शिशिरः) उतरता शीतकाल [माघ, फाल्गुन] यह तुम सब (नः) हमें (स्विते) अच्छे प्रकार प्राप्त कुशल में (दधात) स्थापित करो। (नः) हमें (गोषु) गौ आदि पशुओं में (आ) और (प्रजायाम्) प्रजा में (आ) सब ओर से (भजत) भागी करो, (वः) तुम्हारे (इत्) ही (निवाते) हिंसारहित (शरणे) शरण में (स्याम) हम रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रत्येक ऋतु में उचित आहार विहार करके गौ आदि पशुओं और पुत्र पौत्र भृत्य प्रजाओं सहित सुखी रहें ॥ २ ॥

२—(ग्रीष्मः) घर्मग्रीष्मौ । उ० १ । १४६ । इति ग्रसु अदने-मक्, ग्रीभावः धुगागमश्च । निदाघः । ज्येष्ठाषाढ़ात्मकः कालः (हेमन्तः) अ० ३ । ११ । ४ । अग्रहायणपौषात्मकः कालः (शिशिरः) अजिरशिशिर० । उ० १ । ५३ । इति शश प्लुतगतौ-किरच्, उपधाया इत्वम् । माघफाल्गुनमासात्मकः शीतान्तः कालः (वसन्तः) अ० ३ । ११ । ४ । चैत्रवैशाखात्मकः पुष्पकालः (शरत्) अ० १ । १० । २ । आश्विनकार्तिकात्मकः कालः (वर्षाः) वर्ष वर्षणमस्त्यासु । वर्ष—अर्शआदिभ्योऽच्, टाप् । यद्वा । व्रियन्ते । वृतॄवदि० । उ० ३ । ६२ । इति वृञ् वरणे-स, टाप् । श्रावणभाद्रात्मको मेघकालः (स्विते) सुष्ठु प्राप्ते कुशले (नः) अस्मान् (दधात) धत्त । स्थापयत (आ) समुच्चये (नः) अस्मान् (गोषु) गवादिपशुषु (भजत) भागिनः कुरुत (आ) समन्तात् (प्रजायाम्) पुत्रपौत्रभृत्यादिरूपे जने (निवाते) वा गतिहिंसनयोः—क्त । अहिंसिते (इत्) एव (वः) युष्माकम् (शरणे) रक्षणे (स्याम) भवेम ॥

इ॒दा॒व॒त्स॒राय॑ परिवत्स॒राय॑ संवत्स॒राय॑ कृणुता बृ॒हन्नमः॑ ।
तेषां॑ व॒यं सु॑म॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒मपि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ॥३॥

इ॒दा॒व॒त्स॒राय॑ । परि॑-व॒त्स॒राय॑ । स॒म्-व॒त्स॒राय॑ । कृ॒णु॒त । बृ॒हत् । नमः॑ । तेषा॑म् । व॒यम् । सु॒-म॒तौ । य॒ज्ञिया॑नाम् । अपि॑ । भ॒द्रे । सौ॒म॒न॒से । स्या॒म॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ--(परिवत्सराय) सब ओर से निवास कराने वाले पिता को, (इदावत्सराय) विद्या में निवास कराने वाले आचार्य को और (संवत्सराय) यथा नियम निवास कराने वाले राजा को तुम (बृहत्) बहुत बहुत (नमः) नमस्कार (कृणुत) करो । (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) उत्तम व्यवहार करने हारों के (अपि) ही (सुमतौ) सुमतिवाले और (भद्रे) कल्याणकारक (सौमनसे) हार्दिक स्नेह में (वयम्) हम लोग (स्याम) रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ--मनुष्य माता पिता, आचार्य और राजा की आज्ञा सत्कार पूर्वक मानकर उत्तम विद्या प्राप्त करके आनन्द से रहें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध यजुर्वेद में है--अ० १६ । ५० ।

३--(इदावत्सराय) इडा+वत्सराय, डस्य दः । वसेश्च । उ० ३ । ७१ । इति वस निवासे--सरन् । सः स्यार्धधातुके । पा० ७ । ४ । ४६ । इति सस्य तकारः । इडायां विद्यायां निवासकायाचार्याय (परिवत्सराय) परितो निवासकाय जनकाय (संवत्सराय) सं पूर्वाच्चित् । उ० ३ । ७२ । इति सम्+वस--सरन्, स च चित् तत्वं च । सम्यग् यथाविधि निवासकाय राज्ञे (कृणुत) कुरुत (बृहत्) प्रभूतम् (नमः) नमस्कारम् (तेषाम्) (वयम्) (सुमतौ) शोभनबुद्धियुक्ते (यज्ञियानाम्) यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ । पा० ५ । १ । ७१ । इति घ प्रत्ययः । पूजार्हाणां विदुषाम् (अपि) एव (भद्रे) कल्याणकारके (सौमनसे) सुमनस्--अण् । सुमनसो भावे । हार्दिक स्नेहे (स्याम) भवेम ॥

सूक्तम् ५६ ॥

१-३ ॥ देवजना देवताः ॥ १ बृहती; २, ३ अनुष्टुप् ॥

दोषनाशोपदेशः—दोष के नाश के लिये उपदेश ॥

मा नो देवा अहिर्वधीत् सतोकान्त्सहपूरुषान् ।
संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमन्नमो देवजनेभ्यः ॥१॥

मा । नः । देवाः । अहिः । वधीत् । स-तोकान् । सह-पूरुषान् ।
सम्-यतम् । न । वि । स्परत् । वि-आत्तम् । न । सम् । यमत् ।
नमः । देव-जनेभ्यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (सतोकान्) सन्तानों सहित और (सहपूरुषान्) पुरुषों सहित (नः) हमको (अहिः) चोट देने वाला सर्प [सर्प तुल्य अपना दोष] (मा वधीत्) न काटे। वह (संयतम्) मुंदे हुये मुख को (न) न (वि स्परत्) खोले और (व्यात्तम्) खुले मुख को (न) न (सम् यमत्) मूंदे। (देवजनेभ्यः) विद्वान् जनों को (नमः) नमस्कार है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् महात्माओं से शिक्षा पाकर अपने और अपने सन्तानों और बांधव भृत्य आदि पुरुषों के दोषों को इस प्रकार निर्बल करदें जैसे दुष्ट सर्प को मार मार कर निर्बल कर देते हैं ॥१॥

१—(मा वधीत्) हन्तेर्लुङि। माहिंसीत् (नः) अस्मान् (देवाः) हे विद्वांसः (अहिः) आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च । उ० ४ । १३८ । इति आङ् + हन हिंसागत्योः-इञ्, स च डित्, आङो ह्रस्वश्च । आहननशीलः सर्पः । सर्पतुल्यआत्मदोषः (सतोकान्) अपत्यैः सहितान् (सहपुरुषान्) बान्धवभृत्यादिसहितान् (संयतम्) संकुचितम् (न) निषेधे (वि) विवृत्य (स्परत्) स्पृ प्रीतिचलनयोः-लेट् । चालयेत् (व्यात्तम्) अच उपसर्गात् तः । पा० ७ । ४ । ४७ । इति व्याङ् पूर्वाद् दाञो निष्ठायां तकारः । विवृतं मुखम् (न) (संयमत्) संश्लिष्येत् (नमः) सत्कारः (देवजनेभ्यः) विद्वत्पुरुषेभ्यः ॥

नमो॑स्त्वसि॒ताय॒ नम॒स्तिर॑श्चिराजये ।
स्व॒जाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमो॒ नमो॑ देवज॒नेभ्य॑: ॥ २ ॥

नम॑: । अ॒स्तु॒ । अ॒सि॒ताय॑ । नम॑: । तिर॑श्चि-राजये । स्व॒जाय॑ । ब॒भ्रवे॑ । नम॑: । नम॑: । दे॒व-ज॒नेभ्य॑: ॥ २ ॥

भाषार्थ—(असिताय) काले सांप के लिये (नमः) वज्र (अस्तु) होवे, (तिरश्चिराजये) तिरछी धारी वाले सांप के लिये (नमः) वज्र और (स्वजाय) लिपटने वाले (बभ्रवे) भूरे सांप के लिये (नमः) वज्र होवे। (देवजनेभ्यः) विद्वान् जनों के लिये (नमः) सत्कार है ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की संगति से अपने पापों का नाश करे, जैसे सर्प को वज्रादि से मारडालते हैं ॥२॥

सं ते॑ हन्मि द॒ता द॒तः समु॑ ते॒ हन्वा॒ हनू॑ ।
सं ते॑ जि॒ह्वया॑ जि॒ह्वां सम्वा॒स्नाह॑ आ॒स्य॑म् ॥ ३ ॥

सम् । ते॒ । ह॒न्मि॒ । द॒ता । द॒तः । सम् । ऊं॒ इति॑ । ते॒ । हन्वा॑ । हनू॒ इति॑ । सम् । ते॒ । जि॒ह्वया॑ । जि॒ह्वाम् । सम् । ऊं॒ इति॑ । आ॒स्ना । अ॒हे॒ । आ॒स्य॑म् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहे) हे सर्प ! (ते) तेरे (दता) दांत से (दतः) दांतों

२—(नमः) नमयति शत्रून् । वज्रनाम—निघ० २ । २० । (अस्तु) भवतु (असिताय) अ० ३ । २७ । १ । कृष्णसर्पाय (नमः) वज्रः (तिरश्चिराजये) अ० ३ । २७ । २ । तिरश्च्यः, तिर्यगवस्थिता राजयः पंक्तयो यस्य तथाविधाय सर्पाय (स्वजाय) अ० ३ । २७ । ४ । कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । २ । ५ । इति ष्वञ्ज आलिङ्गने—क । अनिदितां हल उपधायाः० । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । आलिङ्गनशीलाय सर्पाय (बभ्रवे) पिङ्गलवर्णाय । अन्यद् गतम् ॥

३—(सम्) संयोज्य (ते) तव (हन्मि) नाशयामि (दता) पद्भ्यो

को (सम् हन्मि) मिला कर तोड़ता हूं, (उ) और (ते) तेरे (हन्वा) जावड़े से (हनू) दोनों जावड़ों को (सम्) मिसल कर, (ते) तेरी (जिह्वया) जीभ से (जिह्वाम्) जीभ को (सम्) मिसलकर (उ) और (आस्ना) मुख से (आस्यम्) मुख को (सम्) मिला कर [तोड़ता हूं] ॥३॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य विषैले सांप को कुचल कर मार डालते हैं, उसी प्रकार से विद्वान् पुरुष अपने पापों का सर्वथा नाश करे ॥३॥

सूक्तम् ५७ ॥

१-३ ॥ रुद्रो देवता । १, २ अनुष्टुप्; ३ बृहती ॥

दोषनाशायोपदेशः—दोष के नाश के लिये उपदेश ॥

इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम् ।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ॥ १ ॥

इदम् । इत् । वै । ऊं इति । भेषजम् । इदम् । रुद्रस्य । भेषजम् । येन । इषुम् । एक-तेजनाम् । शत-शल्याम् । अप-ब्रवत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह [वेद ज्ञान] (इत्) ही (वै) निश्चय करके (भेषजम्) भय निवारक वस्तु है, (इदम्) यह (उ) ही (रुद्रस्य) दुःख नाशक परमेश्वर का (भेषजम्) औषध है । (येन) जिससे [मनुष्य]

मास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दन्तस्य दत् । दन्तेन (दतः) हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । इति दमु शमने—तन् । दन्तान् (सम्) (उ) समुच्चये (हन्वा) मुखावयवविशेषेण (हनू) हनुद्वयम् (सम्) (ते) (जिह्वया) रसनया (जिह्वाम्) रसनाम् (सम) (उ) (आस्ना) पद्दन्न० । इति आस्यस्य आसन् । आस्येन (अहे) म० १ । हे आहननशील सर्प (आस्यम्) मुखम् ॥

१—(इदम्) प्रत्यक्षं वेदज्ञानम् (इत्) एव (वै) निश्चयेन (उ) एव (भेषजम्) भयनाशकं वस्तु (इदम्) (रुद्रस्य) अ० २ । २७ । ६ । दुःख-नाशकस्य परमेश्वरस्य (भेषजम्) औषधम् (येन) औषधेन (इषुम्) बाणम् (एकतेजनाम्) तेज निशाने पालने च-ल्यु । तेजनो वंशः । एकस्तेजनः शरीर-रूपो वेणुकाण्डो यस्याः सा, तथाविधाम् (शतशल्याम्) व्याधिरूपाणि

(एकतेजनाम्) देहरूप एक दण्डवाले और (शतशल्याम्) व्याधिरूप सैकड़ो अणी वाले (इषुम्) बाण को (अपब्रवत्) हटा कर बोले ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वरदत्त वेद ज्ञान से अपने पापों को नष्ट कर सुखी होवे, जैसे घाव से तीर निकलने पर सुख मिलता है ॥१॥

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत ।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥ २ ॥

जालाषेण । अभि । सिञ्चत । जालाषेण । उप । सिञ्चत ।
जालाषम् । उग्रम् । भेषजम् । तेन । नः । मृड । जीवसे ॥२॥

भाषार्थ—(जालाषेण) जल सम्बन्धी द्रव्य से [फोड़े को] (अभि सिञ्चत) सब ओर से सींचो, (जालाषेण) सुख कारक पदार्थों से [उसे] (उप सिञ्चत) पास से सींचो । (जालाषम्) सुखों का समूह [वेदज्ञान] (उग्रम्) तीक्ष्ण (भेषजम्) औषध है, (तेन) उससे [हे रुद्र] (नः) हमें (जीवसे) जीने के लिये (मृड) सुखी रख ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य औषधियों द्वारा रोगों को अच्छा करते हैं वैसे ही मनुष्य वेद ज्ञान से अपने पाप नष्ट कर के सुखी होवें ॥ २ ॥

शतानि बहूनि शल्यानि अयोमुखानि प्रोतानि यस्यां, तादृशीम् (अपब्रवत्) अप वियोगे । वियुज्य ब्रूयात् ॥

२—(जालाषेण) जायते जः । जैर्जातैर्लष्यते वाञ्छ्यते । ज+लष इच्छायाम्—घञ् । जलाषमुदकम्—निघ० १ । १२ । सुखनाम—निघ० ३ । ६ । तस्येदम् । पा० ४ । १ । ६२ । इति, अण् । जलसम्बन्धिना वस्तुना (अभि) अभितः (सिञ्चत) व्रणं प्रक्षालयत हे वैद्याः (जालाषेण) सुखकरेण द्रव्येण (उप) उपेत्य (सिञ्चत) शोधयत (जालाषम्) तस्य समूहः । पा० ४ । २ । ३७ । इति, अण् । सुखस्य समूहो वेदज्ञानम् (उग्रम्) तीक्ष्णम् (भेषजम्) भयनिवारकं वस्तु (तेन) जालाषेण (नः) अस्मान् (मृड) सुखय (जीवसे) जीवनार्थम् ॥

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत्। क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम् ॥३॥

शम् । च । नः । मयः । च । नः । मा । च । नः । किम् । चन । आममत् । क्षमा । रपः । विश्वम् । नः । अस्तु । भेषजम् । सर्वम् । नः । अस्तु । भेषजम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(च) निश्चय करके (नः) हमारे लिये (शम्) शान्ति (च) और (नः) हमारे लिये (मयः) सुख होवे, (च) और (नः) हमें (किं चन) कोई भी दुःख (मा आममत्) न पीड़ा देवे। (रपः=रपसः) पाप की (क्षमा) क्षमा हो। (विश्वम्) सब जगत् (नः) हमारे लिये (भेषजम्) भयनिवारक (अस्तु) होवे, (सर्वम्) सब (नः) हमारे लिये (भेषजम्) रोगनाशक (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य रुद्र परमात्मा के अनुग्रह से पुरुषार्थ पूर्वक अपने विघ्न हटा कर सुख भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५८ ॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ १ जगती; २ पूर्वार्धस्त्रिष्टुप् द्वितीयो बृहती; ३ अनुष्टुप् ॥

यशः प्राप्त्युपदेशः—यश पाने के लिये उपदेश ॥

यशसं मेन्द्रो मघवान् कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी

३—(शम्) शान्तिः। स्वास्थ्यम् (च) निश्चयेन (नः) अस्मभ्यम् (मयः) अ० १। १३। २। सुखम् (च) समुच्चये (नः) (च) (नः) अस्मान् (किंचन) किमपि दुःखम् (मा आममत्) अम पीड़ने-लुङि चङि रूपम्। न पीडयेत् (क्षमा) क्षमूष् सहने-अङ्। क्षान्तिः। उपशमः (रपः) अ० ४। १३। २। रपोरिप्रमिति पापनामनी भवतः-निरु० ४। २१। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इति षष्ठ्या लुक्। रपसः। दोषस्य (विश्वम्) सर्वं जगत् (नः) अस्मभ्यम् (भेषजम्) भयनिवारकम् (सर्वम्) समस्तम् (नः) (अस्तु) (भेषजम्) रोगनाशकम् ॥

उभे इमे । यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥ १ ॥

यशसम् । मा । इन्द्रः । मघ-वान् । कृणोतु । यशसम् । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । इमे इति । यशसम् । मा । देवः । सविता । कृणोतु । प्रियः । दातुः । दक्षिणायाः । इह । स्याम् ॥१॥

भाषार्थ—(मघवान्) बड़ा धनी (इन्द्रः) परमेश्वर (मा) मुझे (यशसम्) यशस्वी (कृणोतु) करे, (इमे) यह (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक (यशसम्) कीर्तिमान् [करें] । (देवः) व्यवहार कुशल (सविता) विद्याप्रेरक आचार्य (मा) मुझे (यशसम्) यशस्वी (कृणोतु) करे (दक्षिणायाः) दक्षिणा वा प्रतिष्ठा के (दातुः) देने वाले राजा का (प्रियः) प्रिय (इह) यहां पर (स्याम्) मैं रहूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा विचार कर पराक्रम पूर्वक संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर और सर्वप्रिय होकर कीर्ति प्राप्त करे ॥१॥

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः । एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥२॥

यथा । इन्द्रः । द्यावापृथिव्योः । यशस्वान् । यथा । आपः । ओषधीषु । यशस्वतीः । एव । विश्वेषु । देवेषु । वयम् । सर्वेषु । यशसः । स्याम ॥ २ ॥

१—(यशसम्) अर्श आदित्वाद्—अच् । यशस्विनम् । कीर्तियुक्तम् (मा) माम् (इन्द्रः) परमेश्वरः (मघवान्) मघं धनम्—निघ० २ । १० । मतुप् । महाधनी (कृणोतु) करोतु (यशसम्) (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (उभे) (इमे) दृश्यमाने (यशसम्) (मा) (देवः) व्यवहारकुशलः (सविता) विद्याप्रेरक आचार्यः (प्रियः) प्रीतिकरः (दातुः) दानशीलस्य राज्ञः (दक्षिणायाः) दानस्य । प्रतिष्ठायाः (इह) अत्र लोके (स्याम्) भवेयम् ।

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इन्द्रः) परमेश्वर (द्यावापृथिव्योः) सूर्य और पृथिवी लोक में (यशस्वान्) कीर्तिमान् है, और (यथा) जैसे (आपः) जल (ओषधीषु) अन्न आदि ओषधियों में (यशस्वतीः) यश वाले हैं। (एव) वैसे ही (विश्वेषु) सब (देवेषु) व्यवहारकुशल महात्माओं में और (सर्वेषु) सब गुणों में (वयम्) हम लोग (यशसः) यश चाहने वाले (स्याम) होवें ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर और परमेश्वर रचित पदार्थों का महत्त्व जानकर संसार में यश प्राप्त करें ॥ २ ॥

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

यशाः । इन्द्रः । यशाः । अग्निः । यशाः । सोमः । अजायत ।
यशाः । विश्वस्य । भूतस्य । अहम् । अस्मि । यशः-तमः ॥३॥

भाषार्थ—यह मन्त्र इसी काण्ड के सूक्त ३९ मन्त्र ३ में आचुका है, वहां देखलेवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५९ ॥

१-३ ॥ अरुन्धती देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सर्वसुखप्राप्त्युपदेशः—सब सुख की प्राप्ति का उपदेश ॥

अनुडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति ।
अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥ १ ॥

अनुडुत्-भ्यः । त्वम् । प्रथमम् । धेनु-भ्यः । त्वम् । अरुन्धति ।
अधेनवे । वयसे । शर्म । यच्छ । चतुः-पदे ॥ १ ॥

२—(यथा) येन प्रकारेण (इन्द्रः) परमेश्वरः (द्यावापृथिव्योः) सूर्यलोकयोर्मध्ये (यशस्वान्) कीर्तिमान् (यथा) (आपः) जलानि (ओषधीषु) व्रीहियवादिपदार्थेषु (यशस्वतीः) कीर्तिमत्यः (एव) एवम् (विश्वेषु) समस्तेषु (देवेषु) व्यवहारकुशलेषु महात्मसु (वयम्) विज्ञानिनः पुरुषाः (सर्वेषु) प्राप्तेषु गुणेषु (यशसः) अ० ६ । ३९ । २ । आत्मनो यश इच्छन्तः (स्याम) भवेम ॥

३—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ६ । ३९ । ३ ॥

भाषार्थ—(अरुन्धति) हे रोक न डालने वाली शक्ति ! परमात्मन् (त्वम्) तू (अनडुद्भ्यः) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले पुरुषों को (त्वम्) तू (धेनुभ्यः) तृप्त करने वाली स्त्रियों को और (अधेनवे) बिना दूध वाले (चतुष्पदे) चौपाये को (वयसे) अन्नप्राप्ति के लिये (प्रथमम्) विस्तृत (शर्म) घर (यच्छ) दे ॥ १ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष परमेश्वर की उपासना करके प्रयत्न पूर्वक अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके उत्तम २ घर बनावें ॥ १ ॥

शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती ।
करत् पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत पूरुषान् ॥ २ ॥

शर्म । यच्छतु । ओषधिः । सह । देवीः । अरुन्धती । करत् । पयस्वन्तम् । गो-स्थम् । अयक्ष्मान् । उत । पुरुषान् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ओषधिः) तापनाशक (अरुन्धती) न रोक डालने वाली शक्ति परमेश्वर (देवीः सह=देवीभिः सह) उत्तम क्रियाओं के साथ (शर्म) शरण (यच्छतु) देवे । (गोष्ठम्) हमारी गोशाला को (पयस्वन्तम्) बहुत

१—(अनडुद्भ्यः) अ० ४ । ११ । १ । अनसः प्राणस्य जीवनस्य च वाहकेभ्यः प्रापकेभ्यः पुरुषेभ्यः (त्वम्) (प्रथमम्) अ० १ । १२ । १ । प्रथ ख्यातौ-अमच् । प्रख्यातम् (धेनुभ्यः) अ० ३ । १० । १ । धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा-निरु० ११ । ४२ । धि धारणे तर्पणे च-नु । तर्पयित्रीभ्यः स्त्रीभ्यः (त्वम्) (अरुन्धति) अ० ४ । १२ । १ । हे अरोधनशीले शक्ते परमात्मन् (अधेनवे) अ० ३ । १० । १ । धेट् पाने—नु । दुग्धरहिताय (वयसे) अन्नप्राप्तये—निघ० २ । ७ । (शर्म) गृहम्—निघ० ३ । ४ (चतुष्पदे) अ० २ । ३४ । १ । पादचतुष्टयोपेताय गवादिपशवे ॥

२—(शर्म) शरणम् (यच्छतु) ददातु (ओषधिः) अ० १ । २३ । १ । तापनाशयित्री (देवीः सह) तृतीयार्थे द्वितीया । देवीभिर्दिव्यक्रियाभिः सहिता (अरुन्धती) अरोधनशक्तिः परमेश्वरः (करत्) कुर्यात् (पयस्वन्तम्) प्रभूत-

दुग्ध वाली (उत) और (पूरुषान्) पुरुषों को (अयक्ष्मान्) नीरोग (करत्) करे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने घरों में अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके सदा स्वस्थ रहें ॥ २ ॥

विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम् ।

सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः ॥ ३ ॥

विश्व-रूपाम् । सु-भगाम् । अच्छ-आवदामि । जीवलाम् । सा । नः । रुद्रस्य । अस्ताम् । हेतिम् । दूरम् । नयतु । गोभ्यः ॥३॥

भाषार्थ—(विश्वरूपाम्) सबका रूप [रचना] करने वाली, (सुभगाम्) बड़े ऐश्वर्य वाली, (जीवलाम्) जीवन देने वाली अथवा जीवन सामर्थ्य वाली शक्ति परमात्मा को (अच्छावदामि) मैं स्वागत करके आवाहन करता हूं । (सा) वह (रुद्रस्य) दुःख नाशक परमेश्वर की (अस्ताम्) गिराई हुई (हेतिम्) ताड़ना को (नः) हमारी (गोभ्यः) भूमियों से (दूरम्) दूर (नयतु) ले जावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को सर्व व्यापी जानकर पाप करके दण्ड भागी न होवें ॥ ३ ॥

दुग्धयुक्तम (गोष्ठम्) गोनिवासदेशम् (अयक्ष्मान्) राजरोगरहितान् (उत) अपि च (पूरुषान्) सम्बन्धिनो मनुष्यान् ॥

३—(विश्वरूपाम्) विश्वस्य रूपं रचनं यस्यास्ताम् जगद्रूपकर्त्रीम् (सुभगाम्) शोभनैश्वर्यवतीम् (अच्छावदामि) अच्छ सुष्ठु स्वागतेन आवदामि आह्वयामि (जीवलाम्) आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति जीव+ रा दाने-क, रस्य लत्वम् । जीवनदात्रीम् । यद्वा । सिध्मादिभ्यश्च । पा० ५ । २ ९७ । इति जीव-मत्वर्थीयो लच् । जीवनवतीं शक्तिं परमेश्वरम् (सा) शक्तिः (नः) अस्माकम् (रुद्रस्य) अ० २ । २७ । ६ । दुःखनाशकस्य परमेश्वरस्य (अस्ताम्) असु क्षेपणे—क्त । क्षिप्ताम् (हेतिम्) ताडनाम् (दूरम्) (नयतु) गमयतु (गोभ्यः) भूमिभ्यः ॥

सूक्तम् ६० ॥

१-३ ॥ अर्य्यमा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशोपदेशः—गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का उपदेश ॥

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद् विषितस्तुपः ।
अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये ॥ १ ॥

अयम् । आ । याति । अर्यमा । पुरस्तात् । विषित-स्तुपः ।
अस्यै । इच्छन् । अग्रुवै । पतिम् । उत । जायाम् । अजानये ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (विषितस्तुपः) प्रसिद्ध स्तुति वाला (अर्यमा) अन्धकार नाशक सूर्य (अस्यै) इस (अग्रुवै) ज्ञानवती कन्या के लिये (पतिम्) पति, (उत) और (अजानये) अविवाहित पुरुष के लिये (जायाम्) पत्नी (इच्छन्) चाहता हुआ (पुरस्तात्) हमारे आगे (आ याति) आता है ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारिणी और ब्रह्मचारी वेद आदि शास्त्रों के अध्ययन से सूर्य के समान तेजस्वी अर्थात् ब्रह्मवर्चसी होकर युवा अवस्था में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें ॥ १ ॥

अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती ।
अङ्गो न्वर्यमन्नस्या अन्याः समनमायति ॥ २ ॥

अश्रमत् । इयम् । अर्यमन् । अन्यासाम् । समनम् । यती । अङ्गो इति । नु । अर्यमन् । अस्याः । अन्याः । समनम् । आ-अयति ॥२॥

१—(अयम्) पुरोदृश्यमानः (आ याति) आगच्छति (अर्यमा) अ० ३ । १४ । २ । अन्धकारनाशकः सूर्यः (पुरस्तात्) अस्माकमग्रे (विषितस्तुपः) वि-षो अन्तकर्मणि-क । स्तुवो दीर्घश्च । उ० ३ । २५ । इति ष्टुञ् स्तुतौ-प । विषितो विज्ञातः स्तुपः स्तुतिर्यस्य सः । प्रसिद्धस्तोमः (अस्यै) प्रसिद्धायै गुणवत्यै (इच्छन्) अभिलष्यन् (अग्रुवै) जत्र्वादयश्च । उ० ४ । १०२ । इति अगि गता-रु, ऊङ् । ज्ञानवत्यै कन्यायै (पतिम्) भर्तारम् (जायाम्) पत्नीम् (अजानये) जायारहिताय । अविवाहिताय पुरुषाय ॥

भाषार्थ—(अर्यमन्) हे शत्रुनाशक परमेश्वर ! (अन्यासाम्) दूसरी कन्याओं के (समनम्) विवाह में (यती) जाती हुई (इयम्) इस कन्या ने (अश्रमत्) तप किया है। (अङ्गो) हे (अर्यमन्) न्यायकारी परमेश्वर ! (अन्याः) दूसरी कन्यायें (अस्याः) इस कन्या के (समनम्) विवाह में (नु) अवश्य (आयति) आवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे यह कन्या अन्य कन्याओं के विवाह संस्कार में मिलती रही है, वैसे ही अन्य कन्यायें इसके विवाह में आकर शोभा बढ़ावें ॥ २॥

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् ।
धातास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् ॥ ३ ॥

धाता । दाधार । पृथिवीम् । धाता । द्याम् । उत । सूर्यम् ।
धाता । अस्यै । अग्रुवै । पतिम् । दधातु । प्रति-काम्यम् ॥३॥

भाषार्थ—(धाता) विधाता ने (पृथिवीम्) पृथिवी को, (उत) और (धाता) विधाता ने (द्याम्) आकाश और (सूर्यम्) सूर्य को (दाधार) धारण किया। (धाता) वही विधाता (अस्यै) इस (अग्रुवै) उद्योगशील

२—(अश्रमत्) श्रमु तपसि खेदे च। अतपत् तपश्चर्य्यां कृतवती (इयम्) पुरोवर्तिनी (अर्यमन्) हे न्यायकारिन् परमेश्वर (अन्यासाम्) कन्यानाम् (समनम्) सम्+अन प्राणने—अच्। यद्वा। स+मनु ज्ञाने-अच्। समनाः समनसः। समनं समननाद्वा सम्माननाद्वा—निरु० ७। १७। समनं संग्रामनाम—निघ० २। १७। विवाहोत्सवम्। संग्रामम् (यती) गच्छन्ती (अङ्गो) आभिमुख्यकरणे (नु) क्षिप्रम् (अर्यमन्) (अस्याः) कन्यायाः (अन्याः) कन्याः (समनम्) (आयति) अय गतौ, एकवचनं छान्दसम्। आयन्ति। आगच्छन्ति ॥

३—(धाता) विधाता सर्वकर्त्ता (दाधार) तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य। पा० ६। १। ७। इत्यभ्यासस्य दीर्घः। दधार। धृतवान् (पृथिवीम्) विस्तृतांभूमिम् (धाता) (द्याम्) आकाशम् (उत) अपि च (सूर्यम्) लोकानां प्रेरकमादित्यम् (धाता) (अस्यै) प्रसिद्धायै (अग्रुवै) म० ३।

कन्या को (प्रतिकाम्यम्) प्रतिज्ञा करके चाहने योग्य (पतिम्) पति (दधातु) देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा सब संसार के धारण पोषण में समर्थ है वैसे ही कन्या और कुमार [उपलक्षण से] विद्या और धन आदि से समर्थ होकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६१ ॥

१-३ ॥ परमेश्वरो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरमहत्त्वोपदेशः—परमेश्वर की महिमा का उपदेश ॥

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम् । मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥ १ ॥

मह्यम् । आपः । मधु-मत् । आ । ई्रयन्ताम् । मह्यम् । सूरः । अभरत् । ज्योतिषे । कम् । मह्यम् । देवाः । उत । विश्वे । तपः-जाः । मह्यम् । देवः । सविता । व्यचः । धात् ॥१॥

भाषार्थ—(मह्यम्) मेरे लिये (आपः) व्यापनशील जल (मधुमत्) मधुरपन से (आ ईरयन्ताम्) आकर बहें, (मह्यम्) मेरे लिये (सूरः) लोकों को चलाने वाले सूर्य ने (ज्योतिषे) ज्योति करने को (कम्) सुख (अभरत्) धारण किया है । (उत) और (मह्यम्) मेरे लिये (तपोजाः) तप से उत्पन्न

उद्योगवत्यै कन्यायै (पतिम्) भर्तारम् (दधातु) ददातु (प्रतिकाम्यम्) अ० २ । ३६ । ५ । प्रति प्रतिज्ञया कमनीयम् ॥

१—(मह्यम्) मदर्थम् । ममाज्ञापालनायेत्यर्थः (आपः) व्याप्तिशीला जलधाराः (मधुमत्) यथा तथा माधुर्य्येण (आ) समन्तात् (ईरयन्ताम्) गच्छन्तु (मह्यम्) (सूरः) अ० ४ । २ । ४ । लोकप्रेरकः सूर्यः (अभरत्) अधरत् (ज्योतिषे) अ० १ । ६ । १ । प्रकाशदानाय (कम्) सुखम्—निघ०

होने वाले (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण हैं, (मह्यम्) मेरे लिये (देवः) व्यवहार में चतुर (सविता) ऐश्वर्यवान् मनुष्य ने (व्यचः) विस्तार (धात= अधात्) धारण किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर कहता है कि संसार के सब पदार्थ मेरी आज्ञा में रहकर संसार का उपकार करते हैं ॥ १ ॥

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त साकम्।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥२॥

अहम् । विवेच । पृथिवीम् । उत । द्याम् । अहम् । ऋतून् । अजनयम् । सप्त । साकम् । अहम् । सत्यम् । अनृतम् । यत् । वदामि । अहम् । दैवीम् । परि । वाचम् । विशः । च ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं ने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (विवेच) पृथक् पृथक् किया, (अहम) मैंने (सप्त) सात (ऋतून्) व्यापनशील [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को (साकम्) आपस में मिला हुआ (अजनयम्) उत्पन्न किया है। (अहम्) मैं (यत्) जो कुछ (सत्यम्) सत्य और (अनृतम्) झूठ है [उसे] (च) और (अहम्)

३। ६। (मह्यम्) (देवाः) उत्तमगुणाः (उत) अपि च (विश्वे) सब (तपोजाः) तपसः सामर्थ्याज् जाताः (मह्यम्) (देवः) व्यवहारकुशलः (सविता) ऐश्वर्यवान् मनुष्यः (व्यचः) अ० ४ । १६ । ६ । व्याप्तिम् (धात्) लुङि रूपम् । अधात् । धृतवान् ॥

२—(अहम्) परमेश्वरः (विवेच) विचिर् पृथग्भावे—लिट् । पृथक् पृथक् कृतवान् (पृथिवीम्) भूमिम् (उत) अपि च (द्याम्) सूर्यलोकम् (अहम्) (ऋतून्) अर्तेश्च—तुः । उ० १ । ७२ । इति ऋग तौ- तु, स च कित् । ऋतुरर्तेर्गतिकर्मणः–निरु० २ । २५ । ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२ । ३७ । सप्त ऋषीन् । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धिरूपान् (अजनयम्) उत्पादितवानस्मि (साकम्) सह परस्पर संहतान् (अहम्) (सत्यम्) यथार्थम् (अनृतम्) (यत्) यत् किञ्चित् तदपि (वदामि) कथ-

में (दैवीम्) विद्वानों में होने वाली (वाचम्) वाणी को (विशः परि) सब मनुष्यों में भरपूर (वदामि) बताता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने पृथिवी सूर्य आदि पदार्थों को रचकर सत्य का विधान और असत्य का निषेध वेद द्वारा सब प्राणियों को बताया है ॥ २ ॥

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त सिन्धून्। अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया ॥ ३ ॥

अहम् । जजान । पृथिवीम् । उत । द्याम् । अहम् । ऋतून् । अजनयम् । सप्त । सिन्धून् । अहम् । सत्यम् । अनृतम् । यत् । वदामि । यः । अग्नीषोमौ । अजुषे । सखाया ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं ने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (जजान) उत्पन्न किया, (अहम्) मैंने (सप्त) सात (ऋतून्) [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को और (सिन्धून्) उनकी व्यापक शक्तियों को (अजनयम्) उत्पन्न किया है । (अहम्) मैं (सत्यम्) सत्य और (अनृतम्) झूठ (यत्) जो कुछ है [उसे] (वदामि) बताता हूं, (यः) जिसमें (सखाया) आपस में मित्र (अग्नीषोमौ) अग्नि और जल को (अजुषे) तृप्त किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सब पृथिवी आदि पदार्थ और इन्द्रियों और इन्द्रियों की शक्तियों को रचकर धर्म और अधर्म का लक्षण बताया है और अग्नि और जल वायु आदि को संसार की स्थिति का कारण रक्खा है उसी की उपासना सब मनुष्य करें ॥ ३ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

यामि विधिनिषेधरूपेण (अहम्) (दैवीम्) देव—अञ् । विद्वत्सु भवाम् (परि) परीत्या व्याप्य (वाचाम्) वेदवाणीम् (विशः) मनुष्यान् निघ० २ । ३ । (च) समुच्चये ॥

३—(जजान) उत्पादितवानस्मि (ऋतून्) म० २ । व्यापनशीलान् ऋषीन् त्वक्चक्षुरादीन् (सप्त) सप्तसंख्यकान् (सिन्धून्) अ० ४ । ६ । २ । स्यन्दनशीला व्यापिकाः शक्तीः, त्वक्चक्षुरादीनाम् (यः) अहं परमेश्वरः (अग्नीषोमौ) अग्निं च जलं च (अजुषे) जुषी प्रीतिसेवनयोः । तर्पितवानस्मि (सखाया) सखायौ, सहायभूतौ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः

सूक्तम् ६२ ॥

१-३ ॥ १ मन्त्रोक्तदेवता; २,३ सूनृता देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

धनस्य नैरोग्यस्य चोपदेशः—धन और नीरोगता का उपदेश ॥

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम् ॥ १ ॥

वैश्वानरः । रश्मि-भिः । नः । पुनातु । वातः । प्राणेन । इषिरः । नभः-भिः । द्यावापृथिवी इति । पयसा । पयस्वती इति । ऋतवरी इत्युत-वरी । यज्ञिये इति । नः । पुनीताम् ॥१

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी परमेश्वर (रश्मिभिः) विद्या प्रकाशों से और (इषिरः) शीघ्र गामी (वातः) पवन (प्राणेन) प्राण से और (नभोभिः) मेघों से (नः) हमें (पुनातु) पवित्र करे। (पयस्वती) रसवाली (ऋतावरी) सत्यशील और (यज्ञिये) संगति करने योग्य (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक (पयसा) अपने रस से (नः) हमें (पुनीताम्) शुद्ध करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विज्ञान पूर्वक सूर्य, वायु, मेघ, पृथिवी, आदि पदार्थों से शिल्प आदि और शरीर रक्षण आदि में उपकार लेकर सुखी हों ॥१॥

१—(वैश्वानरः) सर्वनरहितः परमेश्वरः (रश्मिभिः) विद्याप्रकाशैः (नः) अस्मान् (पुनातु) शोधयतु (वातः) वायुः (प्राणेन) श्वासप्रश्वासव्यापारेण (इषिरः) अ० ५ । १ । ६ । गमनशीलः (नभोभिः) अ० ४ । १५ । ३ । मेघैः (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (पयसा) रसेन (पयस्वती) रसवत्यौ (ऋतावरी) अ० ३ । १३ । ७ । सत्ययुक्ते (यज्ञिये) संगतिकरणयोग्ये (नः) (पुनीताम्) शोधयताम् ॥

वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः। तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २ ॥

वैश्वानरीम् । सूनृताम् । आ । रभध्वम् । यस्याः । आशाः । तन्वः। वीत-पृष्ठाः । तया । गृणन्तः । सध-मादेषु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वैश्वानरीम्) सब नरों का हित करनेवाली (सूनृताम्) प्रिय सत्य वेद वाणी को (आ रभध्वम्) तुम आरम्भ करो (यस्याः) जिसके (तन्वः) शरीर के (आशाः) विस्तार (वीतपृष्ठाः) सेचन सामर्थ्य पहुंचाने वाले हैं। (तया) उस [वेद वाणी] से (सधमादेषु) परस्पर आनन्द उत्सवों पर (गृणन्तः) बात चीत करते हुये (वयम्) हम लोग (रयीणाम्) धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद विद्या का सर्वत्र प्रचार करके विद्या धन और सुवर्णादि धन बढ़ावें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है=अ० १९ । ४४ ॥

वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः। इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम् ३

२—(वैश्वानरीम्) अ० १ । १० । ४ । वैश्वानर—ङीप् । सर्वनरहिताम (सूनृताम्) अ० ३ । १२ । २ । प्रियसत्यात्मिकां वेदवाणीम् (आरभध्वम्) उपक्रमध्वम् (यस्याः) सूनृतायाः (आशाः) आङ्+अशू व्याप्तौ–अच् , टाप् । विस्ताराः (तन्वः) अ० १ । १ । १ । तन्वाः शरीरस्य । स्वरूपस्य (वीतपृष्ठाः) वी गतिव्याप्त्यादिषु—क्त । तिथपृष्ठ० । उ० २ । १२ । इति पृषु सेचने-थक् । वीतानि प्राप्तानि पृष्ठानि सेचनानि वर्धनानि यासां ताः । वृद्धिप्रापिकाः । (तया) सूनृतया (गृणन्तः) गॄ शब्दे—शतृ । शब्दयन्तः (सधमादेषु) सह +मदी हर्षग्लेपनयोः–घञ् । सध मादस्थयोश्छन्दसि । पा० ६ । ३ । ९६ । सहर्षोत्सवेषु (वयम्) वेदानुगामिनः (स्याम) भवेम (पतयः) स्वामिनः (रयीणाम्) बहुधनानाम् ॥

वैश्वानरीम् । वर्चसे । आ । रभध्वम् । शुद्धाः । भवन्तः । शुचयः । पावकाः । इह । इडया । सध-मादम् । मदन्तः । ज्योक् । पश्येम । सूर्यम् । उत्-चरन्तम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ--[हे मनुष्यो !] (शुद्धाः) शुद्ध, (शुचयः) पवित्र और (पावकाः) शुद्ध करने वाले (भवन्तः) होते हुये तुम (वैश्वानरीम्) सब नरों का हित करने वाली [वेद वाणी] को (वर्चसे) तेज पाने के लिये (आ-रभध्वम्) आरम्भ करो। (इह) यहां पर (इडया) वेद वाणी से (सधमा-दम्) परस्पर हर्ष उत्सव को (मदन्तः) आनन्दित करते हुये हम (ज्योक्) बहुत काल तक (उच्चरन्तम्) चढ़ते हुये (सूर्य्यम्) सूर्य को (पश्येम) देखते रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद विद्या का आश्रय लेकर आप शुद्ध होकर और दूसरे अज्ञानियों को शुद्ध करके परस्पर आनन्द भोगते हुये चढ़ते हुये सूर्य के समान प्रतापी होवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६३ ॥

१-४ ॥ आत्मा देवता ॥ १-३ त्रिष्टुप्; ४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

मोक्षप्राप्त्युपदेशः—मोक्ष प्राप्ति का उपदेश ॥

यत् ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत् । तत् ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमद-मन्नमद्धि प्रसूतः ॥ १ ॥

३—(वैश्वानरीम्) म० २। विश्वनरहितां वेदवाणीम् (वर्चसे) ब्रह्म-वर्चसप्राप्तये (आ रभध्वम्) उपक्रमध्वम् (शुद्धाः) पवित्राचाराः (भवन्तः) सन्तः (शुचयः) निष्पापाः (पावकाः) अन्येषां शोधकाः (इह) अस्मिन् लोके (इडया) वाचा। वेदवाण्या (सधमादम्)—म० २। परस्परहर्षोत्सवम् (मदन्तः) अन्तर्गतण्यर्थः। मादयन्तः। आनन्दयन्तः (ज्योक्) अ० १। ६। ३। चिरकालम् (पश्येम) अवलोकयेम (सूर्यम्) आदित्यम (उच्चरन्तम्) उद्गच्छन्तम् ॥

यत् । ते॒ । दे॒वी । निः-ऋ॑तिः । आ॒-बबन्ध॑ । दाम॑ । ग्री॒वासु॑ । अ॒वि॒-मो॒क्यम् । यत् । तत् । ते॒ । वि । स्या॒मि॒ । आयु॑षे । वर्च॑से । बला॑य । अ॒दो॒म॒दम् । अन्न॑म् । अ॒द्धि॒ । प्र-सू॑तः ॥ १ ॥

भाषार्थ -[हे मनुष्य !] (देवी) प्राप्त हुई (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी ने (यत्) जो (दाम) रस्सी (ते) तेरे (ग्रीवासु) गले में (आबबन्ध) बाँध दी है, (यत्) जो [ज्ञानाद् ऋते, ज्ञान बिना] (अमोक्यम्) न खुलने वाली है । (तत्) उसको (ते) तेरे (आयुषे) उत्तम जीवन के लिये, (वर्चसे) तेज के लिये और (बलाय) बल के लिये, [ज्ञानेन, ज्ञान से] (वि स्यामि) मैं खोलता हूं, (प्रसूतः) आगे बढ़ाया गया तू (अदोमदम्) अक्षय हर्ष युक्त (अन्नम्) अन्न का (अद्धि) भोग कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अज्ञान के फल दरिद्रता आदि दुःखों को ज्ञान द्वारा पुरुषार्थ पूर्वक नाश करके अक्षय आनन्द भोगें ॥ १ ॥

नमो॑ऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽय॒स्मया॒न् वि चृ॑ता बन्धपा॒शान् । य॒मो मह्यं॒ पुन॒रित् त्वां द॑दाति॒ तस्मै॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॑ ॥ २ ॥

१—(यत्) (ते) तव (देवी) दिवु क्रीडागत्यादिषु—अच्, ङीप् । प्राप्ता (निर्ऋतिः) अ० १ । ३१ । २ । निर्ऋतिर्निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः । निरु० २ । ७ । अलक्ष्मीः । दरिद्रता कुकर्मफलरूपा (आबबन्ध) आबद्धवती (दाम) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति डुदाञ् दाने-मनिन् । पाशम् (ग्रीवासु) कण्ठगतासु धमनीषु (अमोक्यम्) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति मुच्लृ त्यागे—ण्यत् । चजोः कुः घिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । अविमोचनीयम् (यत्) (दाम) (तत्) दाम (ते) तव (वि स्यामि) षो अन्तकर्मणि, उपसर्गवशाद् विमोचने । स्यतिरुपसृष्टो विमोचने-निरु० १ । १७ । विमुञ्चामि ज्ञानेन (आयुषे) उत्तमजीवनाय (वर्चसे) तेजसे (बलाय) पराक्रमाय (अदोमदम्) अ+दसु उपक्षये—क्विप् । अदाः अक्षीणो मदो हर्षो यस्मिन् तत् । अक्षयहर्षयुक्तम् (अन्नम्) अन प्राणने—नन् । जीवनसाधनभोजनम् (अद्धि) भुङ्क्ष्व (प्रसूतः) प्रेरितः सुकर्मभिः ॥

नमः । अस्तु । ते । निः-ऋते । तिग्म-तेजः । अयस्मयान् । वि । चृत । बन्ध-पाशान् । यमः । मह्यम । पुनः । इत् । त्वाम् । ददाति । तस्मै । यमाय । नमः । अस्तु । मृत्यवे ॥२

भाषार्थ—(तिग्मतेजः) हे तेज नाश करने वाली (निर्ऋते) अलक्ष्मी (ते) तेरे लिये (नमः) वज्र (अस्तु) होवे, (अयस्मयान्) लोह के बनी (बन्धपाशान्) बन्धन की बेड़ियों को (वि चृत) तोड़ डाल । (यमः) न्यायकारी परमेश्वर (मह्यम्) मेरे लिये (पुनः) बारं बार (इत्) ही (त्वाम्) तुझको (ददाति) देता है, (तस्मै) उस (यमाय) न्यायकारी परमेश्वर को (मृत्यवे) दुःख रूप मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से दुष्कर्मियों को अनेक दारुण दुःख देता है, इस लिये मनुष्य ज्ञान द्वारा पापों से बचकर मृत्यु अर्थात् दुःख से बचे रहें ॥ २ ॥

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥३

अयस्मये । द्रु-पदे । बेधिषे । इह । अभि-हितः । मृत्यु-भिः । ये । सहस्रम् । यमेन । त्वम् । पितृ-भिः । सम्-विदानः । उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इह) यहां पर (मृत्युभिः) मृत्यु के कारणों

२—(नमः) वज्रः-निघ० २ । २० (अस्तु) (ते) तुभ्यम् (निर्ऋते) हे अलक्ष्मि (तिग्मतेजः) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । इति तिग गतौ हिंसायां च-मक् । तिग्मानि हिंसितानि तेजांसि यया सा तिग्मतेजाः, तत्सम्बुद्धौ । हे नाशिततेजः (अयस्मयान्) लोहमयान्, अतिदृढान् (विचृत) चृती हिंसाग्रन्थनयोः । विहिन्धि । विनाशय (बन्धपाशान्) बन्धनजालान् (यमः) न्यायकारी परमेश्वरः (मह्यम्) प्राणिने (पुनः) बारं बारम् (इत्) एव (त्वाम्) निर्ऋतिम् (ददाति) प्रयच्छति । अन्यद् व्याख्यातम्-अ० ६ । २८ । ३ ॥

३—(अयस्मये) अयोमये (द्रुपदे) दारुनिर्मिते पादबन्धने (बेधिषे)

से, (ये) जो (सहस्रम्) सहस्र प्रकार हैं, (अभिहितः) घिरा हुआ तू (अयस्मये) लोहे से जकड़े हुये (द्रुपदे) काठ के बन्धन में (बेधिषे=बध्यसे) बंध रहा है। (यमेन) नियम के साथ (पितृभिः) पालन करने वाले ज्ञानियों से (संविदानः) मिला हुआ (त्वम्) तू (इमम्) इस पुरुष को (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) आनन्द में (अधि रोहय) ऊपर चढ़ा ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पापों के कारण बड़े बड़े कष्ट उठाते हैं, वे विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके मोक्षपद प्राप्त करें ॥ ३ ॥

संसमिद् युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ ४ ॥

सम्-सम् । इत् । युवसे । वृषन् । अग्ने । विश्वानि । अर्यः । आ ।
इडः । पदे । सम् । इध्यसे । सः । नः । वसूनि । आ । भर ॥४॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे बलवान् (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (अर्यः) स्वामी होकर तू (विश्वानि इत्) सब ही [सुखों] को (संसम्) यथावत् रीति से (आ=आनीय) ला कर (युवसे) मिलाता है। और (इडः) प्रशंसा

बन्ध बन्धने कर्मणि-लट्। छन्दस्युभयथा। पा० ३। ४। ११७। इति सार्वधातुकार्धधातुकत्वाद् नलोपः, यगभाव इडागमश्च, छान्दसमेत्वम्। बध्यसे बद्धो भवसि (इह) अस्मिन् लोके (अभिहितः) अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने। वेष्टितः (मृत्युभिः) मरणकारणैः। महाकष्टैः (ये) (सहस्रम्) अनेकविधम् (यमेन) नियमेन (त्वम्) मनुष्यः (पितृभिः) पालकैर्महात्मभिः (संविदानः) अ० २। २८। २। संगच्छमानः (उत्तमम्) श्रेष्ठम् (नाकम्) अ० १। ९। २। दुःखरहितं कं सुखम् (अधि रोहय) उपरि प्रापय (इमम्) आत्मानम् ॥

४—(संसम) अतिसम्यग् रीत्या (इत्) एव (युवसे) यु मिश्रणामिश्रणयोः, तुदादित्वमात्मनेपदत्वं च छान्दसम्। यौषि। मिश्रयसि (वृषन्) बलवन् (अग्ने) हे विद्वन् पुरुष (विश्वानि) सर्वाणि सुखानि (अर्यः) अर्यः स्वामिवैश्ययोः। पा० ३। १। १०३। इति ऋ गतौ-यत् प्रत्ययो निपातनात्। स्वामी त्वम् (आ) आनीय (इडः) ईड स्तुतौ-क्विप्, ह्रस्वश्च। प्रशंसायाः

के (पदे) पद्पर (सम् इध्यसे) तू सुशोभित होता है, (सः) सो तू (नः) हमारे लिये (वसूनि) अनेक धनों को (आ भर) भर दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य पराक्रमी धर्मात्माओं का आश्रय लेकर सम्पूर्ण धन प्राप्त करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है-अ० १५ । ३० । और ऋग्वेद में भी है-म० १० । १९१ । १ । ७ । जिसके आगे के शेष तीन मन्त्र अगले सूक्त ६४ में हैं ॥

सूक्तम् ६४ ॥

१-३ ॥ संज्ञानं देवता ॥ १, ३ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

संगतिलाभोपदेशः—संगति के लाभ का उपदेश ॥

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ १ ॥

सम् । जानीध्वम् । सम् । पृच्यध्वम् । सम् । वः । मनांसि । जानताम् । देवाः । भागम् । यथा । पूर्वे । सम्-जानानाः । उप-आसते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सम् जानीध्वम्) आपस में जान पहिचान करो, (सम् पृच्यध्वम्) आपस में मिले रहो, (जानताम् वः) ज्ञानवाले तुम लोगों के (मनांसि) मन (सम्) एकसे होवें [अथवा-(वः) तुम्हारे (मनांसि) मन (सम्) एकसे (जानताम्) होवें] । (यथा) जैसे (पूर्वे) प्रथम स्थान

(पदे) अधिकारे (सम्) सम्यक् (इध्यसे) दीप्यसे । (सः) त्वम् (नः) अस्मभ्यम् (वसूनि) धनानि (आ) समन्तात् (भर) धर ॥

१—(सम् जानीध्वम्) संप्रतिभ्यामनाध्याने । पा० १ । ३ । ४६ । इत्यात्मनेपदत्वम् । समानज्ञानयुक्ता भवत (सम् पृच्यध्वम्) पृची सम्पर्के । संपृक्ताः संसृष्टकार्य्या भवत (सम्) समानानि (वः) युष्माकम् (मनांसि) अन्तःकरणानि (जानताम्) ज्ञा अवबोधने—शतृ । ज्ञानवताम्, अथवा । अकर्मकाच्च । पा० १ । ३ । ४५ । इत्यात्मनेपदम् । लोटि रूपम् । प्रवर्तन्ताम् (देवाः) विद्वांसः (भागम्) भज सेवायाम्—घञ् । भजनीयमीश्वरम्, अथवा, भग—अण् । भगाना-

वाले, (संजानानाः) यथावत् ज्ञानी (देवाः) विद्वान् लोग (भागम्) सेवनीय परमेश्वर अथवा ऐश्वर्यों के समूह को (उपासते) सेवन करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परस्पर मिल कर वेद आदि शास्त्रों का विचार करके ज्ञानी पुरुषों के समान ईश्वर आज्ञा पालन करते हुये अनेक ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥१

मन्त्र १—३ कुछ भेद से ऋग्वेद के चार मन्त्र वाले अन्तिम सूक्त, म० १० । सू० १९१ के म० २—४ । हैं, पहिला मन्त्र गत सूक्त में आ चुका है । और स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेदोक्त धर्म विषय में भी आये हैं ॥

स॒मा॒नो मन्त्र॒: समि॑तिः समा॒नी स॑मा॒नं व्र॒तं स॒ह चि॒त्तमे॑षाम् । स॒मा॒नेन॑ वो ह॒विषा॑ जुहोमि समा॒नं चेतो॑ अ॒भि॒संवि॑शध्वम् ॥ २ ॥

स॒मा॒नः । मन्त्र॑: । सम्ऽइ॑तिः । स॒मा॒नी । स॒मा॒नम् । व्र॒तम् । स॒ह । चि॒त्तम् । ए॒षा॒म् । स॒मा॒नेन॑ । व॒: । ह॒विषा॑ । जु॒हो॒मि॒ । स॒मा॒नम् । चेत॑: । अ॒भि॒ऽसंवि॑शध्वम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो तुम्हारा] (मन्त्रः) मन्त्र, विचार (समानः) एकसा, (समितिः) समिति [सामाजिक व्यवस्था] (समानी) एकसी, (व्रतम्) धर्म का आचरण (समानम्) एकसा और (एषाम्) इन तुम सब का (चित्तम्) चित्त [सब पदार्थों का ज्ञान] (सह) मिला हुआ होवे । (समानेन) एक से

मैश्वर्य्याणां समूहम् (यथा) येन प्रकारेण (पूर्वे) प्रथमस्थाने वर्तमानाः श्रेष्ठाः (संजानानाः) सम्+ज्ञा—शानच् । सम्यग् ज्ञानवन्तः (उपासते) सेवन्ते ॥

२—(समानः) सम्+अन प्राणने—घञ् । तुल्यः । एकरूपः (मन्त्रः) मत्रि गुप्तभाषणे—घञ् । सत्यासत्यविवेकः (समितिः) सम्+इण—क्तिन् । संगतिः । सभा (समानी) एकरसा (समानम्) अविरुद्धम् (व्रतम्) अ० २ । ३० । २ । वृञ्-अतच् । वरणीयं धर्माचरणम् (सह) संगतम् (चित्तम्) सर्वपदार्थविषयि ज्ञानम् (एषाम्) एतेषां युष्माकम् (समानेन) एकरूपेण (वः) युष्मान् (हविषा) ग्राह्येण धर्मणा (जुहोमि) हु दानादानादनेषु । आददे ।

(हविषा) ग्राह्य धर्म के साथ (वः) तुम को (जुहोमि) मैं ग्रहण करता हूं, (समानम्) एक से (चेतः) चिन्तन [भूत, भविष्यत् के अनुभव के स्मरण] में (अभिसंविशध्वम्) तुम भली भांति प्रवेश करो ॥ २ ॥

भावार्थ--मनुष्यों को योग्य है कि सदा वेद मार्ग पर चलकर एकचित्त होकर धर्म सभा, विद्यासभा, राजसभा आदि बनाकर बुद्धि, बल, और पराक्रम आदि उत्तम गुण बढ़ावें ॥ २ ॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ३ ॥

समानी । वः । आ-कूतिः । समाना । हृदयानि । वः । समानम् । अस्तु । वः । मनः । यथा । वः । सु-सह । असति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वः) तुम्हारा (आकूतिः) निश्चय, उत्साह, अथवा सङ्कल्प (समानी) एकसा और (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदय [हार्दिक कर्म] (समाना) एक से होवें । (वः) तुम्हारा (मनः) मन [मनन कर्म] (समानम्) एकसा (अस्तु) होवे, (यथा) जिससे (वः) तुम्हारी (असति) गति (सुसह) बड़ा सहाय करने वाली होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ--मनुष्य धर्म के विचारों में प्रीति पूर्वक एक मत होकर अपने सब काम समाज द्वारा सिद्ध करके सुख बढ़ावें ॥ ३ ॥

स्वीकरोमि (समानम्) साधारणम् (चेतः) पूर्वापरानुभूतं स्मरणात्मकं चिन्तनम् (अभिसंविशध्वम्) अभितः प्रविशत । आत्मनि धारयत ॥

३—(समानी) एकरूपा (वः) युष्माकम् (आकूतिः) अध्यवसाय उत्साह आप्तरीतिः संकल्पो वा (समाना) अविरुद्धानि (हृदयानि) हार्दिककर्माणि (वः) (समानम्) तुल्यम् (अस्तु) भवतु (वः) युष्माकम् (मनः) मननम् । सङ्कल्पविकल्पात्मकेन्द्रियव्यापारः (यथा) येन प्रकारेण (वः) युष्माकम् (सुसह) अव्ययम् । सुष्ठु धर्मेण सह सहायिका भवतु (असति) असेरतिः । उ० ४ । ५६ । इति अस गतौ—अति । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति विभक्तेर्लुक् । असतिः । गतिः ॥

सूक्तम् ६५ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पङ्क्तिः; २, ३ अनुष्टुप् ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः--सेनापति के लक्षणों का उपदेश ॥

अव॑ मन्युरवाय॒ताव॑ बा॒हू म॑नो॒युजा॑ । परा॑शर॒ त्वं
तेषां॒ परा॑ञ्चं॒ शुष्म॑मर्द॒याधा॑ नो र॒यिमा कृ॑धि ॥ १ ॥

अव॑ । म॒न्युः । अव॑ । आ-य॑ता । अव॑ । बा॒हू इति॑ । म॒नः॒-यु॒जा॑ । परा॑-शर । त्वम् । तेषा॑म् । परा॑ञ्चम् । शुष्म॑म् । अ॒र्द॒य॒ । अध॑ । नः॒ । र॒यिम् । आ । कृ॒धि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ--(मन्युः) क्रोध (अव=अवगच्छतु) ढीला होवे, (आयता) फैले हुये शस्त्र (अव=अवगच्छन्तु) ढीले होवें (मनोयुजा) मन के साथ संयोग वाली (बाहू) भुजायें (अव=अवगच्छताम्) नीचे होवें । (पराशर) हे शत्रुनाशक सेनापति ! (त्वम्) तू (तेषाम्) उन [शत्रुओं] का (शुष्मम्) बल (पराञ्चम्) औंधा करके (अर्दय) मिटा दे, (अध) और (नः) हमारे लिये (रयिम्) धन (आ कृधि) सन्मुख कर ॥ १ ॥

भावार्थ--चतुर सेनापति शत्रुओं को हराकर शान्त चित्त होकर प्रजा में धन की बढ़ती करे ॥ १ ॥

निर्ह॑स्तेभ्यो नैर्ह॒स्तं यं दे॑वाः शरु॒मस्य॑थ ।
वृ॒श्चामि॒ शत्रू॑णां बा॒हून॒नेन॑ ह॒विषा॒हम् ॥ २ ॥

१--(अव) अवगच्छतु (मन्युः) क्रोधः (अव) अवगच्छन्तु (आयता) आयतानि प्रसारितानि शस्त्राणि (अव) अवगच्छताम् (बाहू) भुजौ (मनोयुजा) सत्सूद्विषद्रुहदुहयुज० । पा० ३ । २ । ६१ । इति मनः+ युजिर् योगे--क्विप् । मनसा संयोजकौ (पराशर) परागत्य शृणाति शत्रून् । ॠदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति परा+शॄ हिंसायाम्--अप् । इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते परशातयिता यातूनाम्-निरु० ६ । ३० । हे शत्रुनाशक वीर सेनापते (त्वम्) (तेषाम्) शत्रूणाम् (पराञ्चम्) पराङ्मुखं कृत्वा (शुष्मम्) शोषकं बलम् (अर्दय) नाशय (अध) अथ । अनन्तरम् (रयिम्) धनम् (आ कृधि) अभिमुखं कुरु ॥

निः-हस्तेभ्यः । नैः-हस्तम् । यम् । देवाः । शरुम् । अस्यथ । वृश्चामि । शत्रूणाम् । बाहून् । अनेन । हविषा । अहम् ॥२॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयी लोगो ! (निर्हस्तेभ्यः) निहत्थे [निर्बल-हम लोगों] के हित के लिये (नैर्हस्तम्) निहत्त [निर्बल शत्रुओं] के ऊपर (यम्) जिस (शरुम्) बाण को (अस्यथ) तुम छोड़ते हो (अनेन) उसी ही (हविषा) ग्राह्य शस्त्र से (अहम्) मैं [प्रजागण वा राजगण] (शत्रूणाम्) शत्रुओं की (बाहून्) भुजाओं को (वृश्चामि) काटता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण और राजपुरुष मिलकर शत्रुओं के नाश करने के प्रयत्न करें ॥ २ ॥

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः ।
जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥ ३ ॥

इन्द्रः । चकार । प्रथमम् । नैः-हस्तम् । असुरेभ्यः । जयन्तु । सत्वानः । मम । स्थिरेण । इन्द्रेण । मेदिना ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति ने (असुरेभ्यः) असुर शत्रुओं को (नैर्हस्तम्) निहत्तापन (प्रथमम्) पहिले (चकार) किया था। (स्थिरेण) स्थिर स्वभाव, (मेदिना) स्नेही (इन्द्रेण) उस बड़े सेनापति के साथ (मम) मेरे (सत्वानः) वीर लोग (जयन्तु) जीतें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस शूर सेनापति की सहायता से पहिले शत्रुओं को जीता है उसकी सहायता से शत्रुओं को अब भी जीतें ॥ ३ ॥

२—(निर्हस्तेभ्यः) निर्गतहस्तसामर्थ्येभ्यः प्रजागणेभ्यः । तेषां हिताये-त्यर्थः (नैर्हस्तम्) समूहे —अण् । निर्गतहस्तसामर्थ्यानां शत्रूणां समूहं प्रति (यम्) (देवाः) विजिगीषवः पुरुषाः (शरुम्) अ० १ । २ । ३ । हिंसकं बाणाद्यायुधम् (अस्यथ) द्विकर्मकोऽयम् । क्षिपथ (वृश्चामि) छिनद्मि (शत्रूणाम्) वैरिणाम् (बाहून्) भुजान् (अनेन) निर्दिष्टेन (हविषा) ग्राह्येण शस्त्रेण (अहम्) प्रजागणो राजगणो वा ॥

३—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (चकार) कृतवान् (प्रथमम्) पूर्वस्मिन् काले (नैर्हस्तम्) भावे—अण् । निर्हस्तत्वं हस्तसामर्थ्यवैकल्यम् (असुरेभ्यः) देवविरुद्धेभ्यः शत्रुभ्यः (जयन्तु) अभिभवन्तु शत्रून् (सत्वानः) अ० ५ । २ । ८ । उद्योगिनो वीराः (मम) प्रजागणस्य (स्थिरेण) दृढस्वभावेन (इन्द्रेण) सेनापतिना (मेदिना) अ० ३ । ६ । २ । शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् । पा० ३ । २ । १४१ । इति ञिमिदा स्नेहने—घिनुण् । स्नेहिना ॥

सूक्तम् ९९ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ त्रिष्टुप्; २, ३ अनुष्टुप् ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान्।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥१॥

निः-हस्तः। शत्रुः। अभि-दासन्। अस्तु। ये। सेनाभिः।
युधम्। आ-यन्ति। अस्मान्। सम्। अर्पय। इन्द्र। महता।
वधेन। द्रातु। एषाम्। अघ-हारः। वि-विद्धः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शत्रुः) शत्रु (नः) हम पर (अभिदासन्) चढ़ाई करता हुआ (निर्हस्तः) निहत्था (अस्तु) होवे, [और वे भी,] (ये) जो (सेनाभिः) अपनी सेनाओं के साथ (युधम्) युद्ध करने के लिये (अस्मान्) हम पर (आयन्ति) चले आते हैं। (इन्द्र) हे प्रतापी सेनापति इन्द्र ! [उन सब को] (महता) बड़े (वधेन) बध के साथ (समर्पय) मार गिरा, (एषाम्) इन सब का (अघहारः) दुःखदायी प्रधान (विविद्धः) आर पार छिदकर (द्रातु) भाग जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति शत्रुओं और उनकी सेनाओं को अपनी सुशिक्षित सेना द्वारा हरा कर भगा देवे ॥ १ ॥

१—(निर्हस्तः) निर्गतहस्तसामर्थ्यः (शत्रुः) अरिः (अभिदासन्) दास वधे—शतृ। अभिहिंसन् (अस्तु) (ये) ये तेऽपि (सेनाभिः) सैन्यैः (युधम्) युध संप्रहारे-क्विप्। चतुर्थ्यर्थे द्वितीया। युधे। युद्धाय (आयन्ति) अभिगच्छन्ति (अस्मान्) धार्मिकान् (समर्पय) अ० ५। २२। ६। ऋ हिंसायाम्—णिच्, पुक्। सम्यग् विनाशय (इन्द्र) हे प्रतापिन् सेनापते (महता) विशालेन (वधेन) हननेन (द्रातु) द्रा कुत्सायां गतौ। पलायताम् (एषाम्) शत्रूणाम् (अघहारः) कर्मण्यण्। पा० ३। २। १। इति—अघ+हृञ् हरणे-अण्। अघस्य दुःखस्य प्रापयिता (विविद्धः) व्यध ताडने-क्त। विशेषेण छिन्नः ॥

आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ ।
निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोऽद्य पराशरीत् ॥ २ ॥

आ-तन्वानाः । आ-यच्छन्तः । अस्यन्तः । ये । च । धावथ ।
निः-हस्ताः । शत्रवः । स्थन । इन्द्रः । वः । अद्य । परा । अशरीत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (आतन्वानाः) [धनुष बाण] तानते हुये (च) और (आयच्छन्तः) [तरवारें] खैंचते हुये और (अस्यन्तः) चलाते हुये (धावथ) दौड़े चले आते हो । (शत्रवः) हे शत्रुओ ! तुम सब (निर्हस्ताः) निहत्ते (स्थन) हो जाओ, (इन्द्रः) महाप्रतापी सेनापति इन्द्र ने (वः) तुम को (अद्य) आज (परा अशरीत्) मार गिराया है ॥ २ ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनापति शत्रुओं के धावे को रोक कर उन्हें मार गिरावे ॥ २ ॥

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि ।
अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै ॥ ३ ॥

निः-हस्ताः । सन्तु । शत्रवः । अङ्गा । एषाम् । म्लापयामसि ।
अथ । एषाम् । इन्द्र । वेदांसि । शत-शः । वि । भजामहै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शत्रवः) शत्रु लोग (निर्हस्ताः) निहत्ते (सन्तु) हो जावें, (तेषाम्) उन के (अङ्गा) अंगों को (म्लापयामसि) हम शिथिल करते हैं ।

२—(आतन्वानाः) धनूंषि बाणान् च अनुसंदधतः (आयच्छन्तः) तरवारीन् आकर्षन्तः (अस्यन्तः) निक्षिपन्तः (ये) शत्रवः (च) (धावथ) शीघ्रं गच्छथ (निर्हस्ताः) लुप्तहस्तबलाः (शत्रवः) अरयः (स्थन) तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति अस्तेर्लोटि तस्य थनादेशः । भवत (इन्द्रः) सेनापतिः (वः) युष्मान् (अद्य) अस्मिन् दिने (परा अशरीत्) शॄ हिंसायाम्—लुङ् । पराहतान् कृतवान् ॥

३—(निर्हस्ताः) लुप्तहस्तसामर्थ्याः (सन्तु) (शत्रवः) (अङ्गा) अङ्गानि हस्तपादादीनि (एषाम्) शत्रूणाम् (म्लापयामसि) म्लै हर्षक्षये-

(अथ) फिर (इन्द्र) हे महाप्रतापी सेनापति इन्द्र ! (तेषाम्) उनके (वेदांसि) सब धनों को (शतशः) सैकड़ों प्रकार से (वि भजामहै) हम बांट लेवें ॥३॥

भावार्थ—विजयी वीर पुरुष शत्रुओं को जीत कर सेनापति की आज्ञा अनुसार राजविभाग निकाल कर उनका धन बांट लेवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६७ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेना पति के लक्षणों का उपदेश ॥

परि॒ वर्त्मा॑नि स॒र्वत॒ इन्द्रः॑ पू॒षा च॑ सस्रतुः ।
मुह्य॑न्त्व॒द्यामूः सेना॑ अ॒मित्रा॑णां पर॒स्त॒राम् ॥ १ ॥

परि॑ । वर्त्मा॑नि । स॒र्वतः॑ । इन्द्रः॑ । पू॒षा । च॒ । स॒स्र॒तुः॒ । मुह्य॑न्तु । अ॒द्य । अ॒मूः । सेनाः॑ । अ॒मित्रा॑णाम् । प॒रः॒-त॒राम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाला राजा (च) और (पूषा) पोषण करनेवाला मन्त्री (वर्त्मानि) मार्गों पर (सर्वतः) सब दिशाओं में (परि सस्रतुः) सब ओर चलते रहे हैं । (अमित्राणाम्) पीड़ा देनेवाले शत्रुओं की (अमूः) वे सब (सेनाः) सेनायें (अद्य) आज (परस्तराम्) बहुत दूर (मुह्यन्तु) घबड़ा कर चली जावें ॥ १ ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल राजा और मन्त्री के उपाय से शत्रु की सब सेनायें भाग जावें ॥ १ ॥

णौ आत्वे पुगागमः । ग्लापयामः । क्षीणहर्षान् शिथिलान् कुर्मः (अथ) अनन्तरम् (एषाम्) (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् सेनापते (वेदांसि) धनानि (शतशः) शतप्रकारेण (वि भजामहै) विभज्य प्राप्नुयाम ॥

१—(परि) परितः (वर्त्मानि) वृतु वर्तने—मनिन् । धर्ममार्गान् (सर्वतः) सर्वासु दिक्षु (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा (पूषा) पोषको मन्त्री (च) (सस्रतुः) सृ गतौ—लिट् । जग्मतुः (मुह्यन्तु) मूढचित्ताः पलायन्ताम् (अद्य) अस्मिन् दिने (अमूः) दूरे दृश्यमानाः (सेनाः) सैन्यानि (अमित्राणाम्) पीडकानां शत्रूणाम् (परस्तराम्) परः+तरप् । किमेत्तिङव्ययघात्० । ५ । ४ ११ । इति आमु । अधिकदूरदेशे ॥

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः ।
तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥

मूढाः । अमित्राः । चरत । अशीर्षाणः-इव । अहयः । तेषाम् । वः । अग्नि-मूढानाम् । इन्द्रः । हन्तु । वरम्-वरम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मूढाः) हे घबड़ाये हुये (अमित्राः) पीड़ा देने वाले शत्रुओं ! (अशीर्षाणः) बिना शिर वाले [शिर कटे] (अहयः इव) सांपों के समान (चरत) चेष्टा करो। (इन्द्रः) प्रतापी वीर राजा (अग्निमूढानाम्) अग्नि [आग्नेय शस्त्रों] से घबड़ाये हुये (तेषां वः) उन तुम सबों में से (वरंवरम्) अच्छे अच्छों को चुन कर (हन्तु) मारे ॥ २ ॥

भावार्थ—कुशल सेना पति इस प्रकार व्यूह रचना करे कि शत्रु के सेना दल विध्वंस हो कर घबड़ा जावें और उनके बड़े बड़े नायक मारे जावें ॥ २ ॥

ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि ।
पराङ्मित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥ ३ ॥

आ । एषु । नह्य । वृषा । अजिनम् । हरिणस्य । भियम् । कृधि । पराङ् । अमित्रः । एषतु । अर्वाची । गौः । उप । एषतु ॥३॥

भाषार्थ—[हे सेनापति !] (एषु) इन [अपने वीरों] में (वृषा=वृष्णः) ऐश्वर्यवान् पुरुष का (अजिनम्) चर्म [कवच] (आ नह्य) पहिना दे, और [शत्रुओं

२—(मूढाः) मुह वैचित्ये—क्त । व्याकुलाः (अमित्राः) पीडकाः शत्रवः (चरत) चेष्टां कुरुत (अशीर्षाणः) शीर्षंश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन् । अशिरसः । छिन्नशिरस्काः (इव) यथा (अहयः) अ० २ । ५ । ५ । आहन्तारः सर्पाः (तेषाम्) तादृशानाम् (वः) युष्माकम् (अग्निमूढानाम्) अग्निना आग्न्येयास्त्रैर्व्याकलीकृतानां मध्ये (इन्द्रः) प्रतापी वीरो राजा (हन्तु) नाशयतु (वरंवरम्) श्रेष्ठं श्रेष्ठं नायकम् ॥

३—(एषु) स्वभटेषु (आ नह्य) आबधान । आच्छादय (वृषा) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति षष्ठ्याः सु । वृष्णः । इन्द्रस्य । ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य

में] (हरिणस्य) हरिण का (भियम्) डरपोकपन (कृधि) करदे । (अमित्रः) शत्रु (पराङ्) उलटे मुख हो कर, (एषतु) चला जावे (गौः) भूमि [युद्ध भूमि और राज्य] (अर्वाची) हमारी ओर (उप एषतु) चली आवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सेनापति अपने वीरों को कवच आदि पहिना कर शत्रुओं को भयभीत करके रणभूमि और राज्य अपने हाथ करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ९८ ॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ १ पञ्चपदा विराट्; २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

चूडाकरणसंस्कारोपदेशः—मुण्डन संस्कार का उपदेश ॥

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि । आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः ॥ १ ॥

आ । अयम् । अगन् । सविता । क्षुरेण । उष्णेन । वायो इति । उदकेन । आ । इहि । आदित्याः । रुद्राः । वसवः । उन्दन्तु । स-चेतसः । सोमस्य । राज्ञः । वपत । प्र-चेतसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (सविता) काम का चलानेवाला फुरतीला नापित (क्षुरेण) छुरा सहित (आ अगन्) आया है, (वायो) हे शीघ्रगामी पुरुष! (उष्णेन) तप्त [तत्ते] (उदकेन) जलसहित (आ इहि) तू आ ।

(अजिनम्) अ० ४ । ७ । ६ । चर्म । कवचम् (हरिणस्य) मृगस्य (भियम्) भीतिम् (कृधि) कुरु शत्रुषु (पराङ्) पराङ्मुखः सन् (अमित्रः) शत्रुः (एषतु) इष गतौ गच्छतु । पलायताम् (अर्वाची) अस्मदभिमुखा । अनुकूला (गौः) पृथ्वी—निघ० । १ । १ । रणभूमिः । राजभूमिः (उप एषतु) समीपं प्राप्नोतु ॥

१—(अयम्) दृश्यमानः (आ अगन्) आगमत् । आगतवान् (सविता) कर्मप्रेरकः स्फूर्तिशीलो नापितः (क्षुरेण) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । इति क्षुर विलेखने—रन्, रेफलोपः । लोमच्छेदकेनास्त्रेण (उष्णेन) तप्तेन (वायो) हे शीघ्रगामिन् पुरुष (उदकेन) जलेन (आ इहि) आगच्छ (आदित्याः)

(आदित्याः) प्रकाशमान, (रुद्राः) ज्ञानवान्, (वसवः) श्रेष्ठ पुरुष आप (सचेतसः) एक चित्त हो कर [बालक के केश] (उन्दन्तु) भिगोवें, (प्रचेतसः) प्रकृष्ट ज्ञानवाले पुरुषो तुम (सोमस्य) शान्तस्वभाव (राज्ञः) तेजस्वी बालक का (वपत=वपयत) मुण्डन कराओ ॥ १ ॥

भावार्थ—गृहस्थ प्रवीण शुद्ध नापित को बुलाकर गुनगुने जल से मुण्डन करावें और सब बड़े बड़े विद्वान् पुरुष उत्सव में आकर यथोचित सम्मति देवें ॥१॥

इस सूक्त के तीनों मन्त्र श्रीमद् दयानन्दकृत संस्कारविधि चूडाकर्म संस्कार में लिखे हैं ॥ १ ॥

अदि॑तिः॒ श्मश्रु॑ वप॒त्वाप॑ उन्दन्तु॒ वर्च॑सा ।
चिकि॑त्सतु प्र॒जाप॑तिर्दीर्घायु॒त्वाय॒ चक्ष॑से ॥ २ ॥

अदि॑तिः । श्मश्रु॑ । व॒प॒तु॒ । आप॑ः । उ॒न्द॒न्तु॒ । वर्च॑सा ।
चिकि॑त्सतु । प्र॒जाऽप॑तिः । दी॒र्घा॒यु॒ऽत्वाय॑ । चक्ष॑से ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अदितिः) अखण्डित छुरा (श्मश्रु) केश (वपतु) काटे (आपः) जल (वर्चसा) अपनी शोभा से (उन्दन्तु) सींचे। (प्रजापतिः) सन्तान का पालन करनेवाला पिता (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये और (चक्षसे) दृष्टि बढ़ाने के लिये (चिकित्सतु) [बालक के] रोग की निवृत्ति करे ॥२॥

भावार्थ—मुण्डन होने के पश्चात् स्नान करा के यथोचित् औषधि खान पान आदि द्वारा बालक को प्रसन्न करें। इस संस्कार से बालक की आयु और दृष्टि बढ़ती है ॥ २ ॥

अ० १। ६। १। प्रकाशमाना विद्वांसः (रुद्राः) अ० २। २७। ६। ज्ञानदातारः (वसवः) श्रेष्ठा जनाः (उन्दन्तु) आर्द्रीकुर्वन्तु। माणवकस्य शिर इतिशेषः (सचेतसः) समानज्ञानाः (सोमस्य) शान्तस्वभावस्य (राज्ञः) तेजस्विनो माणवकस्य (वपत) वपयत। मुण्डनं कारयत (प्रचेतसः) प्रकृष्टज्ञानाः पुरुषाः ॥

२—(अदितिः) अ० २। २८। ४। दो अवखण्डने-क्तिन्। अखण्डितस्तीक्ष्णधारश्क्षुरः (श्मश्रु) अ० ५। १६। १४। श्म शरीरम्... श्म श्रु लोम, श्मनि श्रितं भवति। निरु० ३। ५। शिरःकेशम् (वपतु) मुण्डतु (आपः) जलानि (उन्दन्तु) सिञ्चन्तु स्नानेन (वर्चसा) तेजसा (चिकित्सतु) कित रोगापनयने। भिषज्यतु बालकस्य रोगनिवृत्तिं करोतु (प्रजापतिः) सन्तानपालकः पिता (दीर्घायुत्वाय) चिरकालजीवनाय (चक्षसे) अ० १। ५। १। दृष्टिवर्धनाय ॥

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥ ३ ॥

येन। अवपत्। सविता। क्षुरेण। सोमस्य। राज्ञः। वरुणस्य। विद्वान्। तेन। ब्रह्माणः। वपत। इदम्। अस्य। गो-मान्। अश्व-वान्। अयम्। अस्तु। प्रजा-वान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस विधि के साथ (विद्वान्) अपना कर्म जानने वाले (सविता) फुरतीले नापित ने (क्षुरेण) छुरा से (सोमस्य) शान्तस्वभाव, (राज्ञः) तेजस्वी, (वरुणस्य) उत्तम स्वभाव वाले बालक का (अवपत्) मुण्डन किया है। (तेन) उसी विधि से (ब्रह्माणः) हे ब्राह्मणो ! (अस्य) इस बालक का (इदम्) यह शिर (वपत) मुण्डन कराओ, (अयम्) यह बालक (गोमान्) उत्तम गौओं वाला, (अश्ववान्) उत्तम घोड़ों वाला और (प्रजावान्) उत्तम सन्तानों वाला (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग बालकों का मुण्डन संस्कार कराके उन्हें प्रतापी, धनी और बलवान् बनावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

यशः प्राप्त्युपदेशः—यश की प्राप्ति का उपदेश ॥

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः।

३—(येन) यादृशेन विधिना (अवपत्) मुण्डनं कृतवान् (सविता) म० १। स्फूर्तिशीलः (क्षुरेण) अस्त्रेण (सोमस्य) शान्तस्वभावस्य (राज्ञः) तेजस्विनः (वरुणस्य) श्रेष्ठबालकस्य (विद्वान्) स्वकर्मज्ञाता नापितः (तेन) तादृशेन कर्मणा (ब्रह्माणः) हे वेदज्ञातारो ब्राह्मणाः (वपत) मुण्डनं कारयत (इदम्) शिरः (अस्य) माणवकस्य (गोमान्) प्रशस्तगोयुक्तः (अश्ववान्) बहुमूल्यतुरङ्गोपेतः (अयम्) माणवकः (अस्तु) (प्रजावान्) प्रशस्तसन्तानयुक्तः ॥

सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥ १ ॥

गिरौ । अरगराटेषु । हिरण्ये । गोषु । यत् । यशः । सुरायाम् । सिच्यमानायाम् । कीलाले । मधु । तत् । मयि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(गिरौ) उपदेश करने वाले सन्यासी में, (अरगराटेषु) ज्ञान के उपदेशकों में विचरने वालों [ब्रह्मचारी आदिकों] के बीच, (हिरण्ये) सुवर्ण में और (गोषु) विद्याओं में (यत्) जो (यशः) यश है। और (सिच्यमानायाम् सुरायाम्) बहते हुये जल [अथवा बढ़ते हुये ऐश्वर्य] में और (कीलाले) अन्न में (मधु) जो मीठापन है, (तत्) वह (मयि) मुझ में होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से विद्या आदि प्राप्त करके अपना ऐश्वर्य और स्वास्थ्य स्थिर रखकर यश पावें ॥ १ ॥

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।

यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ २ ॥

अश्विना । सारघेण । मा । मधुना । अङ्क्तम् । शुभः । पती इति । यथा । भर्गस्वतीम् । वाचम् । आ-वदानि । जनान् । अनु ॥ २ ॥

१—(गिरौ) अ० ५ । ४ । १ । गॄ विज्ञापने—इ । विज्ञापके । उपदेशके संन्यासिनि (अरगराटेषु) ऋ गतौ—अच्+गॄ विज्ञापने—अच्+अट=गतौ—अच् । अरस्य ज्ञानस्य गरेषु विज्ञापकेषु आचार्येषु अटन्ति विचरन्ति ये तेषु ब्रह्मचारिषु (हिरण्ये) सुवर्णे (गोषु) वाक्षु । विद्यासु (सुरायाम्) सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । इति षुञ् अभिषवे=स्नाने, यद्वा, षु ऐश्वर्ये—क्रन् । यद्वा । षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः—क, टाप् । सुरा सुनोतेः । निरु० १ । ११ । सुरा, उदकनाम—दयानन्दसंशोधिते निघण्टौ, १ । १२ । जले । ऐश्वर्ये (सिच्यमानायाम्) प्रवहन्त्याम् । प्रवर्धमानायाम् (कीलाले) अ० ४।११ । १० । अन्ने—निघ० २ । ७ (मधु) माधुर्यम् । बलवत्त्वम् (तत्) (मयि) पुरुषार्थिनि ॥

भाषार्थ—(शुभः) शुभ कर्म के (पती) पालन करने वाले (अश्विना) हे कर्मों में व्याप्ति वाले माता पिता ! (सारघेण) सार अर्थात् बल वा धन के पहुंचाने वाले (मधुना) ज्ञान से (मा) मुझ को (अङ्क्तम्) प्रकाशित करो। (यथा) जिससे (जनान् अनु) मनुष्यों के बीच (भर्गस्वतीम्) तेजोमयी (वाचम्) वाणी को (आवदानि) मैं बोला करूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि माता पिता से उत्तम शिक्षा पाकर मनुष्यों में सारगर्भित सत्य वचन बोलें ॥ २ ॥

मयि॒ वर्चो॒ अथो॒ यशोऽथो॑ य॒ज्ञस्य॒ यत् पयः॑ ।
तन्मयि॑ प्र॒जाप॑तिर्दि॒वि द्यामि॑व दृंहतु ॥ ३ ॥

मयि॑ । वर्चः॑ । अथो॒ इति॑ । यशः॑ । अथो॒ इति॑ । य॒ज्ञस्य॑ । यत् । पयः॑ । तत् । मयि॑ । प्र॒जा-प॑तिः । दि॒वि । द्याम्-इ॑व । दृं॒ह॒तु॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मयि) मुझ में (वर्चः) प्रताप, (अथो) और (यशः) यश हो, (अथो) और (यज्ञस्य) देव पूजा आदि यज्ञ का (यत्) जो (पयः) सार है, (तत्) उसको भी (मयि) मुझ में (प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर

२—(अश्विना) अ० ६ । ३ । ३ । कर्मसु व्याप्तिमन्तौ मातापितरौ (सारघेण) सार+घट संघाते, चुरादौ—ड । सारं घाटयति संग्राहयतीति तेन । सारस्य बलस्य धनस्य वा संग्राहकेण (मधुना) मन ज्ञाने–उ, नस्य धः । ज्ञानेन (अङ्क्तम्) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु–लोट् । प्रकाशयतम् (शुभः) शोभनस्य कर्मणः (पती) पालकौ (यथा) येन प्रकारेण (भर्गस्वतीम्) तेजोमयीम् (वाचम्) वाणीम् (आवदानि) उच्चारयाणि (जनान्) मनुष्यान् (अनु) अनुलक्ष्य ॥

३—(मयि) प्रयत्नशीले (वर्चः) प्रतापः (अथो) अपि च (यशः) कीर्त्तिः (अथो) (यज्ञस्य) देवपूजादिकस्य (यत्) (पयः) तत्त्वम् । फलम् (तत्) पयः (मयि) (प्रजापतिः) प्रजापालकः परमेश्वरः (दिवि) अन्तरिक्षे

(दृंहतु) दृढ़ करे, (इव) जैसे (दिवि) अन्तरिक्ष में (द्याम्) सूर्य मण्डल को ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर ने आकाश में सूर्य को स्थिर करके आकर्षण, प्रकाश आदि द्वारा महा उपकारी बनाया है, वैसे ही मनुष्य उत्तम शिक्षा प्राप्त करके यशस्वी होवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७० ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरभक्त्युपदेशः—परमेश्वर की भक्ति का उपदेश ॥

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥ १ ॥

यथा । मांसम् । यथा । सुरा । यथा । अक्षाः । अधि-देवने । यथा । पुंसः । वृषण्यतः । स्त्रियाम् । नि-हन्यते । मनः । एव । ते । अघ्न्ये । मनः । अधि । वत्से । नि । हन्यताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (मांसम्) ज्ञान, (यथा) जैसे (सुरा) ऐश्वर्य, (यथा) जैसे (अक्षाः) अनेक व्यवहार (अधिदेवने) बहुत व्यवहार-युक्त राजद्वार में रहते हैं। (यथा) जैसे (वृषण्यतः) अपने को ऐश्वर्यवान् मानने वाले (पुंसः) पुरुष का (मनः) मन (स्त्रियाम्) स्तुति क्रिया [वा

(द्याम्) दीप्यमानं सूर्यमण्डलम् (इव) यथा (दृंहतु) दृहि वृद्धौ। दृढीकरोतु वर्धयतु ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (मांसम्) अ० ४। १७। ४। मन ज्ञाने—सप्रत्ययः, दीर्घश्च। मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा निरु० ४। ३। ज्ञानम् (यथा) (सुरा) सू० ७०। म० १। ऐश्वर्यम् (यथा) (अक्षाः) अक्षू व्याप्तिसंघातयोः—अच्। यद्वा। अशेर्देवने। उ० ३। ६५। इति अशू व्याप्तौ—सप्रत्ययः। व्यवहाराः (अधिदेवने) दिवु व्यवहारे—ल्युट्।

अपनी पत्नी] में (निहन्यते) स्थिर रहता है। (एव) वैसे ही (अघ्न्ये) हे न मारने योग्य प्रजा! (ते) तेरा (मनः) मन: (वत्से) सब में निवास करने वाले परमेश्वर में (अधि) अच्छे प्रकार (नि हन्यताम्) दृढ़ होवे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में दृढ़ भक्ति करके सदा आनन्द भोगे ॥१॥

यथा॑ ह॒स्तो ह॑स्ति॒न्याः प॒देन॑ प॒दमु॑द्यु॒जे ।
यथा॑ पुं॒सो वृ॑षण्य॒त स्त्रि॒यां नि॑ह॒न्यते॒ मनः॑ ।
ए॒वा ते॑ अघ्न्ये॒ मनोऽधि॑ व॒त्से नि ह॑न्यताम् ॥ २ ॥

यथा॑ । ह॒स्ती । ह॒स्ति॒न्याः । प॒देन॑ । प॒दम् । उ॒त्-यु॒जे ।
यथा॑ । पुं॒सः । वृ॒ष॒ण्य॒तः । स्त्रि॒याम् । नि॒-ह॒न्यते॑ । मनः॑ । ए॒व ।
ते॒ । अ॒घ्न्ये॒ । मनः॑ । अधि॑ । व॒त्से । नि । ह॒न्य॒ता॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (हस्ती) हाथी (हस्तिन्याः) हथिनी के (पदेन) पद चिह्न से (पदम्) अपना पद (उद्युजे) बढ़ाये जाता है। (यथा) जैसे…… म० १। ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान है ॥ २ ॥

अधिकृव्यवहारस्थाने राजद्वारे। (पुंसः) अ० १। ८। १। पा रक्षणे—डुमसुन्। रक्षणशीलस्य पुरुषस्य (वृषण्यतः) दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यतिरिषण्यति। पा० ७।४। ३६। इति वृषन्—क्यचि निपातितः। वृषाणाम् इन्द्रम् ऐश्वर्यवन्तमात्मानमिच्छतः (स्त्रियाम्) अ० १। ८। १। ष्टुञ् स्तुतौ—ड्रट्, ङीप्। स्तुतिक्रियायाम्। स्तुत्यायां पत्न्यां वा (निहन्यते) स्थाप्यते (मनः) चित्तम् (एव) एवम्। तथा (ते) तव (अघ्न्ये) अ० ३। ३०। १। अघ्न्याऽहन्तव्या भवत्यघघ्नीतिवा—निरु० ११। ४३। हे अहन्तव्ये प्रजे (मनः) (अधि) (अधिकम्) (वत्से) अ० ३। १२। ३। वृतॄवदिवचिवसि०। उ० ३। ६२। इति वस निवासे—स। सर्वनिवासशीले परमेश्वरे (निहन्यताम्) दृढीक्रियताम् ॥

२—(यथा) (हस्ती) हस्ताज्जातौ। पा० ५। २। १३३। इति—णिनि। गजः (हस्तिन्याः) करेण्वाः (पदम्) पादम् (उद्युजे) युजिर् योगे, छान्दसो विकरणस्य लुक्। उद्युङ्क्ते। उन्नमयति। अन्यत्पूर्ववत् ॥

यथा प्रधिर्यथोपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधि ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥ ३ ॥

यथा । प्र-धिः । यथा । उप-धिः । यथा । नभ्यम् । प्र-धौ । अधि । यथा । पुंसः । वृषण्यतः । स्त्रियाम् । नि-हन्यते । मनः । एव । ते । अघ्न्ये । मनः । अधि । वत्से । नि । हन्यताम् ॥३॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (प्रधिः) पहिये की पुट्ठी [अरों के जोड़ से] और (यथा) जैसे (उपधिः) अरों का जोड़ [पुट्ठी से] और (यथा) जैसे (नभ्यम्) नाभि स्थान (प्रधौ अधि) पुट्ठी के भीतर [जमा होता है], (यथा) जैसे······म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान है ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७१ ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

दोषनाशोपदेशः—दोषों के नाश का उपदेश ॥

यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम् । यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ १ ॥

यत् । अन्नम् । अद्मि । बहु-धा । वि-रूपम् । हिरण्यम् । अश्वम् । उत । गाम् । अजाम् । अविम् । यत् । एव । किम् । च । प्रति-जग्रह । अहम् । अग्निः । तत् । होता । सु-हुतम् । कृणोतु ॥ १ ॥

३—(प्रधिः) उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ९२ । इति धाञः—कि । रथचक्रस्य नेमिः (उपधिः) अराणां सन्धिः (नभ्यम्) उगवादिभ्यो यत् । पा० ५ । १ । २ । इति नाभि—यत् । नाभये हितं रथाङ्गम्—अन्यत्पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(विरूपम्) अनेक रूप वाला (यत्) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (बहुधा) प्रायः (अद्मि) मैं खाता हूं, (उत) और (हिरण्यम्) सुवर्ण, (अश्वम्) घोड़ा, (गाम्) गौ, (अजाम्) बकरी, (अविम्) भेड़, और (यत् एव किम् च) जो कुछ भी (अहम्) मैंने (प्रतिजग्रह) ग्रहण किया है, (होता) दाता (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (तत्) उसको (सुहुतम्) धार्मिक रीति से स्वीकार किया हुआ (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ज्ञान पूर्वक परमेश्वर को आत्मसमर्पण करते हैं, वे सुखी होते हैं ॥ १ ॥

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥२

यत् । मा । हुतम् । अहुतम् । आ-जगाम । दत्तम् । पितृ-भिः । अनु-मतम् । मनुष्यैः । यस्मात् । मे । मनः । उत्-इव । रारजीति । अग्निः । तत् । होता । सु-हुतम् । कृणोतु ॥२

भाषार्थ—(हुतम्) दिया हुआ [माता पिता आदि से पाया हुआ], अथवा (अहुतम्) न दिया हुआ [स्वयं प्राप्त किया], (पितृभिः) दूसरे विद्वान् महाशयों करके (दत्तम्) दिया हुआ और (मनुष्यैः) मननशील पुरुषों करि के (अनुमतम्) अङ्गीकार किया हुआ (यत) जो कुछ द्रव्य (मा) मुझ

१—(यत्) (अन्नम्) भोजनम् (अद्मि) भक्षयामि (बहुधा) प्रायः (विरूपम्) विविधप्रकारम् (हिरण्यम्) सुवर्णम् (अश्वम्) तुरङ्गम् (गाम्) धेनुम् (अजाम्) छागीम् (अविम्) मेषम् (यत् एव किम् च) यत्किमिपि द्रव्यजातम् (प्रतिजग्रह) ह्रस्वत्वं छान्दसम् । प्रतिजग्राह । प्राप (अहम्) उपासकः (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (तत्) सर्वं पूर्वोक्तम् (होता) दाता (सुहुतम्) हु दानादानयोः—क्त । सुष्ठु धार्मिकरीत्या गृहीतम् (कृणोतु) करोतु ॥

२—(यत्) द्रव्यम् (मा) माम् (हुतम्) दत्तं माता पित्रादिभिः (अहुतम्) अदत्तं स्वपौरुषेण प्राप्तम् (आजगाम) प्राप (दत्तम्) वितीर्णम् (पितृभिः) पालनशीलैर्महात्मभिः (अनुमतम्) अङ्गीकृतम् (मनुष्यैः) अ० ३ । ४ । ६ । मननशीलैः पुरुषैः (यस्मात्) कारणात् (मे) मम (मनः) चित्तम्

को (आजगाम) प्राप्त हुआ है। (यस्मात्) जिसके कारण से (मे) मेरा (मनः) मन (उत् इव) उदय होता हुआ सा (रारजीति) अत्यन्त शोभित रहता है, (होता) दाता (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (तत्) उसको (सुहुतम्) धार्मिक रीति से स्वीकार किया हुआ (कृणोतु) करे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को जो कुछ पदार्थ अन्य महाशयों से अथवा अपने पुरुषार्थ से मिले, उसे विचार पूर्वक धार्मिक रीति से व्यय करें ॥ २ ॥

यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि ।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ३

यत् । अन्नम् । अद्मि । अनृतेन । देवाः । दास्यन् । अदास्यन् । उत । सम्-गृणामि । वैश्वानरस्य । महतः । महिम्ना । शिवम् । मह्यम् । मधु-मत् । अस्तु । अन्नम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वान् पुरुषो ! (यत्) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (अनृतेन) असत्य व्यवहार से (अद्मि) मैं खाता हूं, (उत) और (दास्यन्) देना चाहता हुआ [अथवा] (अदास्यन्) न देना चाहता हुआ मैं [जो कुछ] (संगृणामि=संगिरामि) खा जाता हूं। (महतः) पूजनीय (वैश्वानरस्य) सब नरों के हितकारी परमेश्वर की (महिम्ना) महिमा से (अन्नम्) वह अन्न (मह्यम्) मेरे लिये (शिवम्) सुखकारक और (मधुमत्) मीठे रसवाला (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा जानकर दुष्ट कर्म छोड़ कर अपने कर्तव्य सत्यमार्ग पर चलकर आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

(उत् इव) उन्नतं यथा (रारजीति) राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च, यङ्लुकि छान्दसमुपधाह्रस्वत्वम् । राराजीति । भृशं दीप्यते शोभते । अन्यद् गतम् ॥

३—(यत्) (अन्नम्) (अद्मि) भक्षयामि (अनृतेन) असत्यव्यवहारेण (देवाः) हे विद्वांसः (दास्यन्) लृटः सद्वा । पा० ३ । ३ । १४ । इति दास्यतेः-शतृ । दातुमिच्छन् (अदास्यन्) नदातुमिच्छन् (उत) अपि च (संगृणामि) गॄ निगरणे, छान्दसः श्ना । संगिरामि । भक्षयामि (वैश्वानरस्य) सर्वनरहितस्य परमेश्वरस्य (महतः) पूजनीयस्य (महिम्ना) प्रतापेन (शिवम्) सुखकरम् (मह्यम्) मदर्थम् (मधुमत्) माधुर्य्योपेतम (अस्तु) भवतु (अन्नम्) भोजनम् ॥

सूक्तम् ७२ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ जगती; २; ३ अनुष्टुप् ॥

राज्यवर्धनोपदेशः—राज्य बढ़ाने का उपदेश ॥

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया ।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु ॥१॥

यथा । असितः । प्रथयते । वशान् । अनु । वपूंषि । कृण्वन् । असुरस्य । मायया । एव । ते । शेपः । सहसा । अयम् । अर्कः । अङ्गेन । अङ्गम् । सम्-समकम् । कृणोतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (असितः) बन्धन रहित, स्वतन्त्र परमात्मा (वशान् अनु) अपने वशवर्त्ती प्राणियों के लिये (असुरस्य) बुद्धिमान् की (मायया) बुद्धि से (वपूंषि) अनेक शरीरों को (कृण्वन्) बनाता हुआ (प्रथयते) विस्तार करता है। (एव) वैसे ही (अयम्) यह (अर्कः) मन्त्र [विचार] (ते) तेरे (शेपः) सामर्थ्य को (सहसा) सहनशक्ति के साथ और (अङ्गम्) अङ्ग को (अङ्गेन) अङ्ग के साथ (संसमकम्) भली भांति संयुक्त (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर ने अपनी बुद्धिमत्ता से जगत् को रचकर महा उपकार किया है, वैसे ही मनुष्य वेदों के विचार से अपनी शक्ति बढ़ा कर बढ़ती करें ॥ १ ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (असितः) अबद्धः । मुक्तस्वभावः परमेश्वरः (प्रथयते) विस्तारं करोति (वशान) वशवर्त्तिनो जीवान् (अनु) अनुलक्ष्य (वपूंषि) शरीराणि (कृण्वन्) रचयन् (असुरस्य) अ० १ । १० । १ । असुरिस्य प्रज्ञा नाम्—निरु० १० । ३४ । रो मत्वर्थीयः । प्रज्ञावतः पुरुषस्य (मायया) अ० २ । २९ । ६ । प्रज्ञया—निघ० २ । ९ । (एव) एवम् (ते) तव (शेपः) अ० ४ । ३७ । ७ । शीङ् शयने—प । शेते, शरीरे वर्तते । सामर्थ्यम् (सहसा) षह मर्षणे-असुन् । सहन शक्त्या (अयम्) प्रसिद्धः (अर्कः) अ० ३ । ३ । २ । अर्च पूजायाम्-क । अर्को मन्त्रो भवति यदनेना र्चन्ति-निरु० ५ । ४ । विचारः । वेदविवेकः (अङ्गेन) शरीरावयवेन (अङ्गम्) शरीरावयवम् (संसमकम्) अचु गतौ याचनेच-अच् न्यङ्क्वादीनां च । पा० ७ । ३ । ५३ । इति कुत्वम् । सम्यक् संगतम् (कणोतु) करोतु ॥

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम् ।
यावत् परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ २ ॥

यथा । पसः । तायादरम् । वातेन । स्थूलभम् । कृतम् । यावत् । परस्वतः । पसः । तावत् । ते । वर्धताम् । पसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (तायादरम्) प्रबन्ध से आदर योग्य (पसः) राज्य (वातेन) उद्योग से (स्थूलभम) मनुष्यों में प्रकाश वाला (कृतम्) बनाया जाता है, (यावत्) जितना (परस्वतः) पालने में समर्थ पुरुष का (पसः) राज्य होता है, (तावत्) उतना (ते) तेरा (पसः राज्य(वर्धताम्) बढ़े ॥२॥

भावार्थ—जिस प्रकार नीति निपुण, उद्योगी और प्रजापालक राजा के राज्य में उन्नति होती है, वैसे ही शुभ गुणों द्वारा मनुष्य अपना राज्य बढावें ॥२॥

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत् ।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ ३ ॥

यावत्-अङ्गीनम् । पारस्वतम् । हास्तिनम् । गार्दभम् । च । यत् । यावत् । अश्वस्य । वाजिनः । तावत् । ते । वर्धताम् । पसः ॥ ३ ॥

२—(यथा) (पसः) अ० ४ । ४ । ६ । पस बन्धे बाधे च—असुन् । राज्यम् (तायादरम्) ताय—आदरम् । तायृ सन्तानपालनयोः—घञ्, सन्तानः प्रबन्धः । तायेन प्रबन्धेनादरः सत्कारो यस्य तद्राज्यम् (वातेन) वा गतिगन्धनयोः—तन् । उद्योगेन (स्थूलभम्) स्थः किच्च । उ० ५ । ४ । इति ष्ठा—ऊरन्, रस्य लः । भा दीप्तौ—ड । स्थूरेषु मनुष्येषु भातीति तत् (कृतम्) अनुष्ठितम् (यावत्) यत्प्रमाणम् । बहुविस्तीर्णमित्यर्थः (परस्वतः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति पॄ पालनपूरणयोः—असुन् । पालनवतः पुरुषस्य (पसः) राज्यप्रबन्धः (तावत्) तत्परिमाणविशिष्टम् (ते) तव (वर्धताम्) प्रवृद्धं भवतु (पसः) राज्यम् ॥

भाषार्थ—(यावदङ्गीनम्) जितने अङ्ग हैं उनसे सिद्ध, (पारस्वतम्) पालन समर्थ पुरुषों से सिद्ध, (च) और (गार्दभम्) [बोझ उठाने वाले] गदहों से सिद्ध, (यत्) जितना राज्य है। और (यावत्) जितना (वाजिनः) अन्नयुक्त (अश्वस्य) बलवान् पुरुष [राज्य] का है, (तावत्) उतना (ते) तेरा (पसः) राज्य (वर्धताम्) बढ़े ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस राज्य में सब राज्य के अङ्ग, अर्थात्, १—राजा, २—मन्त्री, ३—मित्र, ४—कोश, ५—राज्य प्रबन्ध, ६—गढ़, ७—सेना, देखो अमर १८। १७, १८, प्रजापालक अधिकारी और हस्ती गर्दभ आदि पशु और अन्न और बलवान् राजा होते हैं, वहां अनेक प्रकार से वृद्धि होती है, वैसे ही सब मनुष्यों को वृद्धि करनी चाहिये ॥ ३ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७३॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्वत्समागमोपदेशः—विद्वानों से समागम का उपदेश ॥

३—(यावदङ्गीनम्) तेन निर्वृत्तम्। ४। २। ६८। इति—ख। यावन्ति अङ्गानि तावद्भिर्निर्वृत्तं सिद्धम्, तानि यथा। स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्ग-बलानि च। राज्याङ्गानि प्रकृतयः ...॥ इत्यमरः, १८। १७, १८॥ (पारस्वतम्) परस्वत्—अण्। परस्वद्भिः पालनसमर्थैः पुरुषैर्निर्वृत्तम् (हास्तिनम्) हस्तिन्—अण्। इनण्यनपत्ये। पा० ६। ४। १६४। इति प्रकृतिभावः हस्तिभिर्निर्वृत्तं सिद्धम् (गार्दभम्) गर्दभ—अण्। गर्दभैर्वहनशीलैः पशुभि-र्निर्वृत्तम् (च) (यत्) यत्प्रमाणम् (यावत्) (अश्वस्य) अशूप्रुषिलटि०। उ० १। १५१। इति अशू व्याप्तिसंहत्योः—क्वन्। अश्नुते व्याप्नोति कार्याणि सोऽश्वः, बलवान् पुरुषः, तस्य (वाजिनः) वाजः, अन्नम्—निघ० २।७। अन्नवतः। अन्यत्पूर्ववत् ॥

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु ।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः ॥ १ ॥

आ । इह । यातु । वरुणः । सोमः । अग्निः । बृहस्पतिः । वसु-भिः । आ । इह । यातु । अस्य । श्रियम् । उप-संयात । सर्वे । उग्रस्य । चेत्तुः । सम्-मनसः । स-जाताः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वरुणः) सूर्य्य समान प्रतापी और (सोमः) चन्द्र समान शान्त स्वभाव पुरुष (इह) यहां पर (आ यातु) आवे और (अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी (बृहस्पतिः) बड़ी वेदवाणी का रक्षा करनेवाला पुरुष (वसुभिः) उत्तम उत्तम गुणों वा धनों के साथ (इह) यहां पर (आयातु) आवे । (सजाताः) हे समान जन्मवाले बान्धवो ! (सर्वे) तुम सब (संमनसः) एक मन होकर, (अस्य) इस (उग्रस्य) तेजस्वी (चेत्तुः) ज्ञानवान पुरुष की (श्रियम्) सम्पदा को (उपसंयात) भली भांति प्राप्त करो ॥ १ ॥

भावार्थ—गृहस्थी को योग्य है कि अनेक अनेक विद्वानों से सत्कार पूर्वक समागम करके गृह लक्ष्मी बढ़ा कर अपनी उन्नति करे ॥

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा ।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥ २ ॥

१—(आयातु) आगच्छतु (इह) अस्मिन् गृहे (वरुणः) सूर्य्यवत् प्रतापी पुरुषः (बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाण्याः पालकः (वसुभिः) श्रेष्ठगुणैर्धनैर्वा (इह आ यातु) (अस्य) गृहस्थस्य (श्रियम्) सम्पदाम् (उपसंयात) उप आदरेण सम्यक् प्राप्नुत (सर्वे) समस्ताः पूर्वोक्ता यूयम् (उग्रस्य) तेजस्विनः (चेत्तुः) कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य ज्ञातुः (संमनसः) संमिलितचित्ताः (सजाताः) हे समानजन्मानो बान्धवाः ॥

यः । वः । शुष्मः । हृदयेषु । अन्तः । आ-कूतिः । या । वः । मनसि । प्र-विष्टा । तान् । सीवयामि । हविषा । घृतेन । मयि । स-जाताः । रमतिः । वः । अस्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ--[हे विद्वानो !] (यः) जो (शुष्मः) पराक्रम (वः) तुम्हारे (हृदयेषु अन्तः) हृदयों में भरा है, और (या) जो (आकूतिः) उत्साह वा शुभसंकल्प (वः) तुम्हारे (मनसि) मन में (प्रविष्टा) प्रवेश हो रहा है। [उसी के कारण] (हविषा) उत्तम अन्न से और (घृतेन) जल से (तान्) उन तुम सब की (सीवयामि=सेवे) मैं सेवा करता हूं, (सजाताः) हे समान जन्मवाले बान्धवो ! (वः) तुम्हारी (रमतिः) क्रीड़ा [प्रसन्नता], (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य यथावत् शुश्रूषा करके विद्वानों से उत्तम उत्तम विद्यायें ग्रहण करके अपने आत्मा को सदा सन्तुष्ट करते रहें ॥ २ ॥

इहैव स्त मापं याताध्यस्मत् पूषा पुरस्तादपंथं वः कृणोतु । वास्तोष्पतिरनुं वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥ ३ ॥

इह । एव । स्त । मा । अप । यात । अधि । अस्मत् । पूषा । पुरस्तात् । अपथम् । वः । कृणोतु । वस्तोः । पतिः । अनु ।

२—(यः) (वः) युष्माकम् (शुष्मः) पराक्रमः । बलम् निघ० २ । ६ (हृदयेषु) विषयाणां ग्रहणशीलेषु चित्तेषु (अन्तः) मध्ये (आकूतिः) उत्साहः । शिवसंकल्पः (या) (वः) (मनसि) मननसाधने । अन्तःकरणे (प्रविष्टा) अन्तर्गता (तान्) तथाविधान् युष्मान् (सीवयामि) षेवृ सेवायाम्, एकारस्य ईत्वं चुरादित्वं च छान्दसम् । अहं सेवे । शुश्रूषयामि (हविषा) हव्येन देवयोग्य-अन्नेन (घृतेन) उदकेन--निघ० १ । १२ । (मयि) उपासके (सजाताः) हे समान-जन्मानो बान्धवाः (रमतिः) रमेर्नित् । उ० ४ । ६३ । इति रमु क्रीडायाम्—अति । क्रीडा । मनःप्रसन्नता (वः) युष्माकम् (अस्तु) भवतु ॥

वः । जोहवीतु । मयि । स-जाताः रमतिः । वः अस्तु ॥३॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (इह) यहां पर (एव) ही (स्त) रहो (अस्मत् अधि) हम से (मा अप यात) हट कर न जाओ, (पूषा) पोषण करने वाला गृहस्थ (परस्तात्) उत्तर उत्तर काल में (वः) तुम्हारे लिये (अपथम्) अभय (कृणोतु) करे। (वास्तोः) घर का (पतिः) स्वामी [गृहस्थ] (वः) तुमको (अनु) निरन्तर (जोहवीतु) बुलाता रहै। (सजाताः) हे समान जन्मवाले बान्धवो ! (वः) तुम्हारे (रमतिः) क्रीड़ा [प्रसन्नता] (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो धार्मिक गृहस्थ विद्वानों को अभय दान करके आदर पूर्वक गुण ग्रहण करते हैं, वे संसार में आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७४॥

१-३ ॥ भगो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

सांमनस्योपदेशः—एकमता के लिये उपदेश ॥

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता ।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥ १ ॥

३—(इह) अस्मिन् समाजे (एव) निश्चयेन (स्त) वर्त्तध्वम् (मा अपयात) दूरे मा गच्छत (अधि) पञ्चम्यर्थानुवादी (अस्मत्) अस्मत्तः (पूषा) पोषको गृहस्थः (परस्तात्) अ०. ४ । १६ । ४ । पर—अस्ताति । परस्मिन् पश्चात्काले (अपथम्) अप-थम् । थुड् संवरणे—ड । थं भयम् । अपगतं च तत् थं च तत् । अभयम् (वः) युष्मभ्यम् (कृणोतु) करोतु (वास्तोः) वसेरगारे णिच्च । उ० १। ७० । इति वस निवासे तुन् स च णित् । वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः—निरु० १२ । १६ । गृहस्य (पतिः) स्वामी (अनु) अनन्तरम् (वः) युष्मान् (जोहवीतु) अ० २ । १२ । ३ । ह्वयतेर्यङ्लुकि लोट् । पुनः पुनराह्वयतु॥ अन्यत् पूर्ववत्-म० २ ॥

सम् । वः । पृच्यन्ताम् । तन्वः । सम् । मनांसि । सम् । ऊं इति । व्रता । सम् । वः । अयम् । ब्रह्मणः । पतिः । भगः । सम् । वः । अजीगमत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो ! (वः) तुम्हारी (तन्वः) विस्तृत विद्यायें (सम्) यथावत् (मनांसि) मनन सामर्थ्य (सम्) यथावत् (उ) और (व्रता) सब कर्म (सम्) यथावत् (पृच्यन्ताम्) मिले रहें । (अयम्) इस (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्ड के (पतिः) पति (भगः) भगवान् [ऐश्वर्यवान् परमेश्वर] ने (वः) तुमको (वः) तुम्हारे हित के लिये (सम्) यथावत् (सम् अजीगमत्) मिलाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परस्पर मिल कर उत्तम विद्यायें, उत्तम विचार, और उत्तम कर्म प्राप्त करके सुख भोगें । यह परमेश्वर कृत नियम है ॥ १ ॥

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः ।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ २ ॥

सम्-ज्ञपनम् । वः । मनसः । अथो इति । सम्-ज्ञपनम् । हृदः । अथो इति । भगस्य । यत् । श्रान्तम् । तेन । सम्-ज्ञपयामि । वः ॥ २

१—(सम्) सम्यक् यथावत् (वः) युष्माकम् (पृच्यन्ताम्) पृची सम्पर्के—कर्मणि लोट् । संमिल्यन्ताम् (तन्वः) अ० १ । १ । विस्तृतविद्याः-दयानन्दभाष्ये यजु० १९ । ४४ । (सम्) (मनांसि) मननानि (सम्) (उ) अपि (व्रतानि) वरणीयानि कर्माणि (सम्) (वः) युष्मान् (अयम्) सर्वव्यापकः (ब्रह्मणः) बृहतो जगतः । अन्नस्य—निघ० २ । ७ (पतिः) रक्षकः (भगवान्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वरः (वः) युष्मदर्थम् (सम् अजीगमत्) अ० ६ । ३२ । २ । संगतान् कृतवान् ॥

भाषार्थ—(वः) तुम्हारे (मनसः) मनन का (संज्ञपनम्) विज्ञापन (अथो) और भी (हृदः) हृदय का (संज्ञपनम्) संतोषक कर्म होवे। (अथो) और भी (भगस्य) भगवान् [की प्राप्ति] का (यत्) जो (श्रान्तम्) तप है, (तेन) उस कारण से (वः) तुमको (संज्ञपयामि) मैं संतुष्ट करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग पूर्ण विद्या प्राप्त करके शुद्ध हृदय से भगवान् की भक्ति करके संसार में विद्या प्रचार करें ॥ २ ॥

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः। एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमान् जनान्त्संमनसस्कृधीह ॥ ३ ॥

यथा। आदित्याः। वसु-भिः। सम्-बभूवुः। मरुत्-भिः। उग्राः। अहृणीयमानाः। एव। त्रि-नामन्। अहृणीयमानः। इमान्। जनान्। सम्-मनसः। कृधि। इह ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (उग्राः) तेजस्वी (आदित्याः) प्रकाशमान विद्वान् [अथवा अदीन देव माता अदिति, पृथ्वी वा वेदवाणी के

२—(संज्ञपनम्) ज्ञा मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञापने स्तुतौ च—णिचि, ल्युट्। विज्ञापनं प्रकाशनम् (वः) युष्माकम् (मनसः) मननस्य विचारस्य (अथो) अपि च (संज्ञपनम्) सन्तोषणम् (हृदः) हृदयस्य (अथो) (भगस्य) भगवतः परमेश्वरस्य (यत्) (श्रान्तम्) श्रमु तपसि खेदे च—भावे क्त। तपः। जितेन्द्रियत्वम् (तेन) कारणेन (संज्ञपयामि) संतोषयामि। स्तौमि (वः) युष्मान् ॥

३—(यथा) येन प्रकारेण (आदित्याः) अ० १।९।१। आङ् + दीपी दीप्तौ—यक्। यद्वा। अदिति—ण्य। प्रकाशमाना विद्वांसः। यद्वा। आदितेः अदीनाया देवमातुः पृथिव्या वेदवाण्या वा पुत्रवद्मानकर्तारः (वसुभिः) श्रेष्ठगुणैः (संबभूवुः) सम् + भू सामर्थ्ये। पराक्रमिणो बभूवुः (मरुद्भिः) अ० १।२०।१। शत्रुमारकैः शूरैः (उग्राः) तेजस्विनः (अहृणीयमानाः)

पुत्र समान मान करने वाले] पुरुष (अहृणीयमानाः) सङ्कोच न करते हुये (वसुभिः) उत्तम गुणों और (मरुद्भिः) शत्रुनाशक वीरों के साथ (संबभूवुः) पराक्रमी हुये हैं। (एव) वैसे ही (त्रिणामन्) हे तीनों कालों और तीनों लोकों को झुकाने वाले परमेश्वर! (अहृणीयमानः) क्रोध न करता हुआ तू (इमानि) इन सब (जनान्) जनों को (इह) यहां पर (संमनसः) एकमन (कृधि) कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से पूर्वज महात्मा विद्वानों से शिक्षा पाकर उपकारक हुये हैं, इसी प्रकार मनुष्य त्रिलोकीनाथ परमात्मा की भक्ति के साथ एकचित्त होकर परोपकार करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७५ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनिवारणायोपदेशः—शत्रु के हटाने का उपदेश ॥

निर॒मुं नु॑द॒ ओक॑सः स॒पत्नो॒ यः पृ॑त॒न्यति॑ ।
नै॒र्बा॒ध्ये॒न ह॒विषेन्द्र॑ एनं॒ परा॑शरीत् ॥ १ ॥

निः । अ॒मुम् । नु॒दे॒ । ओक॑सः । स॒-पत्नः॑ । यः । पृ॒त॒न्यति॑ ।
नैः॒-बा॒ध्ये॑न । ह॒विषा॑ । इन्द्रः॑ । ए॒न॒म् । परा॑ । अ॒श॒रीत् ॥१॥

भाषार्थ—मैं (अमुम्) उस [शत्रु] को (ओकसः) उसके घर से (निर्नुदे) निकालता हूं, (यः सपत्नः) जो शत्रु (पृतन्यति) सेना चढ़ाता

अ० १ । ३५ । ४ । हृणीङ् रोषणे लज्जायां च—शानच् । असंकुचन्तः (एव) एवम् । तथा (त्रिणामन्) हे त्रयाणां लोकानां कालानां वा नामयितो वशयितः परमेश्वर (अहृणीयमानः) अक्रुध्यंस्त्वम् (इमान्) अस्मदीयान् (संमनसः) समानमनस्कान् । परस्परानुरक्तचित्तान् (कृधि) कुरु (इह) अस्मिन् ग्रामनगरादौ ॥

१—(निर्नुदे) अहं निर्गमयामि (अमुम्) शत्रुम् (ओकसः) तस्य गृहात् (सपत्नः) शत्रुः (यः) (पृतन्यति) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ ।

है। (इन्द्रः) प्रतापी राजा ने (एनम्) उसको (नैर्बाध्येन) अपने निर्विघ्न (हविषा) ग्राह्य व्यवहार से (परा अशरीत्) मार गिराया है ॥ १ ॥

भावार्थ—सुपरीक्षित शूर वीरों के समान हम पुरुषार्थ करके अपने शत्रुओं को हटावें ॥ १ ॥

प॒र॒मां तं प॑रा॒वत॒मिन्द्रो॑ नुदतु वृत्र॒हा ।

यतो॒ न पुन॒राय॑ति शश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः ॥ २ ॥

प॒र॒माम् । तम् । प॒रा॒-वत॑म् । इन्द्रः॑ । नु॒द॒तु॒ । वृ॒त्र॒-हा । यतः॑ । न । पुनः॑ । आ॒-अय॑ति । श॒श्व॒तीभ्यः॑ । समा॑भ्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहा) शत्रुओं वा अन्धकार का नाश करने वाला (इन्द्रः) प्रतापी राजा (तम्) चोर को (परमाम्) अतिशय (परावतम्) दूर भूमि में (नुदतु) भेज देवे। (यतः) जहां से वह (शश्वतीभ्यः) बहुत (समाभ्यः) बरसों तक (पुनः) फिर (न) न (आयति) आवे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारी लोगों को दूर स्थान में कारागार के भीतर रक्खे ॥ २ ॥

इति पृतना—क्यच्। कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः। पा० ७। ४। ३९। इति इत्याकार-लोपः। पृतनां सेनामात्मन इच्छति (नैर्बाध्येन) अहलोर्ण्यत् पा० ३। १। १२४। इति निर् + बाधृ लोडने—ण्यत्। प्रज्ञादिभ्यश्च पा० ५। ४। ३८। इति स्वार्थे अण्। निर्बाध्येन। अबाधनीयेन (हविषा) ग्राह्येण व्यवहारेण (इन्द्रः) प्रतापी राजा (एनम्) शत्रुम् (परा) दूरे (अशरीत्) शॄ हिंसायाम्—लुङ्। अशारीत्। पराङ्मुखं हतवान् ॥

२—(परमाम्) अतिशयिताम् (तम्) तर्द हिंसने-ड। तर्दकं चोरम् (परावतम्) अ० ३। ४। ५। दूरगतां भूमिम्। (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (यतः) यस्या दूरभूमेः सकाशात् (न) निषेधे (पुनः) द्वितीयवारम् (आयति) आवर्तते (शश्वतीभ्यः) बहुभ्यः—निघ० ३। १। (समाभ्यः) संवत्सरेभ्यः॥

एतु तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति ।
एतु तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति
शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि ॥ ३ ॥

एतु । तिस्रः । परा-वतः । एतु । पञ्च । जनान् । अति ।
एतु । तिस्रः । अति । रोचना । यतः । न । पुनः । आ-अयति । शश्वतीभ्यः । समाभ्यः । यावत् । सूर्यः । असत् । दिवि ॥३॥

भाषार्थ—जो पुरुष (तिस्रः) तीन [अपने मानुष स्थान, नाम और जाति रूप] (परावतः) उत्कृष्ट भूमियों [वा धामों] को (अति = अतीत्य) उलांघ कर (एतु) चले, और (पञ्च जनान्) पांच [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों वर्ण, और पाचवें नीच योनि, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि] प्राणियों [की मर्यादा] को [उलांघकर] (एतु) चले। वह पुरुष (तस्रः रोचनाः) तीन [जीव, प्रकृति और परमेश्वर की] रुचि योग्य विद्याओं को [अथवा, सूर्य, चन्द्र और अग्नि के] प्रकाशों को (अति=अतीत्य) उलांघ कर [वहां] (एतु) चला जावे, (यतः) जहां से वह (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) बहुत बरसों

३—(एतु) गच्छतु । प्राप्नोतु (तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (परावतः) म० २। परा प्राधान्ये। मानुषस्थाननामजन्मरूपा उत्कर्षगता भूमीर्धामानि वा । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति–निरु०६। २८ (एतु) (पञ्च जनान्) पञ्च जनाः, मनुष्यनाम–निघ० ३ । २। पञ्च जनाः... गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवो निषादः कस्मान्निषदनमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः—निरु० ३। ८। पञ्चभूतसम्बन्धिनः प्राणिनः। ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रांश्चतुरो वर्णान् नीचयोनिपशुपक्ष्यादिकं पञ्चमं च (अति) अतीत्य (एतु) (तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (अति) उल्लङ्घ्य (रोचनाः) अनुदात्तेतश्च हलादेः। पा० ३। २। १४६ । इति रुच दीप्तावभिप्रीतौच–युच् । जीवप्रकृतिपरमेश्वराणां रोचिका विद्याः । यद्वा,

तक (पुनः) फिर (न) न (आयति) आवे, (यावत्) जब तक (सूर्यः) सूर्य (दिवि) अन्तरिक्ष में (असत्) रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य मानुषी मर्यादा को छोड़ कर महाघोर पातक करते हैं. उनकी तामसी वृत्ति हो जाती है, और वे जन्म जन्मान्तरों तक सदा दुःख सागर में डूबे रहते हैं ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—ऋग्वेद २ । २७ । ८, ६ ॥

पदपाठ में (रोचना) पद के स्थान पर सायणभाष्य के अनुसार (रोचनाः) ऐसा पद हमने माना है ॥

सूक्तम् ७६ ॥

१-४ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे ।
संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ॥ १ ॥

ये । एनम् । परि-सीदन्ति । सम्-आदधति । चक्षसे । सम्-प्रेद्धः । अग्निः । जिह्वाभिः । उत् । एतु । हृदयात् । अधि ॥१॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष (चक्षसे) दर्शन के लिये (एनम्) इस [अग्नि] की (परिषीदन्ति) सेवा करते और (समादधति) ध्यान करते हैं । (संप्रेद्धः) [उन करके] अच्छे प्रकार प्रकाशित किया हुआ (अग्निः) अग्नि (जिह्वाभिः) अपनी जिह्वाओं के सहित (हृदयात्) हमारे हृदय से (अधि) अधिकार पूर्वक (उदेतु) उदय होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् सूर्य, बिजुली आदि अग्नि के गुणों को जानते हैं, उनसे अग्नि विद्या प्राप्त करके मनुष्य संसार में फैलावें ॥ १ ॥

सूर्यचन्द्राग्नीनां रोचमानाः प्रभाः (यावत्) यत्कालपर्यन्तम् (सूर्यः) लोकानां प्रेरक आदित्यः (असत्) भवेत् (दिवि) आकाशे ॥

१—(ये) पुरुषाः (एनम्) अग्निम् (परिषीदन्ति) सेवन्ते (समादधति) समाहितं कुर्वन्ति । ध्यायन्ति (चक्षसे) दर्शनाय (संप्रेद्धः) तैः प्रकर्षेण संदीपितः (अग्निः) सूर्यविद्युदादिरूपः (जिह्वाभिः) स्वज्वालाभिः (उदेतु) उद्गच्छतु (हृदयात्) अस्माकमन्तःकरणात् (अधि) अधिकृत्य ॥

अ॒ग्नेः सां॑तप॒नस्या॒हमायु॑षे प॒दमा र॑भे ।
अ॒द्धा॒तिर्यस्य॑ प॒श्यति॑ धू॒मम॒द्यन्त॑मा॒स्य॒तः ॥ २ ॥

अ॒ग्नेः । सा॒म्-त॒प॒नस्य॑ । अ॒हम् । आयु॑षे । प॒दम् । आ । र॒भे॒ । अ॒द्धा॒तिः । यस्य॑ । प॒श्यति॑ । धू॒मम् । उ॒त्-यन्त॑म् । आ॒स्य॒तः ॥२॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (सांतपनस्य) ताप गुण वाले (अग्नेः) उस अग्नि के (पदम्) प्राप्तियोग्य गुण को (आयुषे) आयु बढ़ाने के लिये (आरभे) प्रस्तुत करता हूं, (यस्य) जिस [अग्नि) के (आस्यतः) मुख से (उद्यन्तम्) निकलते हुये (धूमम्) धूयें को (अद्धातिः) सत्य जानने वाला पुरुष (पश्यति) देखता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शरीरस्थ अग्नि और प्रत्यक्ष अग्नि के गुण जान कर शारीरिक बल बढ़ाते और अस्त्र शस्त्र आदि कला यन्त्रों में उसका प्रयोग करते हैं, वे सुख वृद्धि करके अपना जीवन बढ़ाते हैं ॥ २ ॥

यो अ॑स्य स॒मिधं॒ वेद॑ क्ष॒त्रिये॑ण स॒माहि॑ताम् ।
नाभिह्वा॒रे प॒दं नि द॑धाति॒ स मृ॒त्यवे॑ ॥ ३ ॥

यः । अ॒स्य॒ । स॒म्-इध॑म् । वेद॑ । क्ष॒त्रिये॑ण । स॒म्-आहि॑ताम् ।

२—(अग्नेः) सूर्यविद्युदादिरूपस्य (सांतपनस्य) संतपन-अण्। सम्यक् तपनयुक्तस्य (अहम्) शिल्पी (आयुषे) जीवनवर्धनाय (पदम्) प्रापणीयं गुणम् (आ रभे) उपक्रमे (अद्धातिः) अद्धा-अतिः। अत सातत्यगमने-क्विप्+धाञ् धारणे-क्विप्। अतं सततं गमनं ज्ञानं दधातीति अद्धा सत्यम्+अत सातत्यगमने-इन्। सत्यमतति गच्छति जानतीति। सत्यज्ञाता। मेधावी-निघ० ३। १५ (यस्य) अग्नेः (पश्यति) साक्षात्करोति (धूमम्) इषियुधीन्धि०। उ० १ १४५। इति धूञ् कम्पने-मक्। अग्निनार्द्रकाष्ठजातं पदार्थम् (उद्यन्तम्) उद्गच्छन्तम् (आस्यतः) अग्निमुखात् ॥

न । अभि-हा॒रे । प॒दम् । नि । द॒धाति॑ । सः । मृ॒त्यवे॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ— (यः) जो पुरुष (क्षत्रियेण) दुःख से बचाने वाले क्षत्रिय करके (समाहिताम्) संभाली हुई (अस्य) इस [अग्नि] की (समिधम्) प्रकाश क्रिया को (वेद) जानता है, (सः) वह पुरुष (अभिह्वारे) कुटिल स्थान में (मृत्यवे) मृत्यु पाने के लिये (पदम्) अपना पैर (न) नहीं (निदधाति) जमाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जहां पर राजप्रबन्ध से शिल्प, कला, यन्त्र आदि में अग्नि का यथावत् प्रयोग किया जाता है, वहां मनुष्य मृत्यु के कारण दरिद्रता आदि से निर्भय रहते हैं ॥ ३ ॥

नैनं॑ घ्नन्ति पर्या॒यिणो॒ न स॒न्नाँ अव॑ गच्छति ।

अ॒ग्नेर्यः क्ष॒त्रियो॑ वि॒द्वान्नाम॑ गृ॒ह्णात्यायु॑षे ॥ ४ ॥

न । ए॒न॒म् । घ्न॒न्ति॒ । प॒रि॒-आ॒यिनः॑ । न । स॒न्नान् । अव॑ । ग॒च्छ॒ति॒ ।

अ॒ग्नेः । यः । क्ष॒त्रियः॑ । वि॒द्वान् । नाम॑ । गृ॒ह्णाति॑ । आयु॑षे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एनम्) उस [क्षत्रिय] को (पर्यायिणः) घेरने वाले शत्रु (न) नहीं (घ्नन्ति) मारते हैं, और (न) न वह (सन्नान्) घात में बैठने वालों को (अवगच्छति) जानता है। (यः) जो (विद्वान्) विद्वान्

३—(यः) विद्वान् (अस्य) अग्नेः (समिधम्) प्रकाशक्रियाम् (वेद) वेत्ति (क्षत्रियेण) क्षत्रे राष्ट्रे साधुः। क्षत्राद् घः। पा० ४। १। १३८। इति क्षत्र-घ, जातौ। राज्ञा (समाहिताम्) सम्+आधा-क्त। सम्यक् निष्पादिताम् (न) निषेधे (अभिह्वारे) ह्वृ कौटिल्ये—घञ्। अतिकुटिलस्थाने। भयास्पदे (पदम्) (निदधाति) निक्षिपति (सः) पुरुषः (मृत्यवे) मृत्युं प्राप्तुम् ॥

४—(न) निषेधे (एनम्) क्षत्रियम् (घ्नन्ति) हिंसन्ति (पर्यायिणः) परि+इण्—घञ्, पर्याय—इनि। परितो गमनशीलाः शत्रवः (न) (सन्नान्) घातस्थान् शत्रून् (अवगच्छति) अवबुध्यते (अग्नेः) भौतिकस्य पावकस्य

(क्षत्रियः) क्षत्रिय (अग्नेः) अग्नि के (नाम) नाम को (आयुषे) आयुष बढ़ाने के लिये (गृह्णाति) लेता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो राजा अग्नि के गुण जान कर कला कुशल होकर अपना बल बढ़ाता है वह शत्रुओं से सदा निर्भय रहता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ७७ ॥

१-३ ॥ गोपा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

संपदाप्राप्त्युपदेशः—संपदा पाने का उपदेश

अस्था॒द् द्यौरस्था॑त् पृथि॒व्यस्था॒द् विश्व॑मि॒दं जग॑त् ।
आ॒स्थाने॒ पर्व॑ता अस्थु॒ स्थाम्न्यश्वाँ॑ अतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

अस्थात् । द्यौः । अस्थात् । पृ॒थि॒वी । अस्थात् । विश्व॑म् । इ॒दम् । जग॑त् । आ॒-स्थाने॑ । पर्व॑ताः । अ॒स्थु॒ः । स्थाम्नि॑ । अ॒श्वान् । अ॒ति॒ष्ठि॒प॒म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यौः) सूर्य लोक (अस्थात्) ठहरा हुआ है, (पृथिवी) पृथिवी (अस्थात्) ठहरी हुई है, (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) जगत् (अस्थात्) ठहरा हुआ है । (पर्वताः) सब पर्वत (आस्थाने) विश्रामस्थान में (अस्थुः) ठहरे हुये हैं । (अश्वान्) घोड़ों को (स्थाम्नि) स्थान पर (अतिष्ठिपम्) मैंने खड़ा कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य घोड़े आदि पशुओं को रसरी से बांधता है, वैसे ही सूर्य आदि लोक परमेश्वर नियम से परस्पर आकर्षण द्वारा स्थित हैं, वैसे ही मनुष्यों को धार्मिक कर्मों के लिये सदा कटिबद्ध रहना चाहिये ॥ १ ॥

(यः) (क्षत्रियः) राजा (विद्वान्) (नाम) स्तावकं नामधेयम् (गृह्णाति) उच्चारयति (आयुषे) जीवनवर्धनाय ॥

१—(अस्थात्) तिष्ठति स्म (द्यौः) सूर्यलोक (अस्थात्) (पृथिवी) (अस्थात्) (विश्वम्) सर्वम् (इदम्) दृश्यमानम् (जगत्) (आस्थाने) विश्रामस्थाने (पर्वताः) शैलाः (अस्थुः) स्थिता अभवन् (स्थाम्नि) आतो मनिन्क्वनिब० । पा० ३ । २ । ७४ । इति ष्ठा—मनिन् । स्थितिस्थाने (अश्वान्) तुरङ्गान् (अतिष्ठिपम्) तिष्ठतेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । स्थापितवानस्मि ॥

य उदानंट् परायंणं य उदानण्न्यायंनम् ।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥ २ ॥

यः। उत्-आनंट्। परा-अयंनम्। यः। उत्-आनंट्। नि-अयंनम्। आ-वर्तनम्। नि-वर्तनम्। यः। गोपाः। अपि। तम्। हुवे ॥२॥

भाषार्थ—(यः) जिस (गोपाः) भूमिपालक राजा ने (परायणम्) निकल जाने का सामर्थ्य (उदानट्) पाया है, (यः) जिस ने (न्ययनम्) भीतर जाने का सामर्थ्य, और (यः) जिसने (आवर्तनम्) घूमने और (निवर्तनम्) लौटने का सामर्थ्य (उदानट्) पाया है, (तम्) उसको (अपि) ही (हुवे) मैं बुलाता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य नीति निपुण और कला कुशल होवे, उसका आदर सत्कार सब मनुष्य करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० सू० १९ म० ५ ॥

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः ।
सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥ ३ ॥

जात-वेदः। नि। वर्तय। शतम्। ते। सन्तु। आ-वृतः। सहस्रम्। ते। उप-आवृतः। ताभिः। नः। पुनः। आ। कृधि ॥३॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बहुत धन वाले पुरुष ! [हमारी ओर] (नि वर्तय) लौट आ। (ते) तेरे (आवृतः) आगमन के उपाय (शतम्)

२—(यः) बलवान् पुरुषः (उदानट्) उत्+अशू व्याप्तौ संघाते च लिटि एश्त्वे, एशो लुक्, व्रश्चादिना षत्वम्। झलां जशोऽन्ते। पा० ८। २। ३९। इति डत्वम्। वावसाने। पा० ८। ४। ५६। इति टत्वम्। आनट्, व्याप्तिकर्मा—निघ० २। १८। उत्कर्षेण व्याप प्राप (परायणम्) बहिर्गमनसामर्थ्यम् (यः) (उदानट्) (न्ययनम्) सांहितको दीर्घः। अन्तर्गमनम् (आवर्तनम्) चक्रवत् परिक्रमणम् (निवर्तनम्) निवृत्य गमनम् (यः) (गोपाः) गो+पा रक्षणे-विच्। भूमिपालकः। राजा (अपि) एव (तम्) तादृशम् (हुवे) आह्वयामि ॥

३—(जातवेदः) जातानि वेदांसि धनानि यस्य तत्संबुद्धौ हे महाधनिन् पुरुष (नि वर्तय) निवृत्य आगच्छ (शतम्) बहुसंख्याकाः (ते) तव (सन्तु)

सौ, और (ते) तेरे (उपावृतः) समीप में भ्रमण मार्ग (सहस्रम्) सहस्र (सन्तु) होवें। (ताभिः) उन क्रियाओं से (नः) हमें (पुनः) अवश्य (आ कृधि) स्वीकार कर ॥ ३ ॥

भावार्थ--जो पुरुष अपने विद्याबल से अनेक रक्षा के उपाय जानते हैं, मनुष्य उनकी सहायता प्राप्त करते रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७८ ॥

१-३ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गृहस्थधर्मोपदेशः--गृहस्थ के धर्म का उपदेश ॥

तेन॑ भू॒तेन॑ ह॒विषा॒यमा प्या॑यतां॒ पुन॑ः ।
जा॒यां याम॑स्मा आवा॑क्षु॒स्तां रसे॑ना॒भि व॑र्धताम् ॥ १ ॥

तेन॑ । भू॒तेन॑ । ह॒विषा॑ । अ॒यम् । आ । प्या॒य॒ता॒म् । पुन॑ः । जा॒याम् । याम् । अ॒स्मै॒ । आ॒ऽअवा॑क्षुः । ताम् । रसे॑न । अ॒भि । व॒र्ध॒ता॒म् ॥१॥

भाषार्थ--(अयम्) यह पुरुष (तेन) उस [प्रसिद्ध] (भूतेन) बहुत (हविषा) ग्राह्य अन्न के साथ (आ) सब ओर से (पुनः) अवश्य (प्यायताम्) बढ़ती करे। (अस्मै) इस पुरुष को (याम् जायाम्) जो वीरों को उत्पन्न करने वाली पत्नी (आवाक्षुः) उन लोगों ने प्राप्त करायी है, (ताम् अभि) उस पत्नी के लिये वह [पति] (रसेन) अनुराग से वा पराक्रम से (वर्धताम्) बढ़े ॥ १ ॥

भावार्थ--अन्न आदि पदार्थों के उपार्जन का पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त करके माता पिता आचार्य आदि की अनुमति से स्त्री पुरुष गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके पुरुषार्थ पूर्वक उन्नति करें ॥ १ ॥

(आवृतः) वृतु-क्विप्। आवर्तनानि। आगमनोपायाः (सहस्रम्) बहुप्रकाराः (ते) (उपावृतः) समीपदेशप्राप्त्युपायाः (ताभिः) आवृद्भिरुपावृद्भिश्च (नः) अस्मान् (पुनः) अवधारणे (आकृधि) स्वीकुरु ॥

१--(तेन) प्रसिद्धेन (भूतेन) प्रभूतेन (हविषा) ग्राह्येण, अन्नेन (अयम्) वरः। उपलक्षणेन कन्यापि (आ) समन्तात् (प्यायताम्) वर्धताम् (पुनः) अवधारणे (जायाम्) अ० ३ । ४ । ३। जनयति वीरान् तां वीरजननीं पत्नीम् (याम्) (अस्मै) वराय (आवाक्षुः) वह प्रापणे लुङि रूपम्। प्रापितवन्तः, मातापित्राचार्यादयः (ताम्) पत्नीम् (रसेन) अनुरागेण। वीरभावेन (अभि) अभिरभागे। पा० १ । ४ । ९१ । इति इत्थंभूताख्याने कर्मप्रवचनीयत्वम्। प्रति (वर्धताम्) प्रवृद्धो भवतु ॥

अभि वर्धतां पय॑साभि राष्ट्रेण॑ वर्धताम् ।
र॒य्या स॒हस्र॑वर्चसे॒मौ स्ताम॒नु॑पक्षितौ ॥ २ ॥

अ॒भि । व॒र्ध॒ता॒म् । पय॑सा । अ॒भि । रा॒ष्ट्रेण॑ । व॒र्ध॒ता॒म् । र॒य्या । स॒हस्र॑-वर्चसा । इ॒मौ । स्ता॒म् । अनु॑-प-क्षितौ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पयसा) प्राप्ति योग्य अन्न से और (राष्ट्रेण) राज्य वा ऐश्वर्य से (अभि) पत्नी के लिये (वर्द्धताम्) पति बढ़े, और (अभि) पति के लिये (वर्धताम्) पत्नी बढ़े । (सहस्रवर्चसा) सहस्र प्रकार के तेज वाले (रय्या) धन से (इमौ) यह दोनों (अनुपक्षितौ) घटती बिना [सदा भरपूर] (स्ताम्) रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस घर में स्त्री पुरुष प्रसन्न रह कर पुरुषार्थ पूर्वक परस्पर सहाय करते हैं, वहां सब प्रकार की सम्पदा सदा विराजमान रहती है ॥ २ ॥

त्वष्टा॑ जा॒याम॑जनय॒त् त्वष्टा॑स्यै॒ त्वां पति॑म् ।
त्वष्टा॑ स॒हस्र॒मायूं॑षि दी॒र्घमायुः॑ कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥

त्वष्टा॑ । जा॒याम् । अ॒ज॒न॒य॒त् । त्वष्टा॑ । अ॒स्यै॒ । त्वाम् । पति॑म् । त्वष्टा॑ । स॒हस्र॑म् । आयूं॑षि । दी॒र्घम् । आयुः॑ । कृ॒णो॒तु॒ । वा॒म् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा) विश्वकर्मा परमेश्वर ने [तेरे हित के लिये] (जायाम्) वीरों को उत्पन्न करने वाली पत्नी को, और (त्वष्टा) विश्वकर्मा

२—(अभि) पत्नीं प्रति (वर्धताम्) पतिः प्रवृद्धो भवतु (पयसा) प्राप्तव्येनान्नेन । पयः, अन्नम्-निघ० २ । ७ (अभि) पतिं प्रति (राष्ट्रेण) राज्येन ऐश्वर्येण (वर्धताम्) वधूः प्रवृद्धा भवतु (रय्या) रयिः, धननाम-निघ० २ । १० । (सहस्रवर्चसा) अपरिमिततेजोयुक्तेन (इमौ) जायापती (स्ताम्) भवताम् (अनुपक्षितौ) अनुपक्षीणौ । सम्पूर्णकामौ ॥

३—(त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । विश्वकर्मा परमेश्वरः । तुभ्यमिति शेषः (जायाम्) म० १ । वीरजननीं वधूम् (अजनयत) उदपादयत् (त्वष्टा) (अस्यै)

ने (अस्यै) इस पत्नी के लिये (त्वाम्) तुझे (पतिम्) पति (अजनयत्) उत्पन्न किया है। (त्वष्टा) वही विश्वकर्मा (सहस्रम्=सहस्राणि) बल देने वाले (आयूंषि) जीवन साधन और (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) आयु (वाम्) तुम दोनों के लिये (कृणोतु) करे॥ ३॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष परमेश्वर की आज्ञा मान कर परस्पर हित करते हैं, वे अनेक प्रकार की वृद्धि करके अति आनन्द और कीर्ति पाते हैं॥३॥

सूक्तम् ७८॥

१-३॥ नभसस्पतिर्देवता॥ १, २ गायत्री; ३ षडक्षरा पञ्चपदा गायत्री॥

सर्वसम्पत्तिप्राप्त्युपदेशः—सर्वसम्पत्ति पाने का उपदेश॥

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु।
असमातिं गृहेषु नः॥ १॥

अयम्। नः। नभसः। पतिः। सम्-स्फानः। अभि। रक्षतु।
असमातिम्। गृहेषु। नः॥ १॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (नभसः) सूर्यलोक का (पतिः) स्वामी परमेश्वर (संस्फानः) यथावत् बढ़ता हुआ (नः) हमारे लिये (नः) हमारे

वधूहिताय (त्वाम्) विद्वांसम् (पतिम्) भर्तारम् (त्वष्टा) (सहस्रम्) सहो-बलनाम—निघ० २। ६। सहः+रा दाने—क, बहुवचनस्यैकवचनम्। सहस्राणि। बलप्रदानि (आयूंषि) प्राप्याणि जीवनसाधनानि (दीर्घम्) चिरम्। कीर्ति-युक्तम् (आयुः) जीवनम् (कृणोतु) करोतु (वाम्) युवाभ्यां स्त्रीपुरुषाभ्यां॥

१—(अयम्) सर्वव्यापकः (नः) अस्मदर्थम् (नभसः) अ० ४। १५। ३। णह बन्धने—असुन्। हस्य भः। नभ आदित्यो भवति—निरु० २। १४। सूर्यस्य (पतिः) पालयिता परमेश्वरः (संस्फानः) स्फायी वृद्धौ—क, छान्दसं रूपम्। सम्यक् स्फीतः प्रवृद्धः (अभि) सर्वतः (रक्षतु) पातु (असमातिम्) बलेस्तिः। उ० ४। १८०। माङ् माने—ति, यद्वा, मनु अवबोधने—क्तिन्, दीर्घश्च

(गृहेषु) घरों में (असमातिम्) असामान्य [विशेष] लक्ष्मी वा बुद्धि (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्खे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य आदि लोकों के स्वामी परमात्मा की महिमा विचारते हुये विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति से असाधारण धन और बुद्धि पाकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

त्वं नो॑ नभसस्पत ऊर्जं॑ गृहेषु॑ धारय ।
आ पुष्टमे॒त्वा वसु॑ ॥ २ ॥

त्वम् । नः॒ । न॒भ॒सः॒ । प॒ते॒ । ऊर्जम् । गृ॒हेषु॑ । धा॒र॒य॒ । आ ।
पु॒ष्टम् । ए॒तु॒ । आ । वसु॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(नभसस्पते) हे सूर्य लोक के स्वामी (त्वम्) तू (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (ऊर्जम्) बल बढ़ाने वाला अन्न (धारय) धारण कर । (पुष्टम्) पुष्टि (आ) और (वसु) धन (आ एतु) चला आवे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना करके जो मनुष्य सूर्य की वृष्टि ताप आदि से उपकार लेते हैं, वे ही सब प्रकार की वृद्धि और धन प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

देव॑ संस्फान सहस्रापो॒षस्ये॑शिषे । तस्य॑ नो रास्व॒
तस्य॑ नो धेहि॒ तस्य॑ ते भक्तिवांसः॑ स्याम ॥ ३ ॥

देव॑ । स॒म्-स्फा॒न॒ । स॒ह॒स्र॒-पो॒षस्य॑ । ई॒शि॒षे॒ । तस्य॑ । नः॒ ।
रा॒स्व॒ । तस्य॑ । नः॒ । धे॒हि॒ । तस्य॑ । ते॒ । भ॒क्ति॒-वांसः॑ । स्या॒म॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(संस्फान) हे सब प्रकार वृद्धि वाले (देव) प्रकाश स्वरूप

समानस्य सः । असमानां विशेषां मां लक्ष्मीं मतिं बुद्धिं वा (गृहेषु) गेहेषु (नः) अस्माकम् ॥

२—(त्वम्) (नः) अस्माकम् (नभसस्पते) हे सूर्यलोकस्य पालक (ऊर्जम्) बलकरमन्नम (गृहेषु) (धारय) स्थापय (आ) चार्थे (पुष्टम्) पुष्टिम् । वृद्धिम् (एतु) आगच्छतु (वसु) धनम् ॥

३—(देव) हे प्रकाशमय (संस्फान) सम्+स्फायी वृद्धौ-क, छान्दसं

परमात्मन्! (सहस्रपोषस्य) सहस्र प्रकार के पोषण का (ईशिषे) तू स्वामी है। (तस्य) उस [पोषण] का (नः) हमें (रास्व) दान कर, (तस्य) उसका (नः) हमारे लिये (धेहि) धारण कर, (तस्य ते) उस तेरी (भक्तिवांसः) भक्तिवाले (स्याम) हम होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति पूर्वक पुरुषार्थ करके उसके अक्षय भंडार से सब प्रकार के अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके सदा सुखी रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८० ॥

१-३ ॥ परमात्मा देवता ॥ १, २ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमात्ममहिमोपदेशः—परमात्मा की महिमा का उपदेश ॥

अ॒न्तरि॑क्षेण पतति॒ विश्वा॑ भू॒ताव॒चाक॑शत् ।
शुनो॑ दि॒व्यस्य॒ यन्मह॒स्तेना॑ ते ह॒विषा॑ विधेम ॥ १ ॥

अ॒न्तरि॑क्षेण । प॒त॒ति॒ । विश्वा॑ । भू॒ता । अ॒व॒-चाक॑शत् । शुनः॑ । दि॒व्यस्य॑ । यत् । महः॑ । तेन॑ । ते॒ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—वह [परमेश्वर] (अन्तरिक्षेण) आकाश के समान अन्तर्यामी रूप से (विश्वा) सब (भूता) जीवों को (अवचाकशत्) अत्यन्त देखता हुआ (पतति) ईश्वर होता है। (शुनः) उस व्यापक (दिव्यस्य) दिव्य स्वरूप

रूपम्। हे सम्यक् स्फीत। प्रवृद्ध (सहस्रपोषस्य) अपरिमितपोषणस्य (ईशिषे) ईश्वरो भवसि (तस्य) पोषस्य (नः) अस्मभ्यम् (रास्व) दानं कुरु (तस्य) (नः) (धेहि) धारणं कुरु (तस्य) तथाविधस्य (ते) तव, परमेश्वरस्य (भक्तिवांसः) छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ। वा० पा० ५। २। १०९। इति भक्ति—वनिप् मत्वर्थे, सकारोपजनश्छान्दसः। भक्तिवानः श्रद्धावन्तः (स्याम) भवेम ॥

१—(अन्तरिक्षेण) अ० १। ३०। ३। आकाशवदन्तर्यामिरूपेण (पतति) पत गतौ ऐश्वर्ये च। ईश्वरो भवति स परमात्मा (विश्वा) सर्वाणि (भूता) भूतजातानि (अवचाकशत्) पश्यति कर्मा—निघ० ३। ११। अव+काशृ दीप्तौ—यङ्लुकि, शतरिच्छान्दसो ह्रस्वः। भृशं पश्यन् (शुनः) शुन गतौ—क्विप्।

परमेश्वर का (यत् महः) जो महत्त्व है, (तेन) उसी [महत्त्व] से (ते) तेरे लिये [हे परमेश्वर !] (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर घट घट वासी होकर सब के कर्मों का फल देता है, उसकी आज्ञा पालन करके हम सदा धर्म आचरण करें ॥ १ ॥

ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः ।
तान्त्सर्वानह्व ऊतयेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥

ये । त्रयः । कालकाञ्जाः । दिवि । देवाः-इव । श्रिताः । तान् । सर्वान् । अह्वे । ऊतये । अस्मै । अरिष्ट-तातये ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (कालकाञ्जाः) काल अर्थात् सब की संख्या करने वाले परमेश्वर के प्रकाश (दिवि) आकाश में (श्रिताः) आश्रित (त्रयः) तीन (देवाः इव) देवताओं [अग्नि, वायु और सूर्य-निरु० ७ । ५] के समान वर्तमान हैं । (तान्) उन (सर्वान्) सब [परमेश्वर के प्रकाशों] को (अस्मै) इस [जीव] के हित के लिये (ऊतये) रक्षा करने और (अरिष्टतातये) क्षेम करने को (अह्वे) मैं ने बुलाया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य स्वयं प्रकाश स्वरूप परमात्मा की महिमायें सर्वत्र साक्षात् करके अपनी रक्षा करें ॥ २ ॥

व्यापकस्य (दिव्यस्य) दिवु क्रीडादिषु—क्यप् । मनोहरस्य । परमेश्वरस्य (यत्) (महः) महत्त्वम् (तेन) महत्त्वेन (ते) तुभ्यं परमेश्वराय (हविषा) भक्त्या (विधेम) परिचरणं कुर्याम ॥

२—(ये) (त्रयः) त्रिसंख्याकाः (कालकाञ्जाः) कालक+अञ्जाः । कल गतौ संख्याने च, ण्यन्तात्—पचाद्यच्, स्वार्थे कन् । यद्वा । ण्वुल्तृचौ । पा० ३ । १ । १३३ । इति कल-ण्वुल् । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणादिषु-घञ् । काल-कस्य कालस्य सर्वगणकस्य परमेश्वरस्य अञ्जाः प्रकाशाः (दिवि) आकाशे (देवाः) यो देवः सा देवता—निरु० ७ । १५ । तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः—निरु० ७ । ५ । (इव) यथा (श्रिताः) आश्रिताः (तान्) प्रसिद्धान् (सर्वान्) कालकाञ्जान् (अह्वे) अ० ४ । २७ । १ । ह्वेञ् आह्वाने—लुङ् । आहूतवानस्मि (ऊतये) रक्षार्थम् (अस्मै) अस्य जीवस्य हिताय (अरिष्टतातये) अ० ३ । ५ । ५ । अरिष्ट-तातिल् करोत्यर्थे । क्षेमकरणाय ॥

अप्सु ते॒ जन्म॑ दि॒वि ते॑ स॒धस्थं॑ समु॒द्रे अ॒न्तर्म॑हि॒मा ते॑ पृथि॒व्याम् । शुनो॑ दि॒व्यस्य॒ यन्मह॒स्तेना॑ ते ह॒विषा॑ विधेम ॥ ३ ॥

अ॒प्-सु । ते॒ । जन्म॑ । दि॒वि । ते॒ । स॒ध-स्थ॑म् । स॒मु॒द्रे । अ॒न्तः । म॒हि॒मा । ते॒ । पृ॒थि॒व्याम् । शुनः॑ । दि॒व्यस्य॑ । यत् । महः॑ । तेन॑ । ते॒ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥ ३॥

भावार्थ—(अप्सु) प्राणों में [हे परमेश्वर] (ते) तेरा (जन्म) प्रादुर्भाव है, (दिवि) सूर्य मण्डल में (ते) तेरा (सधस्थम्) सहवास है, (समुद्रे अन्तः) अन्तरिक्षके भीतर और (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ते) तेरी (महिमा) महिमा है। (शुनः) व्यापक (दिव्यस्य) दिव्यस्वरूप परमेश्वर का (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन) उसी [महत्त्व] से (ते) तेरे लिये [हे परमेश्वर !] (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा करें ॥३॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेशवर को परमाणु से लेकर स्थूल से स्थूल पदार्थों में साक्षात् करते हैं' वे योगी जन आत्मबल प्राप्त करके सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१-३ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्तमगर्भधारणोपदेशः—उत्तम गर्भ धारण का उपदेश ॥

य॒न्तासि॒ यच्छ॑से॒ हस्ता॒वप॒ रक्षां॑सि सेधसि ।
प्र॒जां धनं॑ च गृह्णा॒नः परि॑ह॒स्तो अ॑भूद॒यम् ॥ १ ॥

य॒न्ता । अ॒सि॒ । यच्छ॑से । हस्तौ॑ । अप॑ । रक्षां॑सि । से॒ध॒सि॒ । प्र॒-जाम् । धन॑म् । च॒ । गृ॒ह्णा॒नः । परि॑-ह॒स्तः । अ॒भू॒त् । अ॒यम् ॥१

२—(अप्सु) प्राणेषु—दयानन्दभाष्ये यजु० ८। २५ (ते) तव। परमेश्वरस्य (जन्म) प्रादुर्भावः (दिवि) दीप्यमाने सूर्यमण्डले (ते) (सधस्थम्) सहस्थानम् (समुद्रे) अन्तरिक्षे—निघ० १। ३ (अन्तः) मध्ये (महिमा) प्रभावः (ते) (पृथिव्याम्) भूमौ। अन्यद् गतम् म० ॥१॥

भाषार्थ—[हे पुरुष] ! तू (यन्ता) नियम में चलने वाला (असि) है, तू (हस्तौ) अपने दोनों हाथों को [सहायता के लिये] (यच्छसे) देने वाला है, तू (रक्षांसि) राक्षसों [विघ्नों] को (अप सेधसि) हटाता है। (प्रजाम्) प्रजा (च) और (धनम्) धन को (गृह्णानः) सहारा देते हुये (अयम्) यह आप (परिहस्तः) हाथ का सहारा देने वाले (अभूत्) हुये हैं ॥१॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष ही सब दरिद्रता आदि विघ्नों को हटा कर प्रजा और धन की रक्षा करके गृहस्थ आश्रम चलाने में समर्थ होते हैं ॥१॥

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे ।
मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे ॥ २ ॥

परि-हस्त । वि । धारय । योनिम् । गर्भाय । धातवे । मर्यादे । पुत्रम् । आ । धेहि । तम् । त्वम् । आ । गमय । आ-गमे ॥२॥

भाषार्थ—(परिहस्त) हे हाथ का सहारा देने वाले पुरुष ! (योनिम्) घर को (गर्भाय धातवे) गर्भ पुष्ट करने के लिये (वि) विशेष करके (धारय) संभाल। (मर्यादे) हे मर्यादायुक्त पत्नी ! (पुत्रम्) [गर्भस्थ] कुल शोधक सन्तान को (आ) भले प्रकार से (धेहि) पुष्ट कर। (त्वम्)

१—(यन्ता) नियामकः। जितेन्द्रियः (असि) (यच्छसे) पाघ्रा-ध्मास्थाम्नादाण्० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण् दाने-यच्छादेशः, आत्मनेपदं छान्दसम् । ददासि सहायार्थम् (हस्तौ) (रक्षांसि) दारिद्र्यादिविघ्नान् (अप सेधसि) अपगमयसि (प्रजाम्) पुत्रभृत्यादिरूपाम् (धनम्) सुवर्णा-दिकम् (च) (गृह्णानः) अवलम्बमानः (परिहस्तः) परिगतः प्रसृतः परोप-काराय हस्तो यस्य सः पुरुषः (अभूत्) (अयम्) प्रसिद्धो भवान् ॥

२—(परिहस्त) हे प्रसृतहस्त सहायार्थम् (वि) विशेषेण (धारय) स्थापय (योनिम्) गृहम्—निघ० ३ । ४ । (गर्भाय) कर्मणि चतुर्थी। गर्भम् (धातवे) धाञस्तुमर्थे तवेन्। धातुं पोषयितुम् (मर्यादे) मर्यादा—अर्श आद्यच्। हे मर्यादायुक्ते पत्नि (पुत्रम्) अ० १ । ११ । ५। गर्भस्थं कुलशोधकं

तू (तम्) उस [सन्तान] को (आगमे) योग्य समय पर (आ गमय) उत्पन्न कर ॥ २ ॥

भावार्थ—उचित गृह आदि से यथावत् गर्भरक्षा करके पति पत्नी सावधान रहें जिससे बालक पूरे दिनों में उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या ।

त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ॥ ३ ॥

यम् । परि-हस्तम् । अबिभः । अदितिः । पुत्र-काम्या । त्वष्टा । तम् । अस्यै । आ । बध्नात् । यथा । पुत्रम् । जनात् । इति ॥३॥

भाषार्थ—(पुत्रकाम्या) उत्तम सन्तान की कामना वाली (अदितिः) अखण्डव्रता स्त्री ने (यम्) जिस [जैसे] (परिहस्तम्) हाथ का सहारा देने वाले पति को (अबिभः) धारण किया है। (त्वष्टा) विश्वकर्मा वा शिल्पी परमात्मा (तम्) उस [वैसे ही पति] को (अस्यै) इस पत्नी के लिये (आ बध्नात्) नियमबद्ध करे (यथा) जिससे वह पत्नी (पुत्रम्) कुलशोधक सन्तान (जनात्) उत्पन्न करे, (इति) यही प्रयोजन है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार स्त्री पुरुष वेदविहित रीति से प्रेम के साथ उत्तम सन्तान उत्पन्न करते रहे हैं, उसी प्रकार से स्त्री पुरुष परस्पर अनुराग के साथ श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करें ॥ ३ ॥

सन्तानम् (आ) समन्तात् (धेहि) पोषय (तम्) गर्भम् (त्वम्) (आ गमय) उत्पादय (आगमे) आगमनकाले । उत्पत्तियोग्यस्थाने ॥

३—(यम्) यादृशम् (परिहस्तम्) परोपकाराय प्रसृतकरं पुरुषम् (अबिभः) डुभृञ् धारणपोषणयोः—लङि रूपम् । धृतवती (अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । दो अवखण्डने-क्तिन् । अखण्डव्रता स्त्री (पुत्रकाम्या) काम्यच्च । पा० ३ । १ । ६ । इति पुत्र—काम्यच् इच्छार्थे । पुत्रं कुलशोधकं सन्तानम् आत्मनमिच्छन्ती (त्वष्टा) अ० २ । ५ ६ । विश्वकर्मा परमात्मा (तम्) तादृशं पतिम् (अस्यै) पत्नीहिताय (आ) समन्तात् (बध्नात्) नियमे बध्नातु (यथा) येन प्रकारेण (पुत्रम्) कुलशोधकं सन्तानम् (जनात्) जनेर्ण्यन्तात् लेटि आडागमः । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । आर्धधातुकत्वात् णिलोपः । जनयेत् ॥

सूक्तम् ८२ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाह संस्कार का उपदेशः ॥

आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः ।
इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः ॥ १ ॥

आ-गच्छतः । आ-गतस्य । नाम । गृह्णामि । आ-यतः ।
इन्द्रस्य । वृत्र-घ्नः । वन्वे । वासवस्य । शत-क्रतोः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आयतः) अति यत्नशाली वा नियमवान् मैं (आगच्छतः) आते हुये और (आगतस्य) आये हुये पुरुष का (नाम) नाम [कीर्ति] (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं । (वृत्रघ्नः) अन्धकारनाशक, (वासवस्य) बहुत धन वाले और (शतक्रतोः) सैकड़ों कर्मों वाले (इन्द्रस्य) संपूर्ण ऐश्वर्य वाले परमात्मा की (वन्वे) मैं प्रार्थना करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर से प्रार्थना करके प्रयत्न करें जिससे उनके आचरण वर्तमान और पूर्वज महात्माओं के समान धार्मिक होवें ॥ १ ॥

येन सूर्यां सावित्रीमश्विनोहतुः पथा ।
तेन मामब्रवीद् भगो जायामा वहतादिति ॥ २ ॥

येन । सूर्याम् । सावित्रीम् । अश्विना । ऊहतुः । पथा । तेन ।
माम् । अब्रवीत् । भगः । जायाम् । आ । वहतात् । इति ॥२॥

१—(आगच्छतः) इदानीं वर्तमानस्य (आगतस्य) भूतकाले प्राप्तस्य पुरुषस्य (नाम) कीर्तनम् (गृह्णामि) स्वीकरोमि (आयतः) (आङ्+यती यत्ने—अच्, यद्वा । आङ्+यम नियमने-क । अतिप्रयत्नशाली । प्रशस्त-नियमवान् (इन्द्रस्य) परमेश्वर्यवतः परमेश्वरस्य (वृत्रघ्नः) अन्धकारनाशस्य (वन्वे) वनु याचने । अहं याचे (वासवस्य) वसु-अण् । वसु धनम्—निघ० । १० । वसूनि धनानि सन्ति यस्य तस्य (शतक्रतोः) क्रतुः कर्म-निघ० २ । १ । बहुकर्मयुक्तस्य ॥

भाषार्थ--(येन पथा) जिस मार्ग से (अश्विना) दिन और रात्री ने (सावित्रीम्) सूर्य सम्बन्धी (सूर्याम्) ज्योति को (ऊहतुः) प्राप्त किया है। (तेन) उसी [मार्ग से] (जायाम्) वीरों को उत्पन्न करने वाली भार्या को (आ) मार्यादा पूर्वक (वहतात्) तू प्राप्त कर, (इति) यह बात (भगः) बड़े ऐश्वर्यवाले भगवान् ने (माम्) मुझसे (अब्रवीत्) कही है ॥ २ ॥

भावार्थ--परमेश्वर ने आज्ञा दी है कि जिस प्रकार दिन और रात सूर्य की गति के आश्रित होकर उपकार करते हैं इसी प्रकार स्त्री पुरुष धर्म के लिये ही विवाह संस्कार करें ॥ २ ॥

यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः ।
तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते ॥ ३ ॥

यः । ते । अङ्कुशः । वसु-दानः । बृहन् । इन्द्र । हिरण्ययः ।
तेन । जनि-यते । जायाम् । मह्यम् । धेहि । शची-पते ॥३॥

भाषार्थ--(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (यः) जो (ते) तेरा (अंकुशः) गणना व्यवहार [अथवा, अंकुश, दुष्कर्मों का दण्ड] (बृहन्) बहुत बड़ा और (हिरण्ययः) ज्योति स्वरुप और (वसुदानः) धन देने वाला है। (तेन) उसी के द्वारा, (शचीपते) वाणी वा कर्म वा बुद्धि के रक्षक

२--(येन) (सूर्याम्) सूर्य-अर्शआद्यच्, सूर्यदीप्तिम् (सावित्रीम्) सवितृ-अण्, ङीप्। सूर्यसम्बन्धिनीम् (अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । अहोरात्रौ (ऊहतुः) वह प्रापणे-लिट्। प्राप्तवन्तौ (पथा) मार्गेण (तेन) पथा (माम्) (अब्रवीत्) (भगः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वरः (जायाम्) वीरजननीं पत्नीम् (आ) मर्यादायाम् (वहतात) वह । प्राप्नुहि (इति) वाक्यसमाप्तौ ॥

३--(यः) (ते) तव (अंकुशः) सानसिवर्णसि० । उ० ४ । १०७ । इति अङ्क संख्याकरणे, यद्वा, अकि लक्षणे-उशच्। चितः। पा० ६ । १ । १६३ । इत्यन्तोदात्तः। गणनाव्यवहारः। दुष्कर्मणां दण्डायास्त्रभेदः (वसुदानः) ददातेर्ल्युट्। धनदाता (बृहन्) महान् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (हिरण्ययः) ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्व० । पा० ६ । ४ । १७५ । इति हिरण्यशब्दात् मयटि मलोपः। हिरण्मयः । तेजोमयः (तेन) अङ्कुशेन जनीयते सुप

परमेश्वर ! (जनीयते) पत्नी की इच्छा वाले (मह्यम्) मुझे (जायाम्) वीरों को उत्पन्न करने वाली पत्नी (धेहि) दे ॥ ३ ॥

भावार्थ--परमेश्वर के उत्तम २ गुणों को अपने में धारण करके विद्यावान् और धनवान् होकर पति पत्नी को और पत्नी पति को अपने सदृश ग्रहण करें ॥ ३ ॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

अथ नवमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१-४ ॥ वैद्यो देवता ॥ १-३ अनुष्टुप्; ४ जगती छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश करने का उपदेश ॥

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव ।

सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु ॥ १ ॥

अप-चितः । प्र । पतत । सु-पर्णः । वसतेः-इव । सूर्यः । कृणोतु । भेषजम् । चन्द्रमाः । वः । अप । उच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अपचितः) हे सुख नाश करने वाली गंड माला आदि पीड़ाओ ! (प्र पतत) चली जाओ, (सुपर्णः इव) जैसे शीघ्रगामी पक्षी [श्येन] (वसतेः) अपनी वसती से । (सूर्यः) प्रेरणा करने वाला [वैद्य

आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति जनि-क्यच्, शतृ । जनिर्जाया तामात्मन इच्छते पुरुषाय (जायाम्) वीरजननीम् (मह्यम्) (धेहि) देहि । प्रयच्छ (शचीपते) शच वाचि—इन्, ङीप् । शची वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । कर्म नाम—२ । १ । प्रज्ञानाम । ३ । ६ । वाचां कर्मणां प्रज्ञानां वा रक्षक परमेश्वर ॥

१—(अपचितः) अप पूर्वाच् चिनोतेः—क्विप् । हे सुखनाशिका गण्ड-मालादिपीडाः (प्र पतत) प्रकर्षेण निर्गच्छत (सुपर्णः) अ० १ । २४ । १ । शोभन-पतनः शीघ्रगामी पक्षी (वसतेः) वहिवस्यर्त्तिभ्यश्चित् । उ० ४ । ६० । इति वस निवासे—अति । गृहात् नीडात् (इव) यथा (सूर्यः) प्रेरको वैद्यः

वा सूर्य लोक] (भेषजम्) औषध (कृणोतु) करे, और (चन्द्रमाः) आनन्द देने वाला [वैद्य वा चन्द्र लोक] (वः) तुम को (अप उच्छतु) निकाल देवे ॥१॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य गंड माला आदि रोगों को सूर्य वा चन्द्रमा की किरणों द्वारा वा अन्य औषधों से अच्छा करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या की प्राप्ति से अविद्या का नाश करके सुखी होवें ॥ १ ॥

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे ।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥ २ ॥

एनी । एका । श्येनी । एका । कृष्णा । एका । रोहिणी इति । द्वे इति । सर्वासाम् । अग्रभम् । नाम । अवीर-घ्नीः । अप । इतन ॥२॥

भाषार्थ—(एका) एक [गण्डमाला आदि] (एनी) चितकबरी, (एका) एक (श्येनी) श्वेतवर्ण, (एका) एक (कृष्णा) काली और (द्वे) दो (रोहिणी) लाल रंग हैं । (सर्वासाम्) सब [गण्डमाला आदि पीड़ाओं]

सूर्यलोको वा स्वकिरणद्वारा (कृणोतु) करोतु (भेषजम्) चिकित्सनम् (चन्द्रमाः) अ० ५ । २४ । १० । आह्लादकरो वैद्यश्चन्द्रलोको वा स्वकिरणद्वारा (वः) युष्मान् (अपोच्छतु) उच्छी विवासे, अपवासयतु । अपवर्जयतु ॥

२—(एनी) हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । इति इण् गतौ-तन् । वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः । पा० ४ । १ । ३९ । इति ङीप, तस्य च नः । चित्रवर्णा (एका) गण्डमालादिपीडा (श्येनी) इश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ९३ । इति श्यैङ् गतौ—इतन् । पूर्ववद्ङीप, तस्य च नः । श्वेतवर्णा (एका) (कृष्णा) कृष्णवर्णा (एका) (रोहिणी) रोहितशब्दस्य पूर्ववद्ङीप्नकारौ । रोहिण्यौ । लोहितवर्णे वातपित्तश्लेष्मवशाद् वर्णनानात्वाद् एतासां नानात्वम् (सर्वासाम्) अपचिताम् (अग्रभम्) अहमग्रहीषम् (नाम) प्रसिद्धौ (अवीरघ्नीः) बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । ८८ । इति वीर + हन वधे—क्विप् । ऋन्नेभ्योङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप् । अल्लोपोऽनः । पा० ६ । ४ । १३४ । अकार लोपः वा च्छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । अवीरान् कातरान्

हन्ध्यः का (नाम) नाम (अगृभम्) मैंने ग्रहण किया है, (अवीरघ्नीः) अवीरों कातरों को नाश करती हुई (अपइतन) तुम चली जाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार चिकित्सक रोग का वात पित्त श्लेष्म आदि निदान समझ कर गंडमाला आदि रोगों की निवृत्ति करता है। उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य अपनी कुवासनाओं का कारण समझ कर उनका नाश करे ॥२॥

असूतिका रामायण्यपचित् प्र पतिष्यति ।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥ ३ ॥

असूतिका । रामायणी । अप-चित् । प्र । पतिष्यति । ग्लौः । इतः । प्र । पतिष्यति । सः । गलुन्तः । नशिष्यति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रामायणी) प्राण वायु के रमणस्थान नाड़ियों में मार्गवाली (अपचित्) सुख नाश करने वाली गण्डमाला आदि पीड़ा (असूतिका) बांझ होकर (प्र पतिष्यति) चली जायगी। (ग्लौः) हर्षनाशक घाव (इतः) इस [रोगी] से (प्र पतिष्यति) चला जावेगा (सः) वह [घाव] (गलुन्तः) गलाव से कोमल होकर (नशिष्यति) नष्ट हो जावेगा ॥३॥

भावार्थ—जिस प्रकार सद्वैद्य की ओषधि से रोग बढ़ने से रुककर नष्ट हो जाता है, वैसे ही मनुष्य विद्या की प्राप्ति से अविद्या को मिटा कर सुखी होता है ॥३॥

सत्यः (अपेतन) तप्तनप्तनथनाश्च। पा० ७। १ ४५। इति एतेर्लोटि तस्य तनादेशः। अपगच्छत ॥

३—(असूतिका) पूङ् प्राणिप्रसवे—क्त, स्वार्थे कन्। बन्ध्या। रोगानुत्पादिका सती (रामायणी) रमते आसु प्राणवायुरिति रामा नाड्यः, ता अयनं मार्गो यस्याः सा तथाभूता (अपचित्) म० १। हर्षनाशिका गण्डमालादिपीडा (प्रपतिष्यति) प्रकर्षेण गमिष्यति (ग्लौः) ग्लानुदिभ्यां डौः। उ० २। ६४। इति ग्लै हर्षक्षये—डौ। हर्षनाशको व्रणः (इतः) एतस्माद् रोगिणः पुरुषात् (प्रपतिष्यति (सः) ग्लौः (गलुन्तः) गल क्षरणे—क्विप्। + उन्दी क्लेदने—क्त। नुदविदोन्द० पा० ८। २। ५६। इति वैकल्पिकत्वाद् नत्वं न। गला गलनेन उन्तः उन्नः क्लिन्नः कोमलीकृतः (नशिष्यति) णश् अदर्शने। अदृष्टो भविष्यति ॥

वी॒हि स्वामाहु॑तिं जुषा॒णो मन॑सा॒ स्वाहा॒ मन॑सा॒ यदि॒दं जु॒होमि॑ ॥ ४ ॥

वी॒हि । स्वाम् । आ-हु॑तिम् । जु॒षा॒णः । मन॑सा । स्वाहा॑ । मन॑सा । यत् । इ॒दम् । जु॒होमि॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (मनसा) मन से (जुषाणः) प्रीति करता हुआ तू (स्वाम्) अपनी (आहुतिम्) धर्म से देने लेने योग्य क्रिया को (वीहि) प्राप्त हो, (यत्) क्योंकि (स्वाहा) सुन्दर वाणी से और (मनसा) उत्तम विचार से (इदम्) ऐश्वर्य का कारण ज्ञान (जुहोमि) मैं देता हूं ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर और विद्वानों के उपदेश अनुसार विचार पूर्वक पुरुषार्थ के साथ अपना कर्तव्य पालन करके प्रसन्न होवे ॥४॥

सूक्तम् ८४ ॥

१-४ ॥ निर्ऋ॑तिर्दे॑वता ॥ १ जगती; २ गायत्री; ३,४ त्रिष्टुप् ॥

पापमोचनायोपदेशः—पाप से मुक्ति का उपदेश ॥

यस्या॑स्त आ॒सनि॑ घो॒रे जु॒होम्ये॒षां ब॒द्धाना॑मव॒सर्ज॑नाय॒ कम् । भूमि॒रिति॑ त्वाभि॒प्रम॑न्वते॒ जना॒ निर्ऋ॑ति॒रिति॑ त्वा॒हं परि॑ वेद स॒र्वतः॑ ॥ १ ॥

४—(वीहि) प्राप्नुहि (स्वाम्) स्वकीयाम् । पौरुषेण प्राप्ताम् (आहुतिम्) हु दानादानयोः-क्तिन् । समन्ताद् दातव्यग्राह्यक्रियाम् (जुषाणः) प्रीयमाणः (मनसा) अन्तः करणेन । सुविचारेण (स्वाहा) सुवाण्या (मनसा) (यत्) यस्मात्कारणात् (इदम्) इन्देः कमिन् नलोपश्च । उ० ४ । १५७ । इदि परमैश्वर्ये—कमिन् । ऐश्वर्यहेतु ज्ञानम् (जुहोमि) ददामि । उपदिशामि ॥

यस्याः । ते । आसनि । घोरे । जुहोमि । एषाम् । बद्धानाम् । अव-सर्जनाय । कम् । भूमिः । इति । त्वा । अभि-प्रमन्वते । जनाः । निःऋतिः । इति । त्वा । अहम् । परि । वेद । सर्वतः ॥१॥

भाषार्थ—(यस्याः) जिस (ते) तेरे (घोरे) भयानक (आसनि) मुख में (एषाम्) इन (बद्धानाम्) बंधे हुये प्राणियों के (अवसर्जनाय) छुड़ाने के लिये (कम्) कमनीय व्यवहार को (जुहोमि) मैं देता हूं । (त्वा) उस तुझको (जनाः) पामर लोग (भूमिः इति) यह भूमि अर्थात् आश्रय देने वाली है (अभिप्रमन्वते) मानते हैं ; (अहम्) मैं (त्वा) तुझको (निर्ऋतिः इति) यह अलक्ष्मी है (सर्वतः) सब प्रकार से (परि वेद) भली भांति जानता हूं ॥१॥

भावार्थ—अज्ञानी मनुष्य दुष्क्रिया को अपनी उन्नति की (भूमि) आश्रय समझते हैं ; और बुद्धिमान् मनुष्य उसको (निर्ऋति) अलक्ष्मी अर्थात् अवनति का कारण जानते हैं, इस लिये विद्वान् मनुष्य अज्ञान बन्धन में फंसे हुये प्राणियों के छुड़ाने के लिये अलक्ष्मी के कारणों को जताकर उत्तम व्यवहार का उपदेश करें ॥ १ ॥

भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु ।
मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा ॥ २ ॥

१—(यस्याः) निर्ऋतेः (ते) तव (आसनि) आस्ये । मुखे (घोरे) घुर भीमभावे—अच् । भयानके (जुहोमि) ददामि (एषाम्) प्राणिनाम् (बद्धानाम्) बन्धं गतानाम् (अवसर्जनाय) दुःखाद् विमोचनाय (कम्) अ० २ । १ । ५ । कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा । निरु० १० । २२ । कमनीयं व्यवहारम् (भूमिः) आश्रयभूता (इति) वाक्यसमाप्तौ (त्वा) तां त्वाम् (अभिप्रमन्वते) मनु अवबोधने । अभितः प्रबुध्यन्ते (जनाः) पामरलोकाः (निर्ऋतिः) अ० २ । १० । १ । निर्ऋतिः—कृच्छ्रापत्तिः—निरु० २ । ७ । अलक्ष्मीः (इति) (त्वा) निर्ऋतिम् (अहम्) तत्वज्ञानी पुरुषः (परि) परितः (वेद) जानामि (सर्वतः) सर्वस्मात्कारणात् ॥

भूते । हविष्मती । भव । एषः । ते । भागः । यः । अस्मासु । मुञ्च । इमान् । अमून् । एनसः । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(भूते) हे चिन्ता योग्य [अलक्ष्मी !] [हमारे लिये] (हविष्मती) देने और लेने योग्य क्रिया वाली (भव) हो, (एषः) यह (ते) तेरा (भागः) सेवनीय व्यवहार है, (यः) जो (अस्मासु) हम लोगों के बीच होवे । "(इमान्) इन [इस जन्म वाले] और (अमून्) उन [अगले वा पिछले जन्म वाले] जीवों को (एनसः) पाप से (मुञ्च) मुक्त करदे, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी है" ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य तीव्र तप अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थ करके भूत भविष्यत् और वर्तमान् क्लेशों के फल को नाश करके सुखी होवे ॥ २ ॥

एवो ष्व१स्मन्निर्ऋतेऽनेहा त्वमयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् । यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥

एवो इति । सु । अस्मत् । निः-ऋते । अनेहा । त्वम् । अयस्मयान् । वि । चृत । बन्ध-पाशान् । यमः । मह्यम् । पुनः । इत् । त्वाम् । ददाति । तस्मै । यमाय । नमः । अस्तु । मृत्यवे ॥ ३ ॥

२—(भूते) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति चौरादिको भू चिन्तने—क्तिच् । आमन्त्रितस्य च । पा० ६ । १ । १९८ इति आदिरुदात्तः । हे चिन्तनीये निर्ऋते (हविष्मती) दातव्य ग्राह्यक्रियायुक्ता (भव) (एषः) वक्ष्यमाणः—मुञ्चेमानम्...(ते) तव (भागः) भजनीयः स्वीकरणीयो व्यवहारः (यः) (अस्मासु) अस्माकं मध्ये भवतु (मुञ्च) विसृज (इमान्) इदानींतनान् जीवान् (अमून्) दूरस्थान् पूर्वपरजन्मनि वर्तमानान् (एनसः) पापात् । कष्टात् (स्वाहा) सुवाणी । सुप्रार्थना ॥

भाषार्थ—(निर्ऋते) हे अलक्ष्मी ! (त्वम्) तू (अनेहा) न मारने वाली होकर (अस्मत्) हमसे (अयस्मयान्) लोहे की बनी (बन्धपाशान्) बन्धन की बेड़ियों को (एवो) अवश्य ही (सु) भले प्रकार (वि चृत) खोल दे। (यमः) न्यायकारी परमेश्वर (मह्यम्) मेरे लिये (पुनः) बारंबार (इत्) ही (त्वाम्) तुझको (ददाति) देता है, (तस्मै) उस (यमाय) न्यायकारी परमेश्वर को (मृत्यवे) दुःखरूप मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य पाप कर्मों को छोड़ कर सदा धर्म आचरण करें। परमेश्वर अपनी न्यायव्यवस्था से पापियों को सदा दण्ड देता है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से अ० ६। ६३। २ में आ चुका है ॥

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥४॥

अयस्मये । द्रु-पदे । बेधिषे । इह । अभि-हितः । मृत्यु-भिः । ये । सहस्रम् । यमेन । त्वम् । पितृ-भिः । सम्-विदानः । उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इह) यहां पर (मृत्युभिः) मृत्यु के कारणों से (ये) जो (सहस्रम्) सहस्र प्रकार हैं (अभिहितः) घिरा हुआ तू (अयस्मये) लोहे से जकड़े हुये (द्रुपदे) काठ के बन्धन में (बेधिषे=बध्यसे) बंध रहा है। (यमेन) नियम से (पितृभिः) पालन करने वाले ज्ञानियों से

३—(एवो) एव—उ। अवश्यमेव (सु) सुष्ठु। यथाविधि (अस्मत्) अस्मत्तः (निर्ऋते) म० १। हे कृच्छ्रापत्ते (अनेहा) नञि हन एह च। उ० ४। २२४। इति हन्तेर्नञ्युपपदेऽसिः, धातोरेहादेशश्च। ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसां च पा० ७। १। ६४। इति सावनङ्। अहन्त्री। अबाधमाना (त्वम्) अन्यद् गतम्—अ० ६। ६३। २॥

४—(अयस्मये द्रुपदे) इत्येषा व्याख्याता—अ० ६। ६३-३॥

(संविदानः) मिला हुआ (त्वम्) तू (इमम्) इस पुरुष को (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) आनन्द में (अधि रोहय) ऊपर चढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पापों के कारण बड़े बड़े कष्ट उठाते हैं, वे विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पद प्राप्त करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र अ० ६ । ६३ । ३ । में आ चुका है ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

व॒र॒णो वा॑रयाता अ॒यं दे॒वो वन॒स्पतिः॑ ।
यक्ष्मो॒ यो अ॒स्मिन्नावि॑ष्ट॒स्तमु॑ दे॒वा अ॑वीवरन् ॥ १ ॥

व॒र॒णः । वा॒र॒या॒तै॒ । अ॒यम् । दे॒वः । वन॒स्पतिः॑ । यक्ष्मः॑ । यः । अ॒स्मिन् । आ-वि॑ष्टः । तम् । ऊँ॒ इति॑ । दे॒वाः । अ॒वी॒व॒र॒न् ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देव) दिव्य गुणवाला, (वनस्पतिः) सेवनीय गुणों का रक्षक (वरणः) स्वीकार करने योग्य [वैद्य अथवा वरणा अर्थात् वरुणवृक्ष] [राजरोग आदि को] (वारयातै) हटावे । (यः) जो (यक्ष्मः) राजरोग (अस्मिन्) इस पुरुष में (आविष्टः) प्रवेश कर गया है (तम्) उसको (उ) निश्चय करके (देवाः) व्यवहार जानने वाले विद्वानों

१—(वरणः) सुयुरुवृञो युच् । उ० २ । ७४ । इति वृञ्—वरणे=स्वीकरणे—युच् । स्वीकरणीयः । वैद्यो वरुणवृक्षो वा । वरुणस्य गुणाः । कटुत्वम् उष्णत्वम्, रक्तदोषशीतवातहरत्वम्, स्निग्धत्वम्, दीपनत्वम्—इति शब्दकल्पद्रुमात् (वारयातै) अ० ४ । ७ । १ । वारयतेर्लेटि आडागमः । वैतोऽन्यत्र । पा० ३ । ४ । ९६ । इति ऐकारः । वारयतु । निवर्तयतु (अयम्) प्रसिद्धः (देवः) दिव्यः (वनस्पतिः) अ० १ । ३५ । ३ । वन सेवने—अच् । वन+पतिः, सुट् च । सेवनीयगुणानां रक्षकः (यक्ष्मः) अ० २ । १० । ५ । राजरोगः क्षयः (यः)

ने (अवीवरन्) हटाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से सद्वैद्य पूर्वज विद्वानों से शिक्षा पाकर बड़े बड़े रोगों को वरण वा अन्य ओषधद्वारा मिटाता है, वैसे ही मनुष्य उत्तम गुण को प्राप्त करके दुष्कर्मों का नाश करे ॥ १ ॥

(वरणः) ओषधि विशेष भी है जिसको वरुण, वरणा और उरण आदि कहते हैं। वरुण कटु, उष्ण, रक्तदोष, शीत वात हरने वाला, चिकना और दीपन है ॥

इन्द्र॑स्य॒ वर्च॑सा व॒यं मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य च ।
दे॒वानां॒ सर्वे॑षां वा॒चा यक्ष्मं॑ ते वारयामहे ॥ २ ॥

इन्द्र॑स्य । वर्च॑सा । व॒यम् । मि॒त्रस्य॑ । वरु॑णस्य । च॒ । दे॒वा-नाम् । सर्वे॑षाम् । वा॒चा । यक्ष्म॑म् । ते॒ । वा॒र॒या॒म॒हे॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) प्रतापी, (मित्रस्य) स्नेही (च) और (वरुणस्य) सेवनीय पुरुष के (वचसा) वचन से और (सर्वेषाम्) सब (देवानाम्) व्यवहार जानने वाले विद्वानों के (वाचा) वचन से (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राजरोग को (वयम्) हम लोग (वारयामहे) हटाते हैं ॥२॥

भावार्थ—जैसे विद्वानों से शिक्षा पाकर वैद्य रोगों की निवृत्ति करता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने दोषों की निवृत्ति करें ॥ २ ॥

यथा॑ वृ॒त्र इ॒मा आप॑स्त॒स्तम्भ॑ वि॒श्वधा॑ य॒तीः ।
ए॒वा ते॑ अ॒ग्निना॒ यक्ष्मं॑ वैश्वान॒रेण॑ वारये ॥ ३ ॥

(अस्मिन्) पुरुषे (आविष्टः) प्रविष्टः (तम्) यक्ष्मम् (उ) एव (देवाः) व्यवहारकुशला विद्वांसः (अवीवरन्) वारयतेर्लुङि चङि रूपम्। निवारितवन्तः ॥

२—(इन्द्रस्य) प्रतापिनः पुरुषस्यः (वचसा) वचनेन। उपदेशेन (वयम्) पुरुषार्थिनः (मित्रस्य) स्नेहिनः (वरुणस्य) वरणीयस्य। सेवनीयस्य (च) (देवानाम्) व्यवहारिणां विदुषाम् (सर्वेषाम्) समस्तानाम् (वाचा) वचनेन (यक्ष्मम्) राजरोगम् (ते) तव (वारयामहे) निवारयामः ॥

यथा । वृत्रः । इमाः । आपः । तस्तम्भ । विश्वधा । यतीः ।
एव । ते । अग्निना । यक्ष्मम् । वैश्वानरेण । वारये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वृत्रः) मेघने (विश्वधा) सब ओर (यतीः) बहती हुई (इमाः) इन (आपः=अपः) जलधाराओं को (तस्तम्भ) रोका था। (एव) वैसे ही (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राजरोग को (वैश्वानरेण) सब मनुष्यों के हित करने वाले (अग्निना) अग्नि से (वारये) मैं हटाता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ ईश्वर नियम से जल की भाफों को मेघ मण्डल में रोक लेता है, उसी प्रकार वैद्य रोगी की पाचन शक्ति ठीक करके रोग को रोक दे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८६ ॥

१-३ ॥ एकवृषो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

साम्राज्योपदेशः—साम्राज्य पाने का उपदेश ॥

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम् ।
वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥ १ ॥

वृषा । इन्द्रस्य । वृषा । दिवः । वृषा । पृथिव्याः । अयम् ।
वृषा । विश्वस्य । भूतस्य । त्वम् । एक-वृषः । भव ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [परमेश्वर] (इन्द्रस्य)सूर्य का (वृषा) स्वामी,

---

३—(यथा) येन प्रकारेण (वृत्रः) अ० २ । ५ । ३ । आवरको मेघः—निघ० १ । १० । (इमाः) परिदृश्यमानाः (आपः) अपः । जलानि (तस्तम्भ) ष्टभि गतिप्रतिबन्धे । अवरुरोध (विश्वधा) सर्वतः (यतीः) इण् गतौ—शतृ, ङीप् । गच्छन्तीः (एव) एवम् । तथा (ते) त्वदीयम् (अग्निना) जाठराग्निना (यक्ष्मम्) राजरोगम् (वैश्वानरेण) अ० १ । १० । ४ । विश्वनरहितेन (वारये) निवारयामि ॥

१—(वृषा) अ० १ । १२ । १ । वृषु सेचने, प्रजनैश्वर्ययोः—कनिन् । ईश्वरः । स्वामी (इन्द्रस्य) सूर्यस्य (दिवः) अन्तरिक्षस्य (पृथिव्याः) भूम्याः (अयम्)

(दिवः) अन्तरिक्ष का (वृषा) स्वामी, (पृथिव्याः) पृथिवी का (वृषा) स्वामी और (विश्वस्य) सब (भूतस्य) प्राणियों का (वृषा) स्वामी है, [हे पुरुष !] (त्वम्) तू (एकवृषः) अकेला स्वामी (भव) हो ॥ १ ॥

भावार्थ--मनुष्य परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और सर्वशासकता विचार कर अपनी शक्ति बढ़ा कर चक्रवर्त्ती राज्य प्राप्त करे ॥ १ ॥

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी ।
चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥ २ ॥

समुद्रः । ईशे । स्रवताम् । अग्निः । पृथिव्याः । वशी । चन्द्रमाः । नक्षत्राणाम् । ईशे । त्वम् । एक-वृषः । भव ॥ २ ॥

भाषार्थ--(समुद्रः) समुद्र (स्रवताम्) बहते हुए जलों का (ईशे= ईष्टे) स्वामी है, (अग्निः) सूर्यरूप अग्नि (पृथिव्याः) पृथिवी का (वशी) वश में करने वाला है। (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (नक्षत्राणाम्) चलने वाले नक्षत्रों का (ईशे) अधिष्ठाता है, [हे पुरुष !] (त्वम्) तू (एकवृषः) अकेला स्वामी (भव) हो ॥ २ ॥

भावार्थ--मनुष्य समुद्र, सूर्य, चन्द्र आदि लोकों की आकर्षण शक्ति देख कर अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥ २ ॥

सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् ।
देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥ ३ ॥

प्रसिद्धः परमेश्वरः (विश्वस्य) सर्वस्य (भूतस्य) प्राणिजातस्य (त्वम्) (एक-वृषः) अ० ४ । २२ । १ । वृषु ऐश्वर्ये--क । अद्वितीयप्रधानः । सार्वभौमः (भव)॥

२--(समुद्रः) सागरः (ईशे) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । ईष्टे । ईश्वरो भवति (स्रवताम्) प्रवहतामुदकानाम् (अग्निः) सूर्यरूपोऽग्निः (पृथिव्याः) भूमेः (वशी) वशयिता । स्वामी (चन्द्रमाः) चन्द्रलोकः (नक्षत्राणाम्) अमिनक्षियजि० । उ० ३ । १०५ । इति णक्ष गतौ--अत्रन् । गतिशीलानां तारकाणाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सम्-राट् । असि । असुराणाम् । ककुत् । मनुष्याणाम् । देवानाम् । अर्ध-भाक् । असि । त्वम् । एक-वृषः । भव ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (असुराणाम्) बुद्धिमानों का (सम्राट्) सम्राट्, और (मनुष्याणाम्) मननशील—मनुष्यों का (ककुत्) शिखा (असि) है । (देवानाम्) जय चाहने वालों की (अर्धभाक्) वृद्धि का बांटने वाला (असि) है, [हे पुरुष !] (त्वम्) तू (एकवृषः) अकेला स्वामी (भव)हो ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य सब से अधिक गुणी होकर चक्रवर्त्ती राजा बने ॥३॥

सूक्तम् ८७ ॥

१-३ राज्ञः स्तुतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्द ॥

राजसूययज्ञोपदेश;—राज तिलक यज्ञ के लिये उपदेश ॥

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥१॥

आ । त्वा । अहार्षम् । अन्तः । अभूः । ध्रुवः । तिष्ठ । अवि-चाचलत् । विशः । त्वा । सर्वाः । वाञ्छन्तु । मा । त्वत् । राष्ट्रम् । अधि । भ्रशत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (त्वा) तुझको (आ=आनीय) लाकर (अहार्षम्) मैंने स्वीकार किया है । (अन्तः) सभा के मध्य (अभूः) तू वर्तमान

३—(सम्राट्) अ० ४ । १ । ५ । सम्यग्राजमानः । चक्रवर्ती (असि) वर्तसे (असुराणाम्) असुरत्वं प्रज्ञावत्वम्, असुरिति प्रज्ञानाम—निरु० १० । ३४ । रो मत्वर्थीयः प्रज्ञावताम् (ककुत्) अ० ३ । ४ । २ । शिखररूपः । प्रधानः (मनुष्याणाम्) मननशीलानाम् (देवानाम्) विजिगीषूणाम् (अर्धभाक्) ऋधु वृद्धौ भावे—घञ् । अर्ध+भाज पृथक्कर्मणि—क्विप् । अर्धस्य वर्धनस्य भागी । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(आ) आनीय (त्वा) त्वराजानम् (अहार्षम्) स्वीकृतवानस्मि (अन्तः) सभामध्ये (अभूः) विराजमानोऽभवः (ध्रुवः) स्रुवः कः । उ०

हुआ है। (ध्रुवः) निश्चित बुद्धि और (अविचाचलत्) निश्चलस्वभाव होकर (तिष्ठ) स्थिर हो। (सर्वाः) सब (विशः) प्रजायें (त्वा वाञ्छन्तु) तेरी कामना करें, (राष्ट्रम्) राज्य (त्वत्) तुझसे (मा अधिभ्रशत्) कभी भ्रष्ट न होवे ॥ १ ॥

भावार्थ--प्रजागण सबसे उत्तम पुरुष को राजा बना कर उपदेश करें, जिससे वह सदा धार्मिक पुरुषार्थी रहे और बुरे आचरण से राज्य नष्ट न होवे ॥१॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । १७३ । १-३ । और यह मन्त्र यजुर्वेद में है—१२ । ११ ॥

इहैवैधि माप॑ च्योष्ठाः पर्व॑त इवाविचाचलत् ।

इन्द्र॑ इवे॒ह ध्रुवस्तिष्ठे॒ह रा॒ष्ट्रमु॑ धारय ॥ २ ॥

इ॒ह । ए॒व । ए॒धि॒ । मा । अप॑ । च्योष्ठाः । पर्व॑तः-इव । अवि-चाचलत् । इन्द्रः॑-इव । इ॒ह । ध्रु॒वः । ति॒ष्ठ॒ । इ॒ह । रा॒ष्ट्रम् । ऊं॒ इति॑ । धा॒र॒य॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (पर्वतः इव) पहाड़ के समान (अविचाचलत्) निश्चल स्वभाव तू (इह एव) यहां ही (एधि) रह, (मा अप च्योष्ठाः) कदापि मत गिर। (इन्द्रः इव) सूर्य के समान (इह) यहां पर (ध्रुवः) स्थिर स्वभाव

२। ६१। इति ध्रु स्थैर्ये—क। निश्चितबुद्धिः (तिष्ठ) स्थिरो भव (अविचाचलत्) चल गतौ--यङ्लुगन्तात्, शतृ। नाभ्यस्ताच्छतुः। पा० ७। १। ७८। इति नुम्प्रतिषेधः। निश्चलस्वभावः (विशः) प्रजाः। मनुष्याः—निघ० २। ३ (सर्वाः) अखिलाः (त्वा) (वाञ्छन्तु) वाछि इच्छायाम्। कामयन्तु (त्वत्) त्वत्तः (राष्ट्रम्) राज्यम् (अधि) अधिकम्। कदापि (मा भ्रशत्) भ्रशु अधःपतने माङि लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः। मा नष्टं स्यात् ॥

२—(इह) अस्माकं मध्ये (एव) निश्चयेन (एधि) अस भुवि-लोट्। भव। सर्वदा वर्तस्व (मा अप च्योष्ठाः) च्युङ् गतौ–माङि लुङि च्लेःसिच्। न माङ्योगे। पा० ६। ४। ७४। इत्यडभावः। कदापि प्रच्युतो माभूः (पर्वतः)

होकर (तिष्ठ) ठहर, (उ) और (इह) यहां पर (राष्ट्रम्) राज्य को (धारय) अधिकार में रख ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण धार्मिक राजा का यथावत् सहाय करें जिससे वह प्रजापालन में ऐसा दृढ़ रहे, जैसे सूर्य अपनी कक्षा में स्थिर रह कर वृष्टि आदि से अनेक लोकों का पालन करता है ॥ २ ॥

इन्द्र॑ एतम॑दीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण॑ ह॒विषा॑ ।
तस्मै॒ सोमो॒ अधि॑ ब्रवद॒यं च॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिः॑ ॥३॥

इन्द्र॑ः । ए॒तम् । अ॒दी॒ध॒र॒त् । ध्रु॒वम् । ध्रु॒वेण॑ । ह॒विषा॑ । तस्मै॑ । सोम॑ः । अधि॑ । ब्र॒व॒त् । अ॒यम् । च॒ । ब्रह्म॑णः । पति॑ः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) परमेश्वर ने (ध्रुवेण) दृढ़ (हविषा) देने लेने योग्य शुभकर्म के साथ (एतम्) इस राजा को (ध्रुवम्) दृढ़ (अदीधरत्) स्थापित किया है । (अयम्) यही (सोमः) सब का उत्पन्न करने वाला (च) और (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्माण्ड और वेद का पालक परमेश्वर (तस्मै) उस राजा को (अधि) अधिक अधिक (ब्रवत्) उपदेश करे ॥३॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि परमेश्वर में श्रद्धा करके प्रजा पालन, विद्या आदि शुभकर्म करता हुआ सदा उन्नति करे ॥ ३ ॥

महीधरः (इव) यथा (अविचाचलत्) म० १ । दृढ़स्वभावः (इन्द्रः) सूर्यः (इव) (इह) अस्मिन् राज्ये (ध्रुवः) स्थिरः (तिष्ठ) वर्तस्व (इह) अस्मिन् लोके (राष्ट्रम्) राज्यम् (उ) चार्थे (धारय) स्वाधिकारे स्थापय ॥

३—(इन्द्रः) परमेश्वरः (एतम्) राजानम् (अदीधरत्) धारयते—लुङि चङि रूपम् । धारितवान् । स्थापितवान् (ध्रुवम्) स्थिरम् (ध्रुवेण) दृढेन (हविषा) दातव्यग्राह्यशुभकर्मणा (तस्मै) राज्ञे (सोमः) सर्वोत्पादकः (अधि) अधिकमधिकम् (ब्रवत्) ब्रूयात् । उपदिशेत् (च) (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्माण्डस्य वेदस्य च पालकः परमेश्वरः ॥

सूक्तम् ॥ ८८ ॥

१-३ ॥ राज्ञः स्तुतिर्देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ का उपदेश ॥

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृ॑थि॒वी ध्रु॒वं विश्व॑मि॒दं जग॑त् ।
ध्रु॒वास॒: पर्व॑ता इ॒मे ध्रु॒वो राजा॑ वि॒शाम॒यम् ॥१॥

ध्रुवा । द्यौः । ध्रु॒वा । पृ॒थि॒वी । ध्रु॒वम् । विश्व॑म् । इ॒दम् । जग॑त् ।
ध्रु॒वास॑: । पर्व॑ताः । इ॒मे । ध्रु॒वः । राजा॑ । वि॒शाम् । अ॒यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यौः) सूर्यलोक (ध्रुवा) दृढ़ है, (पृथिवी) पृथिवी (ध्रुवा) दृढ़ है, (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) जगत् (ध्रुवम्) दृढ़ है। (इमे) यह सब (पर्वताः) पहाड़ (ध्रुवासः) दृढ़ हैं, (विशाम्) प्रजाओं का (अयम्) यह (राजा) राजा (ध्रुवः) दृढ़स्वभाव है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य आदि पदार्थ अपने अपने कर्त्तव्य में दृढ़ हैं, ऐसे ही निश्चलस्वभाव धर्मात्मा पुरुष को प्रजा लोग अपना राजा चुनें ॥१॥

ध्रु॒वं ते॒ राजा॒ वरु॑णो ध्रु॒वं दे॒वो बृह॒स्पतिः ।
ध्रु॒वं त॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॑ रा॒ष्ट्रं धा॑रयतां ध्रु॒वम् ॥२॥

ध्रु॒वम् । ते॒ । राजा॑ । वरु॑णः । ध्रु॒वम् । दे॒वः । बृ॒ह॒स्पतिः । ध्रु॒वम् । ते॒ । इन्द्रः॑ । च॒ । अ॒ग्निः । च॒ । रा॒ष्ट्रम् । धा॒र॒य॒ता॒म् । ध्रु॒वम् ॥२॥

भाषार्थ—(राजा) सब का राजा (वरुणः) वरुण, सेवनीय परमेश्वर

१—(ध्रुवा) स्थिरा (द्यौः) अहर्नाम—निघ० १ । २ । द्यावौ द्योतनात्-निरु० २ । २० । प्रकाशमानः सूर्यलोकः (ध्रुवा) (पृथिवी) (ध्रुवम्) दृढम् (विश्वम्) सर्वम् (इदम्) दृश्यमानम् (जगत्) लोकः (ध्रुवासः) ध्रुवाः स्थिराः (पर्वताः) शैलाः (इमे) पुरोवर्त्तमानाः (ध्रुवः) निश्चलः । धार्मिकः (राजा) शासकः (विशाम्) प्रजानाम् (अयम्) परोवर्त्ती शूरः ॥

२—(ध्रुवम्) स्थिरम् । दृढम् (ते) तुभ्यम् (राजा) सर्वेश्वरः (वरुणः)

(ते) तेरे लिये (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राज्य को (ध्रुवम्) स्थिर, (देवः) प्रकाशमान (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों का पालन करने वाला परमात्मा (ध्रुवम्) स्थिर, (च) और (इन्द्रः) सम्पूर्ण ऐश्वर्यवाला जगदीश्वर (ध्रुवम्) स्थिर (च) और (अग्निः) सर्वव्यापक ईश्वर (ध्रुवम्) स्थिर (धारयताम्) रक्खे ॥२॥

भावार्थ—बली प्रतापी राजा परमात्मा की शासन शक्ति विचार कर प्रजा पालन में सदा कटिबद्ध रहे ॥२॥

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व। सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥३॥

ध्रुवः। अच्युतः। प्र। मृणीहि। शत्रून्। शत्रु-यतः। अधरान्। पादयस्व ॥ सर्वाः। दिशः। सम्-मनसः। सध्रीचीः। ध्रुवाय। ते। सम्-इतिः। कल्पताम्। इह ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्!] (ध्रुवः) दृढ़ और (अच्युतः) अचल होकर तू (शत्रून्) शत्रुओं को (प्र मृणीहि) नाश कर दे और (शत्रूयतः) शत्रु समान आचरण करने वाले (अधरान्) नीचों को (पादयस्व) अपने पैर से दबा दे। (इह) यहां पर (ध्रुवाय ते) तुझ निश्चल स्वभाव के लिये (सध्रीचीः) साथ

सेवनीयः परमेश्वरः (देवः) प्रकाशमानः (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां पालकः (ते) तव (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः (च) (अग्निः) सर्वव्यापक ईश्वरः (च) (राष्ट्रम्) राज्यम् (धारयताम्) धारयतु। रक्षतु ॥

३—(ध्रुवः) दृढः (अच्युतः) अचलः (प्र मृणीहि) मृञ् हिंसायाम् सर्वथा नाशय (शत्रून्) शातयितॄन्। अरीन् (शत्रूयतः) अ० ३। १। ३। शत्रु-क्यच् शत्रुवदाचरतः (अधरान्) नीचजनान् (पादयस्व) प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च। गणसूत्र सिद्धान्तकौमुद्यां चुरादिप्रकरणे। इति पाद-धात्वर्थे णिच्। स्वपादाभ्यां निक्षिप (सर्वाः) प्राच्यादयः (दिशः) दिशाः। तत्रस्थाः प्राणिन इत्यर्थः (संमनसः) समानमनस्काः (सध्रीचीः) अ० ३। ३०। ५। सह+अञ्चु गतौ—क्विन्, सहस्य सध्रि, ङीप् पूर्वसवर्णदीर्घश्च।

साथ रहने वाली (सर्वाः) सब (दिशः) दिशायें (संमनसः) एक मनवाली हों, और (समितिः) यह सभा (कल्पताम्) समर्थ होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—शूरवीर प्रतापी राजा सब विरोधी दुष्कर्मियों को नाश करके सब देशों की प्रजाओं को वश में रख कर अपनी राज सभा को प्रबल बनावे ॥३

सूक्तम् ८८ ॥

१-३ ॥ पुरुषार्थो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुपराजयोपदेशः—शत्रु का जीतने का उपदेश ॥

इदं यत् प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम् ।
ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि ॥ १ ॥

इदम् । यत् । प्रेण्यः । शिरः । दत्तम् । सोमेन । वृष्ण्यम् ।
ततः । परि । प्र-जातेन । हार्दिम् । ते । शोचयामसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रेण्यः=प्रेण्याः) तृप्त करने वाली ओषधि का (यत्) जो (इदम्) यह (शिरः) मस्तकबल और (सोमेन) सब के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर करके (दत्तम्) दिया हुआ (वृष्ण्यम्) जो वीरत्व है। (ततः) उस से (परि) सब प्रकार (प्रजातेन) उत्पन्न हुये [साहस] से (ते) तेरी (हार्दिम्) हार्दिक शक्ति को (शोचयामिसि) हम शोक में डालते हैं ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य सोमलता आदि उत्तम ओषधियों के सेवन से और परमेश्वर के दिये बल से शत्रुओं को पीड़ित करें ॥ १ ॥

सध्रीचयः । सहाञ्चनशीलाः । सहवर्तमानाः (ध्रुवाय) दृढ़स्वभावाय (ते) तुभ्यम् (समितिः) इयं राजसभा (कल्पताम्) समर्था भवतु (इह) अस्मिन् राज्ये ॥

१—(इदम्) शरीरस्थम् (यत्) (प्रेण्यः) वीज्याज्वरिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । इति प्रीङ् प्रीतौ, वा प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च-नि, वा ङीष् छान्दसो ह्रस्वः । प्रेण्याः । तर्पयित्र्याः सोमलताद्योषध्याः (शिरः) शिरोबलम् (दत्तम्) (सोमेन) सर्वोत्पादकेन परमेश्वरेण (वृष्ण्यम्) अ० ४। ४। ४। वीरत्वेन (ततः) तस्माद् बलात् (परि) सर्वतः (प्रजातेन) उत्पन्नेन साहसेन (हार्दिम्) बाह्वादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ९६ । इति हृद्—इञ् । हार्दिकां शक्तिम् (ते) तव हे शत्रो (शोचयामसि) शोचयामः सन्तापयामः ॥

शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः ।
वातं धूम इव सध्र्य१ङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥२॥

शोचयामसि । ते । हार्दिम् । शोचयामसि । ते । मनः । वातम् ।
धूमः-इव । सध्र्यङ् । माम् । एव । अनु । एतु । ते । मनः ॥२॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (ते) तेरी (हार्दिम्) हार्दिक शक्ति को (शोचयामसि) हम शोक में डालते हैं, (ते) तेरे (मनः) मन अर्थात् मनन सामर्थ्य को (शोचयामसि) हम शोक में डालते हैं। (ते) तेरा (मनः) मन (माम् एव अनु) मेरे ही पीछे पीछे (एतु) चले, (इव) जैसे (सध्र्यङ्) [वायु से] मिला हुआ (धूमः) धुआं (वातम्) वायु के [साथ साथ चलता है] ॥ २ ॥

भावार्थ—बलवान् मनुष्य शत्रु को उसके शरीर और आत्मा से व्याकुल करके सदा अपने वश में रक्खे ॥ २ ॥

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती ।
मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥३॥

मह्यम् । त्वा । मित्रावरुणौ । मह्यम् । देवी । सरस्वती । मह्यम् ।
त्वा । मध्यम् । भूम्याः । उभौ । अन्तौ । सम् । अस्यताम् ॥३॥

भाषार्थ—[हे शत्रु!] [मित्रावरुणौ) मेरे प्राण और अपान वायु (त्वा)

२—(मनः) सङ्कल्पविकल्पात्मकं मननसामर्थ्यम् (वातम्) वायुम् (धूमः) (इव) यथा (सध्र्यङ्) अ० ३। ३०। ५। सह अञ्चतीति. सहस्य सध्रि । वातेन सह गन्ता (माम्) पुरुषार्थिनम् (एव) अवश्यम् (अनु) अनुसृत्य (एतु) गच्छतु । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(मह्यम्) मदर्थम् (त्वा) त्वां शत्रुम् (मित्रावरुणौ) प्राणापानौ,

तुझको, और (देवी) दिव्यगुणवाली (सरस्वती) विज्ञानयुक्त विद्या (त्वा) तुझको (मह्यम्) मुझसे, और (भूम्याः) भूमिका (मध्यम्) मध्यस्थान और (उभौ) दोनों (अन्तौ) अन्त (त्वा) तुझको (मह्यम्) मुझसे (सम अस्यताम्) संयुक्त करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शारीरिक और आत्मिक बल और सांसारिक पदार्थों के अनुकूल बर्ताव से शत्रुओं को अपने वश में रक्खे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ९० ॥

१-३ ॥ रुद्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कर्मफलोपदेशः—कर्म के फल का उपदेश ॥

यां ते॑ रुद्र इषु॑मास्य॒दङ्गे॑भ्यो॒ हृद॑याय च ।

इ॒दं ताम॒द्य त्वद्व॒यं विषू॑चीं॒ वि वृ॑हामसि ॥ १ ॥

याम् । ते॒ । रु॒द्रः । इषु॑म् । आस्य॑त् । अङ्गे॑भ्यः । हृद॑याय । च॒ । इ॒दम् । ताम् । अ॒द्य । त्वत् । व॒यम् । विषू॑चीम् । वि । वृ॒हा॒म॒सि॒ ॥ १ ॥

भावार्थ—[हे मनुष्य !] (रुद्रः) पापियों के रुलाने वाले परमेश्वर ने (ते) तेरे (अङ्गेभ्यः) अंगों [शरीर] को पीड़ा देने (च) और (हृदयाय) हृदय [आत्मा] दुखाने के लिये (याम्) जिस (इषुम्) बरछी [पीड़ा] को

ममशारीरिकबलमित्यर्थः (मह्यम्) (देवी) दिव्यगुणा (सरस्वती) विज्ञानवती विद्या (मह्यम्) (त्वा) (मध्यम्) मध्यस्थितं प्राणिजातमित्यर्थः (भूम्याः) पृथिव्याः (उभौ) द्वौ (अन्तौ) ऊर्ध्वाधःप्रदेशौ (सम्अस्यताम्) असु क्षेपणे । संयोजयताम् ॥

१—(याम्) (ते) तव (रुद्रः) अ० १ । १९ । ३ । पापिनां रोदयिता (इषुम्) अ० १ । १३ । ४ । शक्तिनामायुधम् । पीड़ाम् (आस्यत्) असु क्षेपणे—लङ् । अक्षिपत् (अङ्गेभ्यः) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० २ । ३ । १४ । इत्यप्रयुज्यमानस्य धातोः कर्मणि चतुर्थी । अङ्गानि पीडयितुम्।

(आस्यत्) छोड़ा है। (इदम्) सो (अद्य) अब (विषूचीम्) नाना गति वाली (ताम्) उस [बरछी] को (वयम्) हम लोग (त्वत्) तुझ से (वि वृहामसि=०-मः) उखाड़ते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ--परमेश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से पापियों को शारीरिक और आत्मिक दुःख देता और सुकर्म करने पर उन्हें उस क्लेश से छुड़ाकर आनन्दित करता है ॥ १ ॥

यास्ते॑ श॒तं ध॒मन॒योऽङ्गा॒न्यनु॒ विष्ठि॑ताः ।

तासां॑ ते॒ सर्वा॑सां व॒यं निर्वि॒षाणि॑ ह्वयामसि ॥ २ ॥

याः । ते॒ । श॒तम् । ध॒मन॑यः । अङ्गा॑नि । अनु॑ । वि-स्थि॑ताः ।

तासा॑म् । ते॒ । सर्वा॑साम् । व॒यम् । निः । वि॒षाणि॑ । ह्व॒या॒म॒सि॒ ॥२॥

भाषार्थ—(याः) जो (शतम्) सौ [असंख्य] (धमनयः) नाड़ियां (ते) तेरे (अङ्गानि अनु) अंगों में (विष्ठिताः) फैली हुई हैं । (ते) तेरी (तासाम्) उन (सर्वासाम्) सब [नाड़ियों] के (विषाणि) विषों को (निः=निष्कृष्य) निकाल कर (वयम्) हम (ह्वयामसि=०—मः) पुकारते हैं ॥२॥

भावार्थ—जैसे वैद्य शरीर के भीतरी रोगों को समझ कर दूर करता है, वैसे ही विद्वान् आत्मदोषों को मिटावे ॥ २ ॥

(हृदयाय) हृदयं दुःखयितुम् (च) (इदम्) तत्प्रतीकारार्थम् (ताम्) इषुम् (अद्य) इदानीम् (त्वत्) त्वत्तः (वयम्) सुकर्मिणः (विषूचीम्) अ० १ । १९ । १ । विषु + अञ्चु गतिपूजनयोः-क्विन् । ङीप् । नानागतिम् (वि वृहामसि) वृहू उद्यमने । विवृहामः । उत्क्षिपामः ॥

२—(याः) (ते) तव (शतम्) बह्व्यः (धमनयः) नाड्यः, अङ्गानि) शरीरावयवान् (अनु) अनुसृत्य (विष्ठिताः) विविधं स्थिताः (तासाम्) (ते) तव (सर्वासाम्) धमनीनाम् (वयम्) (निः) निष्कृष्य (विषाणि) दुःखानि (ह्वयामसि) आह्वयामः ॥

नमस्ते रुद्रास्यते नमः प्रतिहितायै ।
नमो विसृज्यमानायै नमो निपतितायै ॥३॥
नमः । ते । रुद्र । अस्यते । नमः । प्रति-हितायै । नमः ।
वि-सृज्यमानायै । नमः । नि-पतितायै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रुद्र) हे पापियों के रुलाने वाले परमेश्वर ! (अस्यते) [बरछी या बाण] छोड़ने वाले (ते) तुझको (नमः) नमस्कार है, (प्रतिहितायै) तानी हुई [बरछी] को (नमः) नमस्कार है । (विसृज्यमानायै) छुटती हुई को (नमः) नमस्कार है, और (निपतितायै) लक्ष्य पर पड़ी हुई [बरछी] को (नमः) नमस्कार है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की विविध दण्ड व्यवस्था को विचार कर उसकी उपासना करके पापों से बचें ॥३॥

सूक्तम् ८१ ॥

१-३ ॥ आत्मादेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आत्मिकदोषनाशोपदेशः—आत्मिक दोष नाश करने का उपदेश ॥

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः ।
तेना ते तन्वो३ रपोऽपाचीनमप व्यये ॥ १ ॥
इमम् । यवम् । अष्टा-योगैः । षट्-योगेभिः । अचर्कृषुः ।
तेन । ते । तन्वः । रपः । अपाचीनम् । अप । व्यये ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इमम्) इस [सर्वव्यापी] (यवम्) संयोग वियोग करने

३—(नमः) सत्कारः (ते) तुभ्यम् (रुद्र) हे पापिनां रोदयितः परमेश्वर (अस्यते) इषुं क्षिपते (प्रतिहितायै) हननाय संहितायै त्वदीयेषवे (विसृज्यमानायै) प्रेर्यमाणायै (निपतितायै) लक्ष्ये अधः पतितायै ॥

१—(इमम्) दृश्यमानं सर्वव्यापिनम् (यवम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—

वाले परमेश्वर को (अष्टायोगैः) आठ प्रकार के [यम नियम आदि] योगों से और (षड्योगेभिः) छह प्रकार के [पढ़ना पढ़ाना आदि ब्राह्मणों के कर्मों से (अचर्कृषुः) उन [महात्माओं] ने कर्षण अर्थात् परिश्रम से प्राप्त किया है। (तेन) उसी [कर्म] से (ते) तेरे (तन्वः) शरीर के (रपः) पाप को (अपाचीनम्) विपरीत गति करके (अप व्यये) मैं हटाता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से महर्षियों ने योगसाधन और ब्राह्मण कर्म से ईश्वर को प्राप्त किया है, इसी प्रकार विद्वान् मनुष्य ईश्वर प्राप्ति से आत्मदोष त्यागकर आनन्दित होवें ॥१॥

आठ प्रकार के योगाङ्ग यह हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ योगदर्शने २। २६।

अर्थात् १—यम, २—निमय, ३—आसन, ४—प्राणायाम, ५—प्रत्याहार, अर्थात् जितेन्द्रियता, ६—धारणा, ७—ध्यान और ८—समाधि, यह आठ योग के अङ्ग हैं॥

ब्राह्मणों के छह कर्म यह हैं :—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनुः १। ८८।

१—पढ़ना, २—पढ़ाना, ३—यज्ञ करना, ४—यज्ञ कराना, ५—दान देना और ६—दान लेना, यह छह कर्म [प्रभु ने] ब्राह्मणों के बताये हैं॥

न्य१ग् वातो वाति न्यक् तपति सूर्यः ।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग् भवतु ते रपः ॥२॥

अप्। यवः, मिश्रणामिश्रणकर्ता—इति दयानन्दभाष्ये यजुः० ५। २६। संयोजक-वियोजकं परमात्मानम् (अष्टायोगैः) यमनियमाद्यष्टयोगाङ्गैः—योगदर्शने २। २६ (षड्योगेभिः) अध्यापनाध्ययनादिब्राह्मणषट्कर्मभिः—मनुस्मृत १। ८८ (अचर्कृषुः) कृष विलेखने स्वार्थे एयन्ताल्लुङि चङिरूपम्। कर्षणेन श्रमेण प्राप्तवन्तः (तेन) कर्षणकर्मणा (ते) तव (तन्वः) शरीरस्य (रपः) अ०। ४। १३। २। दोषम् (अपाचीनम्) विभाषाञ्चेतरदिक् स्त्रियाम्। पा० ५। ४। ८। इति अपाच्—स्वार्थे ख, खस्य ईनादेशः। अपगतम्। अपाङ्मुखम् (अप व्यये) व्यय गतौ वित्तसमुत्सर्गे च। अपगमयामि॥

न्यक् । वातः । वाति । न्यक् । तपति । सूर्यः । नीचीनम् ।
अघ्न्या । दुहे । न्यक् । भवतु । ते । रपः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वातः) वायु (न्यक्) नीचे की ओर (वाति) बहता है, (सूर्यः) सूर्य (न्यक्) नीचे की ओर (तपति) तपता है (अघ्न्या) न मारने योग्य गौ (नीचीनम्) नीचे को (दुहे=दुग्धे) दूध देती है, [हे मनुष्य !] (ते) तेरा (रपः) दोष (न्यक्) नीचे की ओर (भवतु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार वायु आदि पदार्थ निर्दोष होकर उपकार करते हैं; वैसे ही मनुष्य दोषों को त्याग कर उपकारी हों ॥ २ ॥

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

आपः । इत् । वै । ऊं इति । भेषजीः । आपः । अमीव-चातनीः
आपः । विश्वस्य । भेषजीः । ताः । ते । कृण्वन्तु । भेषजम् ॥३॥

भाषार्थ—(आपः) शुभकर्म वा जल (इत् वै उ) अवश्य ही (भेषजीः=०-ज्यः) भय निवारक हैं, (आपः) शुभकर्म वा जल (अमीवचातनीः=० -न्यः) पीड़ा नाशक हैं । (आपः) शुभ कर्म वा जल (विश्वस्य) सब के

२—(न्यक्) नि+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । निम्नम् (वातः) वायुः (वाति) गच्छति (न्यक्) (तपति) उपतापयति (सूर्यः) सरणशील आदित्यः (नीचीनम्) विभाषाञ्चेर० । पा० ५ । ४ । ८ । इति न्यच्—स्वार्थे ख, खस्य ईनादेशः (अघ्न्या) अहन्तव्या गौः—निघ० २ । ११ । (दुहे) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । दुग्धे दुग्धं ददाति (न्यक्) अधोमुखम् (भवतु) (ते) तव (रपः) पापम् ॥

३—(आपः) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च उ० २ । ५८ । इति आप्लृ व्याप्तौ—क्विप् अप्तृन्तृच्० । पा० ६ । ४ । ११ । इत्युपधादीर्घः । अपः कर्मनाम—निघ० २ । १ । आप्यन्ते प्राप्यन्ते सुखदुःखानि याभिस्ता आपः कर्माणि—इति महीधरभाष्ये यजु० ४० । ४ । वेदविहितकर्माणि (इत् वै उ) इति सर्वेऽवधारणे (भेषजीः) अ० ३ । ७ । ५ । भेषज्यः । भयनिवारिकाः (अमीवचातनीः—रोगाणां

(भेषजीः) भय निवारक हैं, (ताः) वे (ते) तेरा (भेषजम्) भय निवारण (कृण्वन्तु) करें॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदविहित कर्मों को करके अपने आत्मिक, और शारीरिक दोष मिटावें, और जल चिकित्सा करके शारीरिक रोगों की निवृत्ति करें॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० ३ । ७ । ५ ।

सूक्तम् ८२ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता, १ जगती २, ३ त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः । युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥ १ ॥

वात-रंहाः । भव । वाजिन् । युज्यमानः । इन्द्रस्य । याहि । प्र-सवे । मनः-जवाः । युञ्जन्तु । त्वा । मरुतः । विश्व-वेदसः । आ । ते । त्वष्टा । पत्-सु । जवम् । दधातु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वाजिन्) हे अन्न वा बलवाले राजन् ! (युज्यमानः) सावधान होकर (वातरंहाः) वायु के समान वेगवाला (भव) हो, और (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर की (प्रसवे) आज्ञा में (मनोजवाः) मन के समान गति वाला होकर (याहि) चल। (विश्ववेदसः)

नाशयित्र्यः (विश्वस्य) सर्वस्य (ताः) आपः (ते) तव (कृण्वन्तु) कुर्वन्तु (भेषजम्) रोगनिवर्तनम् ॥

१—(वातरंहाः) रमेश्च । उ० ४ । २१४ । इति रमु क्रीडायाम्-असुन् हुक् च । रंहो वेगः । वायुवद्वेगयुक्तः (भव) (वाजिन्) वाज-इनि । वाजोऽन्नम् —निघ० २ । ७ । बलम्—२ । ९ । अन्नवन् । बलवन् राजन् (युज्यमानः) समाहितः सन् (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो जगदीश्वरस्य (याहि) गच्छ (प्रसवे)

समस्त विद्याओं वा धनों वाले (मरुतः) दोषों के नाश करने वाले विद्वान् लोग (त्वा) तुझको (युञ्जन्तु) [राज कार्य में] युक्त करें, (त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी मनुष्य (ते) तेरे (पत्सु) पगों में (जवम्) वेग को (आ) अच्छे प्रकार (दधातु) धारण करे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर की वेदविहित आज्ञा में चलकर और नीतिज्ञ विद्वानोंसे मेल करके राज्य की रक्षा करे और यान विमान द्वारा अभीष्ट देशों में जाकर यथावत् कार्य सिद्ध करे ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से यजुर्वेद में हैं—अ० ९ म० ८, ९ ॥

जवस्ते अर्वन् निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत् परीत्तः । तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥२॥

जवः । ते । अर्वन् । नि-हितः । गुहा । यः । श्येने । वाते । उत । यः । अचरत् । परीत्तः । तेन । त्वम् । वाजिन् । बल-वान् । बलेन । आजिम् । जय । समने । पारयिष्णुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अर्वन्) हे विज्ञानयुक्त राजन् ! (यः) जो (जवः) वेग (ते) तेरे (गुहा=गुहायाम्) हृदय में (निहितः) धरा हुआ है और (यः) जो (परीत्तः) सब प्रकार दिया हुआ [वेग] (श्येने) श्येन अर्थात् बाज पक्षी

षू प्रेरणे-अप् । अनुज्ञायाम् (मनोजवाः) जु रंहसि-असुन् । मनोवद्वेगवान्- (युञ्जन्तु) राजकार्ये संयोजयन्तु (त्वा) त्वाम् (मरुतः) अ० १ । २० । १ । दोष—नाशकाः । विद्वांसः । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ (विश्ववेदसः) विद—असुन् सर्वज्ञाः । सर्वधनाः (आ) समन्तात् (ते) तव (त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । सूक्ष्मदर्शी मनुष्यः (पत्सु) पादेषु (जवम्) वेगम् (दधातु) स्थापयतु ॥

२—(जवः) वेगः (ते) तव (अर्वन्) अ० ४ । ६ । २ । ऋ गतिप्रापणयोः—वनिप् । हे शीघ्रगामिन् । विज्ञानिन् (निहितः) धाञ्—क्त । नितरां धृतः (गुहा) अ० १ । ८ । ४ । गुहायाम् । हृदये (यः) जवः (श्येने) अ० ३ । ३ । पक्षिविशेषे बाजे (वाते) वायौ (उत) अपि च (अचरत्) अवर्तत (परीत्तः)

में (उत) और (वाते) पवन में (अचरत्) विचरा है। (वाजिन्) हे वेगयुक्त राजन्! (त्वम्) तू (तेन) उस (बलेन) बल से (बलवान्) बलवान् और (समने) संग्राम में (पारयिष्णुः) पार लगाने वाला होकर (आजिम्) युद्ध को (जय) जीत॥ २॥

भावार्थ—विद्वान् राजा आत्मिक बल बढ़ाकर शत्रुओं को शीघ्र जीते॥२॥

तनूष्टे वाजिन् तन्वं१ नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम्। अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात्॥३॥

तनूः। ते। वाजिन्। तन्वम्। नयन्ती। वामम्। अस्मभ्यम्। धावतु। शर्म। तुभ्यम्। अह्रुतः। महः। धरुणाय। देवः। दिवि-इव। ज्योतिः। स्वम्। आ। मिमीयात्॥ ३॥

भाषार्थ—(वाजिन्) हे बलवान् राजन्! (ते) तेरा (तनूः) शरीर (तन्वम्) हमारे शरीर को (नयन्ती) ले चलता हुआ (अस्मभ्यम्) हमारे लिये और (तुभ्यम्) तेरे लिये (वामम्) सेवनीय धन और (शर्म) सुख (धावतु) शीघ्र पहुंचावे। (अह्रुतः) कुटिलता रहित (देवः) विजय चाहने

परि पूर्वाद् ददातेः—क्त। अच उपसर्गात्तः। पा० ७। ४। ४७। इति आकारस्य तकारः। झरो झरि सवर्णे। पा० ८। ४। ६५। इति तलोपः। द्स्ति। पा० ६। ३। १२४। इति इगन्तोपसर्गस्य दीर्घः। सर्वतो दत्तः (तेन) जवेन (त्वम्) (वाजिन्) हे वेगवन् (बलवान्) अतिबलयुक्तः (बलेन) पौरुषेण (आजिम्) अ० २। १४। ६। युद्धम् (जय) अभिभवय। उत्कर्षेण प्राप्नुहि (समने) अ० ६। ६। २। संग्रामे (पारयिष्णुः) अ० ५। २८। १४। पारप्रापकः॥

३—(तनूः) शरीरयष्टिः (ते) तव (वाजिन्) हे बलवन् राजन् (तन्वम्) अस्माकं शरीरम् (नयन्ती) प्रेरयन्ती (वामम्) अ० ४। २२। ४। वननीयं धनम् (अस्मभ्यम्) प्रजागणेभ्यः (धावतु) धाव जवे, अन्तर्गतण्यर्थः। शीघ्रं प्रापयतु (शर्म) सुखम् (तुभ्यम्) राज्ञे (अह्रुतः) ह्रु ह्वरेश्छन्दसि पा० ७। २। ३१। इति ह्वृ कौटिल्ये—क्त ह्रु आदेशः। अकुटिलः। छलरहितः (महः) अह-असुन्। महत् (धरुणाय) अ० ३। १२। ३। अस्माकं धारणाय (देवः)

वाले आप (धरुणाय) हमारे धारण के लिये (महः) बड़ी (स्वम्) अपनी (ज्योतिः) ज्योति (आ) भले प्रकार (मिमीयात्) निर्माण करें (दिवि इव) जैसे सूर्यमण्डल में [ज्योति] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि छल कपट छोड़ कर अनेक प्रकार के वैज्ञानिक शिल्प आदि व्यवहारों से अपने लिये और प्रजा के लिये धन और सुख बढ़ा कर अद्वितीय कीर्तिमान् हो ॥ ३ ॥

इति नवमोऽनुवाकः

अथ दशमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१-३ ॥ यमो विश्वे देवाश्च देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सत्सङ्गलाभोपदेशः—सत्सङ्ग के लाभ का उपदेश ॥

य॒मो मृ॒त्युर॑घमा॒रो नि॑ॠ॒थो ब॒भ्रुः श॒र्वो॑ऽस्ता नील॑शिखण्डः । दे॒व॒ज॒नाः सेन॑योत्तस्थि॒वांस॒स्ते अ॒स्माकं॒ परि॑ वृञ्जन्तु वी॒रान् ॥१॥

य॒मः । मृ॒त्युः । अ॒घ॒ऽमा॒रः । निः॒ऽऋ॒थः । ब॒भ्रुः । श॒र्वः । अ॒स्ता । नील॑ऽशिखण्डः । दे॒व॒ऽज॒नाः । सेन॑या । उ॒त्त॒स्थि॒ऽवांसः॑ । ते । अ॒स्माक॑म् । परि॑ । वृ॒ञ्ज॒न्तु॒ । वी॒रान् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यमः) न्यायकारी परमेश्वर [पापियों का] (अघमारः) पाप के कारण मारने वाला, (मृत्युः) प्राण छोड़ाने वाला, (निॠथः) निर-

---

विजिगीषुर्भवान् राजा (दिवि) सूर्ये वर्तमानम् (इव) यथा (ज्योतिः) तेजः (स्वम्) स्वकीयम् (मिमीयात्) माङ् माने शब्दे च, विधिलिङि छान्दसं परस्मैपदम् । मिमीत । निर्माणयेत् ॥

१—(यमः) नियन्ता परमेश्वरः (मृत्युः) पापिनां प्राणत्याजयिता (अघमारः) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति मृङ् प्राणत्यागे-

न्तर पीड़ा देने वाला और [धर्मात्माओं का] (बभ्रुः) पालन करने वाला, (शर्वः) कष्ट काटने वाला (अस्ता) ग्रहण करने वाला और (नीलशिखण्डः) निधियों वा निवासों का देने वाला है। (सेनया) अपनी सेना के साथ (उत्तस्थिवांसः) उठे हुये (ते) वे (देवजनाः) विजय चाहने वाले पुरुष (अस्माकम्) हमारे (वीरान्) वीर लोगों को [विघ्न से] (परि) सर्वथा (वृञ्जन्तु) छुड़ावें ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शूर वीर विद्वान् स्त्री पुरुष परमात्मा को शत्रुनाशक सुख वर्धक जान कर परोपकार करते हैं, वे ही कीर्ति पाते हैं ॥१॥

मन॑सा होमै॒र्हर॑सा घृ॒तेन॑ श॒र्वाया॒स्त्र उ॒त राज्ञे॑ भ॒वाय॑।
न॒म॒स्ये॑भ्यो॒ नम॑ एभ्यः कृणो॒म्यन्यत्रा॒स्मद॒घवि॑षा नयन्तु ॥२॥

मन॑सा। होमैः॑। हर॑सा। घृ॒तेन॑। श॒र्वाय॑। अस्त्रे॑। उ॒त। राज्ञे॑। भ॒वाय॑। न॒म॒स्ये॑भ्यः। नमः॑। ए॒भ्यः॒। कृ॒णो॒मि॒। अ॒न्यत्र॑। अ॒स्मत्। अ॒घ-वि॑षाः। न॒य॒न्तु॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मनसा) विज्ञान के साथ, (होमैः) देने और लेने योग्य व्यवहारों के साथ, (हरसा) अन्धकार हरने वाले (घृतेन) प्रकाश के साथ वर्तमान (शर्वाय) [धर्मात्माओं के] कष्टनाशक, (अस्त्रे) ग्रहण करने वाले

घ। पापेन मारयिता (निर्ऋथः) अवे भृञः। उ० २। ३। इति निर्+ऋ हिंसायाम्—क्थन्। निरन्तरपीडकः (बभ्रुः) कुर्भ्रश्च। उ० १। २२। इति भृञ् भरणे—कु, द्विर्भावश्च। भर्त्ता। पालयिता (शर्वः) अ० ४। २८। १। कष्टनाशकः (अस्ता) अस ग्रहणे—तृन्। ग्रहीता (नीलशिखण्डः) अ० २। २७। ६। नीलानां निधीनां वा नीडानां निवासानां प्रापकः (देवजनाः) विजिगीषवः पुरुषाः (सेनया) स्वस्वजनसंघेन (उत्तस्थिवांसः) उत्पूर्वात् तिष्ठतेर्लिटः—क्वसुः। उत्कर्षेण स्थिताः (ते) प्रसिद्धाः (अस्माकम्) धार्मिकाणाम् (परि) सर्वतः (वृञ्जन्तु) वृजी वर्जने। वर्जयन्तु विघ्नात् (वीरान्) पराक्रमिणः पुरुषान् ॥

२—(मनसा) मन ज्ञाने—असुन्। विज्ञानेन सह (होमैः) अ० ४। ३८। ५। हु दानादानयोः—मन्। दातव्यग्राह्यव्यवहारैः (हरसा) अन्धकार हारकेण (घृतेन) घृ भासे-क्त। प्रकाशेन (शर्वाय) अ० ४। २८। १। कष्ट-

(उत) और (भवाय) सुख देने वाले (राज्ञे) राजा परमेश्वर को, और (एभ्यः) इन (नमस्येभ्यः) नमस्कार योग्य महात्माओं को (नमः) विनति (कृणोमि) करता हूं । वे सब (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) दूसरों पर [दुष्कर्मियों पर] (अघविषाः) पाप रूप विषवाली पीड़ाओं को (नयन्तु) ले जावें ॥ २ ॥

भावार्थ —मनुष्य परमेश्वर के और विद्वानों के वेदविहित उपदेशों को मान कर दुराचारों को छोड़ कर धार्मिक होकर आनन्दित होवें ॥२॥

त्राय॑ध्वं नो अ॒घवि॑षाभ्यो व॒धाद् विश्वे॑ देवा मरुतो विश्ववेदसः । अ॒ग्नीषोमा॒ वरु॑णः पू॒तद॑क्षा वाता॑पर्ज॒न्ययोः॑ सुम॒तौ स्या॑म ॥३॥

त्राय॑ध्वम् । नः॒ । अ॒घ विषाभ्यः । व॒धात् । विश्वे॑ । दे॒वाः॒ । मरु॒तः । वि॒श्व॒-वे॒द॒सः॒ । अ॒ग्नीषोमौ॑ । वरु॑णः । पू॒त-द॑क्षाः । वा॒ता॒प॒र्ज॒न्ययोः॑ । सु॒-म॒तौ । स्या॒म॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) हे सब (देवाः) दिव्यगुणवाले (विश्ववेदसः) संसार के जानने वाले (मरुतः) दोषनाशक विद्वान् पुरुषो ! (नः) हमें (अघविषाभ्यः) पापरूप विषवाली पीड़ाओं के (वधात्) हनन से (त्रायध्वम्) बचाओ । (अग्नीषोमा) अग्नि और चन्द्रलोक और (वरुणः) सूर्यलोक

नाशकाय (अस्त्रे) म० १ । ग्रहीत्रे (उत) अपि च (राज्ञे) शासकाय (भवाय) अ० ४ । २८ । १ । सुखोत्पादकाय परमेश्वराय (नमस्येभ्यः) नमस्कारार्हेभ्यो विद्वद्भ्यः (नमः) विनतिम् (एभ्यः) (कृणोमि) करोमि (अन्यत्र) अन्येषु दुष्कर्मिषु (अस्मत्) धार्मिकेभ्यः (अघविषाः) अघं पापमेव विषं विषवन्मृतिकरं यासु ताः पीडाः (नयन्तु) प्रापयन्तु ॥

३—(त्रायध्वम्) पालयत (नः) अस्मान् धार्मिकान् (अघविषाभ्यः) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३६ । इति षष्ठ्याः पञ्चमी । पापरूपविषयुक्तानां पीडानाम् (वधात्) हननात् (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणयुक्ताः (मरुतः) अ० १ । २० । १ । हे दोषनाशका विद्वांसः (विश्ववेदसः) विश्वस्य

(पूतदक्षाः) पवित्र बलवाले हैं, [उनको और] (वातापर्जन्ययोः) वायु और मेघ की (सुमतौ) श्रेष्ठ बुद्धि में (स्याम) हम रहें ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य आप्त विद्वानों के उपदेश और अग्नि, चन्द्र, सूर्य आदि पदार्थों से यथावत् उपकार करके सुखी होवें ॥३॥

सूक्तम् ८४ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, ३ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

शान्तिकरणोपदेशः—शान्ति करने के लिये उपदेश ॥

सं वो॒ मनां॑सि॒ सं व्र॒ता समाकू॑तीर्नमामसि ।

अ॒मी ये विव्र॑ता॒ स्थन॒ तान् वः॒ सं न॑मयामसि ॥ १ ॥

सम् । वः॒ । मनां॑सि । सम् । व्र॒ता । सम् । आ-कू॑तीः । न॒मा॒म॒सि॒ । अ॒मी इति॑ । ये । वि-व्र॑ताः । स्थन॑ । तान् । वः॒ । सम् । न॒म॒या॒म॒सि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे (मनांसि) मनों को (सम्) ठीक रीति से, (व्रता=व्रतानि) कर्मों को (सम्) ठीक रीति से (आकूतीः) संकल्प को (सम्) ठीक रीति से (नमामसि=०-मः) हम झुकते हैं । (अमी ये) यह जो तुम (विव्रताः) विरुद्धकर्मी (स्थन) हो, (तान् वः) उन तुमको (सम्) ठीक रीति से (नमयामसि=०-मः) हम झुकाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष सब के उत्तम विचारों, उत्तम कर्मों और उत्तम मनोरथों को माने और धर्मपथ में विरुद्ध मतवालों को भी सहमत कर लेवे ॥ १ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ३ । ८ । ५ ॥

जगतो वेत्तारः (अग्नीषोमा) अ० १ । ८ । २ । अग्निश्च चन्द्रश्च तौ (वरुणः) वरणीयः सूर्यः (पूतदक्षाः) दक्ष वृद्धौ गतौ च—अच् । दक्षो बलम्—निघ० २ । ९ । पवित्रबलाः (वातापर्जन्ययोः) देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति पूर्वपदस्यानङ् । वायुमेघयोः (सुमतौ) श्रेष्ठायां बुद्धौ (स्याम) ॥

१—पूर्ववद् व्याख्येयः—अ० ३ । ८ । ५ ।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत। मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥२॥

अहम्। गृभ्णामि। मनसा। मनांसि। मम। चित्तम्। अनु। चित्तेभिः। आ। इत। मम। वशेषु। हृदयानि। वः। कृणोमि। मम। यातम्। अनु-वर्त्मानः। आ। इत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (मनसा) अपने मन से (मनांसि) तुम्हारे मनों को (गृभ्णामि=गृह्णामि) थामता हूं, (मम) मेरे (चित्तम् अनु) चित्त के पीछे पीछे (चित्तेभिः=चित्तैः) अपने चित्तों से (आ इत) आओ। (मम वशेषु) अपने वश में (वः हृदयानि) तुम्हारे हृदयों को (कृणोमि) मैं करता हूं, (मम यातम्) मेरी चाल पर (अनुवर्त्मानः) मार्ग चलते हुये (आ इत) यहां आओ ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष अपने शुभ विचार और साहस से सब सभासदों और प्रजागणों को धर्मपथ पर चलाकर परस्पर मेल के साथ साहसी और उत्साही बनावे ॥ २ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ३। ८। ६ ॥

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती। ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्चर्ध्यास्मेदं सरस्वति ॥३॥

ओते इत्या-उते। मे। द्यावापृथिवी इति। आ-उता। देवी। सरस्वती। आ-उतौ। मे। इन्द्रः। च। अग्निः। च। ऋध्यास्म। इदम्। सरस्वति ॥३॥

भाषार्थ—(मे) मेरे लिये (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूलोक (ओते) बुने हुये हैं, (देवी) दिव्य गुण वाली (सरस्वती) विज्ञानवती विद्या (ओता)

२—पूर्ववद् व्याख्येयः—अ० ३। ८। ६ ॥

३—(ओते) आ+वेञ् तन्तुसन्ताने—क। परस्परं स्यूते। अन्तर्व्याप्ते

परस्पर बुनी हुई है। (च) और (मे) मेरे लिये (इन्द्रः) मेघ (च) और (अग्निः) अग्नि (ओतौ) परस्पर बुने हुये हैं। (सरस्वति) हे विज्ञानवती विद्या ! (इदम्) अब (ऋध्यास्म) हम श्रीमान् होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विज्ञान पूर्वक विद्या प्राप्त करके संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर धनी होवें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० ५। २३। १॥

सूक्तम् ८५ ॥

१-३॥ कुष्ठो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

अ॒श्व॒त्थो दे॑व॒सद॑नस्तृ॒तीय॑स्यामि॒तो दि॒वि ।
तत्रा॒मृत॑स्य॒ चक्ष॑णं दे॒वाः कुष्ठ॑मवन्वत ॥ १ ॥

अ॒श्व॒त्थः । दे॒व॒-सद॑नः । तृ॒तीय॑स्याम् । इ॒तः । दि॒वि । तत्र॑ । अ॒मृत॑स्य । चक्ष॑णम् । दे॒वाः । कुष्ठ॑म् । अ॒व॒न्व॒त ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवसदनः) विद्वानों के बैठने योग्य (अश्वत्थः) वीरों के ठहरने का देश [अधिकार] (तृतीयस्याम्) तीसरी [निकृष्ट और मध्यम अवस्था से परे, श्रेष्ठ] (दिवि) गति में (इतः) प्राप्त होता है। (तत्र) उसमें (अमृतस्य) अमृत [पूर्ण सुख] के (चक्षणम्) दर्शन (कुष्ठम्) गुण परीक्षक पुरुष को (देवाः) महात्माओं ने (अवन्वत) मांगा है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग इस ईश्वर नियम को निश्चय करके मानते हैं कि अति विद्वान् पुरुषार्थी मनुष्य उच्च अधिकार के योग्य होता है ॥१॥

(अश्वत्थः) पीपल के वृक्ष को भी कहते हैं, इसका गुण—अ० ३। ६। १। में वर्णन हो चुका है। (कुष्ठ) कूट ओषधि विशेष भी है देखो—अ० ५। ४। १॥

(सरस्वती) विज्ञानवती विद्या (इन्द्रः) मेघः (ऋध्यास्म) ऋधु वृद्धौ। श्रीमन्तो भूयास्म। अन्यद् गतम्—अ० ५। २३। १॥

१—(अश्वत्थः) अ० ३। ६। १ अश्व+ष्ठा गतिनिवृत्तौ—क, पृषोदरादिरूपम्। अश्वानां कर्मसु व्यापनशीलानां वीराणां स्थितिदेशः। (तृतीयस्याम्) निकृष्टमध्यमाभ्यां परायां श्रेष्ठायाम् (दिवि) गतौ (कुष्ठम्) अ० ५। ४। १। कुष निष्कर्षे—क्थन्। गुणपरीक्षकम् (अवन्वत) याचितवन्तः। अन्यद् गतम्—अ० ५। ४। ३॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ २ ॥

हिरण्ययी । नौः । अचरत् । हिरण्य-बन्धना । दिवि । तत्र । अमृतस्य । पुष्पम् । देवाः । कुष्ठम् । अवन्वत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हिरण्ययी) तेज वाली [अग्नि वा बिजुली वा सूर्य से चलने वाली] (हिरण्यबन्धना) तेजोमय बन्धन वाली (नौः) नाव (दिवि) चलने के व्यवहार में (अचरत्) चलती थी । (तत्र) वहां पर (अमृतस्य) अमृत के (पुष्पम्) विकाश, (कुष्ठम्) गुण परीक्षक पुरुष को (देवाः) विद्वान् लोगों ने (अवन्वत) मांगा है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग तीक्ष्णबुद्धि मनुष्य द्वारा, अग्नि, बिजुली और सूर्य विद्या से, अग्निपोत, पुष्पक विमान आदि यान बना कर आनन्द पाते हैं ॥२॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ५ । ४ । ४ ॥

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो हिमवतामुत ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

गर्भः । असि । ओषधीनाम् । गर्भः । हिम-वताम् । उत । गर्भः । विश्वस्य । भूतस्य । इमम् । मे । अगदम् । कृधि ॥३॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (ओषधीनाम्) ताप रखने वाले [सूर्य आदि] लोकों का (गर्भः) स्तुति योग्य आधार (उत) और (हिमवताम्) शीतस्पर्शवालों [जल मेघ आदि] का (गर्भः) ग्रहण करने वाला और

२—(हिरण्ययी) तेजोमयी अग्निना विद्युता सूर्येण वा गन्त्री (दिवि) गमने ॥ अन्यद् यथा—अ० ५ । ४ । ४ ॥

३—(गर्भः) अ० ३ । १० । १२ । गरणीयः । स्तुत्यः । ग्रहीता । आधारः (ओषधीनाम्) अ० १ । २३ । १ । ओष+डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि । ओषस्य तापस्य धारकाणां सूर्यादिलोकानाम् (हिमवताम्) शीतस्पर्शवतां

(विश्वस्य) सब (भूतस्य) प्राणिसमूह का (गर्भः) आधार (असि) है। (मे) मेरे लिये (इमम्) इस [संसार] को (अगदम्) नीरोग (कृधि) तू कर ॥३॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के उत्पन्न पदार्थों का गुण जान कर प्रयोग करते हैं, वे संसार में सुख भोगते हैं ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० २५। ५। ७॥

सूक्तम् ९६ ॥

१-३ ॥ १, २ ओषधयः; ३ सोमो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिपाद् विराड्गायत्री ॥

ओषधिगुणोपदेशः—ओषधियों के गुणों का उपदेश ॥

या ओषधयुः सोमराज्ञीर्बुह्वीः शुतविचक्षणाः ।
बृहुस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चुन्त्वंहसः ॥ १ ॥

याः । ओषधयः । सोम-राज्ञीः । बुह्वीः । शुत-विचक्षणाः ।
बृहुस्पति-प्रसूताः । ताः । नुः । मुञ्चुन्तु । अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(सोमराज्ञीः) बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर वा चन्द्रमा वा सोमलता को राजा रखने वाली, (शतविचक्षणाः) सैकड़ों कथनीय और दर्शनीय शुभ गुणों वाली और (बृहस्पतिप्रसूताः) बृहस्पतियों, बड़े विद्वानों द्वारा काम में लायी गयीं, (बह्वीः) बहुत सी (याः) जो (ओषधयः) ताप

जलमेघादीनाम् (उत) अपि च (भूतस्य) प्राणिजातस्य (इमम्) दृश्यमानं संसारम् (अगदम्) अ० ४। १७। ८। नीरोगम् (कृधि) कुरु। अन्यद् गतम्—अ० ५। २५। ७॥

१—(याः) (ओषधयः) अ० १। २३। १। ओष+धेट् पाने—कि। ओषस्य तापस्य पिबन्त्यो नाशयित्र्यः (सोमराज्ञीः) सर्वैश्वर्ययुक्तः परमेश्वरश्चन्द्रः सोमो वा राजा शासको यासां ताः (बह्वीः) बह्व्यः। अनेकविधाः (शतविचक्षणाः) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च—ल्यु। बहुकथनीया दर्शनीयशुभगुणाः

नाश करने वाली ओषधि हैं, (ताः) वे (नः) हमको (अंहसः) रोग से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर रचित ओषधियों का यथावत् परीक्षण पूर्वक सेवन करके स्वस्थ रह कर आनन्द पावें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । ९७ । १८, १५ और यजु० १२ । ९२, ८९ ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात्॥२

मुञ्चन्तु । मा । शपथ्यात् । अथो इति । वरुण्यात् । उत ।
अथो इति । यमस्य । पड्वीशात् । विश्वस्मात् । देव-किल्बिषात्

भावार्थ—वे [ओषधे] (मा) मुझको (शपथ्यात्) शपथसम्बन्धी (अथो) और (वरुण्यात्) श्रेष्ठों में हुये [अपराध] से (अथो) और (यमस्य) न्यायकारी राजा के (पड्वीशात्) बेड़ी डालने से (उत) और (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) इन्द्रियों के दोष से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रमादकारक द्रव्यों को छोड़ कर सात्विक भोजन करें। जिससे साधु स्वभाव रहकर सौगन्द, श्रेष्ठों के अपराध, राजा के बन्धन और इन्द्रियों के विकार से पृथक् रहें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से है—ऋग्० १० । ९७ । १५, यजु० १२ । ९० ॥

(बृहस्पतिप्रसूताः) विद्वद्भिः प्रेरिता विनियुक्ताः (ताः) ओषधयः (नः) अस्मान् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (अंहसः) रोगात् ॥ १ ॥

२—(मुञ्चन्तु) विसृजन्तु (मा) माम् (शपथ्यात्) शपथे भवात् (अथो) अपि च (वरुण्यात्) वरुणेषु वरेषु भवादपराधात् (उत) अपि (अथो) (यमस्य) न्यायिनो राज्ञः (पड्वीशात्) सर्त्तेरट्टिः । उ० १ । १३४ । इति पश बन्धने—अट्टि, स च डित्+विश प्रवेशे—क, छान्दसो दीर्घः । पड्भिः पदनाम—निघ० ४ । २ । पड्भिः पानैरिति वा स्पाशनैरिति वा स्पर्शनैरिति वा—निरु० ५ । ३ । पाशप्रवेशात् (विश्वस्मात्) सर्वस्मात् (देवकिल्बिषात्) किल्बिषम्—अ० ५ । १६ । ५ । इन्द्रियाणां दोषात् ॥

यच्चक्षु॑षा मन॑सा यच्च॑ वा॒चोपा॑रि॒म जाग्र॑तो॒ यत् स्व॒पन्तः॑ । सोम॒स्तानि॑ स्व॒धया॑ नः पुनातु ॥ ३ ॥

यत् । चक्षु॑षा । मन॑सा । यत् । च॒ । वा॒चा । उ॒प॒-आ॒रि॒म । जाग्र॑तः । यत् । स्व॒पन्तः॑ । सोमः॑ । तानि॑ । स्व॒धया॑ । नः॒ । पु॒ना॒तु॒ ॥३॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ पाप (चक्षुसा) नेत्र से (च) और (यत्) जो कुछ (मनसा) मन से और (यत्) जो कुछ (वाचा) वाणी से (जाग्रतः) जागते हुये [अथवा] (स्वपन्तः) सोते हुये (उपारिम) हमने किया है। (सोमः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (नः) हमारे (तानि) उन पापों को (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (पुनातु) शुद्ध करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के विचार और युक्त आहार विहार से सोते जागते सदा धर्म का विचार और अनुष्ठान करते रहें ॥३॥

सूक्तम् ॥ ८७ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

अ॒भि॒भूर्य॒ज्ञो अ॑भि॒भूर॒ग्निर॑भि॒भूः सोमो॑ अभि॒भूरिन्द्रः॑ । अ॒भ्य॒१॒॑हं विश्वाः॒ पृत॑ना॒ यथासा॑न्ये॒वा वि॑धेमा॒ग्निहो॑त्रा इ॒दं ह॒विः ॥ १ ॥

अ॒भि॒-भूः । य॒ज्ञः । अ॒भि॒-भूः । अ॒ग्निः । अ॒भि॒-भूः । सोमः॑ ।

३—(यत्) पापम् । किल्बिषम् । मन्त्र २ (चक्षुषा) नेत्रेण (मनसा) मननसाधकेन चित्तेन (वाचा) वाण्या (उपारिम) अ० ६ । ४५ । २ । कृतवन्तः (जाग्रतः) जागृ निद्राक्षये—शतृ । जक्षित्यादयः षट् । पा० ६ । १ । ६ । इत्यभ्यस्तत्वात् । नाभ्यस्ताच्छतुः । पा० ७ । १ । ७८ । इति नुमभावः । जागरदवस्थापन्नाः (स्वपन्तः) निद्रालवः (सोमः) सर्वैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (तानि) किल्बिषाणि (स्वधया) अ० २ । २९ । ७ । स्व+डुधाञ् धारणपोषणयोः—क, टाप् । आत्मधारणशक्त्या (नः) अस्माकम् (पुनातु) शोधयतु ॥

अभि-भूः । इन्द्रः । अभि । अहम् । विश्वाः । पृतनाः । यथा । असानि । एव । विधेम । अग्नि-होत्राः । इदम् । हविः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (अहम्) मैं (अभिभूः) दुष्टों का तिरस्कार करने वाला (यज्ञः) पूजनीय, (अभिभूः) शत्रुओं का जीतने वाला (अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी, (अभिभूः) वैरियों को वश में करने वाला (सोमः) चन्द्र समान सुख देने वाला और (अभिभूः) दुराचारियों को हराने वाला (इन्द्रः) महा प्रतापी होकर (विश्वाः) सब (पृतनाः) शत्रु सेनाओं को (अभि असानि) हरा दूं । (एव) वैसे ही (अग्निहोत्राः) अग्नि [परमेश्वर, सूर्य, बिजुली और आग की विद्या] के लिये वाणी वाले हम लोग (इदम्) यह (हविः) देने लेने योग्य कर्म (विधेम) करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल बढ़ाकर शत्रुओं का नाश करके अपनी उन्नति करें ॥१॥

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम् । बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥२॥

स्वधा । अस्तु । मित्रावरुणा । विपः-चिता । प्रजा-वत् । क्षत्रम् । मधुना । इह । पिन्वतम् । बाधेथाम् । दूरम् । निः-

१—(अभिभूः) दुष्टानां तिरस्कर्त्ता (यज्ञः) पूजनीयः (अभिभूः) शत्रुजेता (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी (अभिभूः) वैरिणां वशयिता (सोमः) चन्द्रवदाह्लादकः (अभिभूः) दुराचारिणामभिभावयिता (इन्द्रः) महाप्रतापी (अहम्) जयकामः (विश्वाः) सर्वाः (पृतनाः) अ० ३ । २१ । ३ शात्रवीः सेनाः (यथा) येन प्रकारेण (अभि असानि) अभिभवानि (एव) एवम् (विधेम) विध विधाने । कुर्याम (अग्निहोत्राः) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । इति हु दानादानादनेषु—त्रन्, टाप् । होत्रा वाक्—निघ० १ । ११ । अग्नये परमेश्वरस्य सूर्यविद्युत्पावकस्य वा बोधाय होत्रा वाणी येषां ते तथाभूताः (इदम्) अनुष्ठीयमानम् (हविः) दातव्यग्राह्यकर्म ॥

ऋ॑तिम् । परा॒चैः । कृ॒तम् । चि॒त् । एनः॑ । प्र । मु॒मु॒क्त॒म् । अ॒स्मत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विपश्चिता) हे बड़े बुद्धिमान् (मित्रावरुणा) प्राण और अपान के समान प्रिय माता पिता ! [हम में] (स्वधा) आत्म धारण शक्ति (अस्तु) होवे, (प्रजावत्) उत्तम प्रजाओं से युक्त (क्षत्रम्) राज्य को (मधुना) मधुविद्या से [ईश्वर ज्ञान से] (इह) यहां पर (पिन्वतम्) सींचो। (निर्ऋतिम्) अलक्ष्मी को (पराचैः) अधोमुख करके (दूरम्) दूर (बाधेथाम्) हटाओ और [इसके] (कृतम्) किये हुये (एनः) दुःख को (चित्) भी (अस्मत्) हम से (प्र) अच्छे प्रकार (मुमुक्तम्) छुड़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सन्तान माता पिता से उत्तम शिक्षा पाकर सुख भोगते हैं, इसी प्रकार मनुष्य उत्तम ज्ञानियों के सत्संग से क्लेशों का नाश करके सुखी होवें ॥ २ ॥

इ॒मं वी॒रमनु॑ हर्षध्वमु॒ग्रमिन्द्रं॑ सखायो॒ अनु॒ सं र॑भध्वम् ।
ग्रा॒म॒जितं॑ गो॒जितं॒ वज्र॑बाहुं॒ जय॑न्त॒मज्म॑ प्रमृ॒णन्त॒मोज॑सा ॥३॥

इ॒मम् । वी॒रम् । अनु॑ । ह॒र्ष॒ध्व॒म् । उ॒ग्रम् । इन्द्र॑म् । स॒खा॒यः॒ । अनु॑ । सम् । र॒भ॒ध्व॒म् । ग्रा॒म॒-जित॑म् । गो॒-जित॑म् । वज्र॑-बा॒हु॒म् । जय॑न्तम् । अज्म॑ । प्र-मृ॒णन्त॑म् । ओज॑सा ॥ ३ ॥

२—(स्वधा) अ० ६ । ६६ । ३ । आत्मधारणशक्तिः (अस्तु)भवतु (मित्रावरुणा) प्राणापानवत् प्रियमातापितरौ (विपश्चिता) अ० ६ । ५२ । ३ । मेधाविनौ (प्रजावत्) उत्तमप्रजायुक्तम् (क्षत्रम्) राज्यम् (मधुना) मधुविद्यया । ईश्वरज्ञानेन (इह) अत्र लोके (पिन्वतम्) पिवि सेचने, इदित्वान्नुम । सिञ्चतम् । प्रवर्धयतम् (बाधेथाम्) निवर्त्तयतम् (दूरम्) (निर्ऋतिम्) अ० १ । ३१ । २ । अलक्ष्मीम् कृच्छ्रापत्तिम्—निरु० २ । ७ (पराचैः) अ० २ । १० । ५ । पराङ्मुखीं कृत्वा (कृतम्) निर्ऋत्या निष्पादितम् (चित्) अपि (एनः) दुःखम् (प्र) प्रकर्षेण (मुमुक्तम्) छान्दसः श्लुः । मोचयतम् (अस्मत्) धार्मिकेभ्यः सकाशात् ॥

भाषार्थ—(सखायः) हे परस्पर सहायक मित्रो! (इमम्) इस (वीरम् अनु) वीर सेनापति के साथ (हर्षध्वम्) हर्ष करो, (ओजसा) अपने शरीर, बुद्धि और सेना बल से (ग्रामजितम्) शत्रुओं के समूह को जीतने वाले, (गोजितम्) उनकी भूमि को जीतने वाले, (वज्रबाहुम्) अपनी भुजाओं में शस्त्र रखने वाले, (अज्म) संग्राम को (जयन्तम्) विजय करने वाले (प्रमृणन्तम्) वैरियों को मार डालने वाले (उग्रम्) तेजस्वी; (इन्द्रम् अनु) महा प्रतापी सेनाध्यक्ष के साथ होकर (सम्) अच्छे प्रकार (रभध्वम्) युद्ध आरम्भ करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—सेनापति और सैनिक लोग परस्पर सहायक होकर शत्रुओं का राज्य आदि पाकर प्रजापालन करके सदा सुखी रहें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, राजप्रजा धर्म विषय में पृष्ठ २२४ पर व्याख्यात है, और कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७ म० ३८ ॥

सूक्तम् ॥ ९८ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पङ्क्तिः ॥ २ बृहती ॥ ३ विराट् ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिरा॒जो राज॑सु राजयातै ।
च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॒ नम॒स्यो॒ भवे॒ह ॥१॥

इन्द्रः॑ । जया॒ति॒ । न । परा॑ । जया॒तै॒ । अ॒धि॒-रा॒जः । राज॑-सु । रा॒ज॒या॒तै॒ । च॒र्कृत्यः॑ । ईड्यः॑ । वन्द्यः॑ । च॒ । उ॒प॒-सद्यः॑ ।

३—(इमम्) (वीरम्) शूरं सेनापतिम् (अनु) अनुसृत्य (हर्षध्वम्) हर्षं प्राप्नुत (उग्रम्) तेजस्विनम् (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं सेनाध्यक्षम् (अनु) अनुगत्य (सम्) सम्यक् (रभध्वम्) युद्धारम्भं कुरुत (ग्रामजितम्) जि-क्विप् । शत्रुसमूहजेतारम् (गोजितम्) शत्रुभूमिविजयिनम् (वज्रबाहुम्) वज्राः शस्त्राणि बाह्वोर्यस्य तं (जयन्तम्) तॄभूवहिवसि० । उ० ३ । १२८ । जि जये—झच् । विजयिनम् (अज्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । अज गतिक्षेपणयोः मनिन् । संग्रामम्—निघ० २ । १७ (प्रमृणन्तम्) प्रकर्षेण शत्रुं मारयन्तम् (ओजसा) स्वस्य शरीरबुद्धिसेनाबलेन ॥

नुमुस्य॑: । भुव । इुह ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाला परमात्मा [हमें] (जयाति) विजय करावे, और (न पराजयातै) कभी न हरावे, (अधिराजः) महाराजाधिराज जगदीश्वर [हमें] (राजयातै) राजा बनाये रक्खे। [हे महाराजेश्वर !] (चर्कृत्यः) अत्यन्त करने योग्य कर्मों में चतुर, (ईड्यः) प्रशंसनीय, (वन्द्यः) वन्दना योग्य, (उपसद्यः) शरण लेने योग्य (च) और (नमस्यः) नमस्कार योग्य तू (इह) यहां [हमारे बीच] (भव) वर्तमान हो ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य राजा और प्रजा एक सर्वनियन्ता सर्वाधीश परमपिता जगदीश्वर को महाराजाधिराज जान कर धर्म से परस्पर पालन में प्रवृत्त रहें ॥१॥

मन्त्र १, २, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, राजप्रजाधर्म विषय, पृष्ठ २२१ में व्याख्यात है ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥२॥

त्वम् । इन्द्र । अधि-राजः । श्रवस्युः । त्वम् । भूः । अभि-भूतिः । जनानाम् । त्वम् । दैवीः । विशः । इमाः । वि । राज । आयुष्मत् । क्षत्रम् । अजरम् । ते । अस्तु ॥ २ ॥

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (जयाति) लेटि रूपं णिजर्थः । विजापयेत् स्वसेवकान् (न परा जयातै) मा पराजयं प्रापयेत् (अधिराजः) राजाहःसखिभ्यष्टच् । पा० । ५ । ४ । ९१ । इति राजशब्दात्—टच्, टेर्लोपश्च । सर्वेषां राज्ञामधिपतिः (राजसु) चक्रवर्तिराजसु माण्डलिकेषु च (राजयातै) णिचि लेटि रूपम् । राजयेत् । राज्ञः कुर्यात् (चर्कृत्यः) यङ्लुगन्तात्करोतेः—क्त, ततः साध्वर्थे यत् । चर्कृतेषु, अतिशयेन कर्तव्येषु कर्मसु साधुः कुशलः (ईड्यः) स्तुत्यः (वन्द्यः) वन्दनीयः (उपसद्यः) उपसदनीयः शरणयोग्यः (नमस्यः) नमस्करणीयः । माननीयः (भव) वर्तस्व (इह) अत्र । अस्मासु ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (त्वम्) तू (श्रवस्युः) सब की सुनने वाला (अधिराजः) राजराजेश्वर, (त्वम्) तू ही (जनानाम् अभिभूतिः) अपने भक्तों का सब प्रकार ऐश्वर्यदाता [यद्वा, पामर जनों का तिरस्कार करने वाला] (भूः=अभूः) हुआ है। (त्वम्) तू (इमाः) इन (दैवीः) दिव्य गुणवाली (विशः) प्रजाओं पर (वि) विविध प्रकार से (राज) राज्य कर, (ते) तेरा (क्षत्रम्) राज्य [हमारे लिये] (आयुष्मत्) उत्तम जीवन वाला और (अजरम्) जरारहित [नित्य तरुण) (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमदयालु परमात्मा का शरण लेकर सब प्रकार उन्नति करते हुये चिरस्थायी सुख प्राप्त करें ॥ २ ॥

प्राच्या॑ दि॒शस्त्वमि॑न्द्रासि॒ राजो॒तोदी॑च्या दि॒शो वृ॑त्र-हञ्छत्रु॒होऽसि । यत्र॒ यन्ति॑ स्रो॒त्यास्तज्जि॒तं ते॑ दक्षिण॒तो वृ॑ष॒भ ए॑षि॒ हव्यः॑ ॥३॥

प्राच्याः॑ । दि॒शः । त्वम् । इ॒न्द्र॒ । अ॒सि॒ । राजा॑ । उ॒त । उदी॑च्याः । दि॒शः । वृ॒त्र॒ऽह॒न् । श॒त्रु॒ऽहः । अ॒सि॒ । यत्र॑ । यन्ति॑ । स्रो॒त्याः । तत् । जि॒तम् । ते॒ । द॒क्षि॒ण॒तः । वृ॒ष॒भः । ए॒षि॒ । हव्यः॑ ॥३॥

२—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् भगवान् (अधिराजः) म० १। राज्ञामधिको राजा (श्रवस्युः) श्रु—असुन्। श्रवः श्रवणम्। कर्तुःक्यङ् सलोपश्च। पा० ३। १। ११। इति क्यङ्। क्याच्छन्दसि। पा० ३। २। १७०। उप्रत्ययः। श्रव इवाचरतीति। सर्वस्यश्रोता (भूः) लुङि अडभावः। अभूः (अभिभूतिः) अभितः सर्वतो भूतिरैश्वर्यं यस्मात्सः। सर्वैश्वर्यदाता। यद्वा, अभिभविता तिरस्कर्ता (जनानाम्) भक्तानां पामरजनानां वा (दैवीः) दिव्यगुणसम्पन्नाः (विशः) प्रजाः (इमाः) दृश्यमानाः (वि) विविधम् (राज) राजय। शाधि (आयुष्मत्) उत्तमजीवनयुक्तम् (क्षत्रम्) राज्यम् (अजरम्) जरारहितम्। नित्यतरुणम् (ते) तव (अस्तु) भवतु ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (त्वम्) तू (प्राच्याः दिशः) पूर्व वा सन्मुख वाली दिशा का (उत) और (उदीच्याः दिशः) उत्तर वा बाईं दिशा का (राजा असि) राजा है, (वृत्रहन्) हे अन्धकारनाशक ! तू (शत्रुहः) हमारे शत्रुओं का नाश करने वाला (असि) है। (यत्र) जिस स्थान में (स्रोत्याः) जल धारायें (यन्ति) चलती हैं, (तत्) वह स्थान [समुद्र वा अन्तरिक्ष] (ते) तेरा (जितम्) जीता हुआ है, (वृषभः) महापराक्रमी, (हव्यः) आवाहन योग्य तू (दक्षिणतः) हमारी दाहिनी ओर (एषि) पहुंचता है ॥३॥

भावार्थ—परमेश्वर सब स्थान और सब काल में सब का शासक है, जो मनुष्य उस पर विश्वास करते हैं वह उनका सदा सहायक होता है ॥३॥

सूक्तम् ॥ ८८ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ बृहती ॥

संग्रामजयोपदेशः—संग्राम में जय का उपदेश ॥

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे ।
ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम् ॥ १ ॥

अभि । त्वा । इन्द्र । वरिमतः । पुरा । त्वा । अंहूरणात् । हुवे ।
ह्वयामि । उग्रम् । चेत्तारम् । पुरुनामानम् । एकऽजम् ॥ १ ॥

३—(प्राच्याः) पूर्वस्याः । अभिमुखीभूतायाः (दिशः) दिशायाः (त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (असि) (राजा) शासकः (उत) अपि च (उदीच्याः) उत्तरस्याः । वामभागभवायाः (वृत्रहन्) हे अन्धकारनाशक (शत्रुहः) आशिषि हनः । पा० ३ । २ । ४९ । इति हन्तेर्ड । शत्रूणां हन्ता (यत्र) यस्मिन् स्थाने (यन्ति) प्रवहन्ति (स्रोत्याः) स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ । पा० ४ । ४ । ११३ । इति स्रोतस्—ड्य । स्रोतसि भवाः । नद्यः—निघ० १ । १३ । जलधाराः (तत्) स्थानम् । समुद्रोऽन्तरिक्षं वा (जितम्) वशीकृतम् (ते) तव (दक्षिणतः) अ० ४ । ३२ । ७ । दक्षिणभागे परमसहायकत्वेन (वृषभः) अ० ४ । ५ । १ । वृषु परमैश्वर्ये—अभच् । महापराक्रमी (एषि) गच्छसि (हव्यः) बहुलं छन्दसि पा० ६ । १ ३४ । इति ह्वयतेः सम्प्रसारणे । अचो यत् । पा० ३ । १ । ९७ । इति यत् । आह्वातव्यः ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे संपूर्ण ऐश्वर्य वाले इन्द्र जगदीश्वर ! (त्वा त्वा) तुझको, तुझको (वरिमतः) तेरे विस्तार के कारण (अंहुरणात्) पाप वाले कर्म से (पुरा) पहिले (अभि) सब ओर से (हुवे) मैं बुलाता हूं। (उग्रम्) तेजस्वी, (चेत्तारम्) सत्य और असत्य के जानने वाले, (पुरुनामानम्) अनेक उत्तम नाम वाले, (एकजम्) अकेले उत्पन्न [अद्वितीय, तुझ प्रभु] को (ह्वयामि) मैं पुकारता हूं ॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि उस जगदीश्वर को सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् जान कर पाप कर्म को छोड़ कर शुभ कर्म करते रहें ॥१॥

यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन् न उदीरते ।
इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥२॥

यः । अद्य । सेन्यः । वधः । जिघांसन् । नः । उत्-ईरते ।
इन्द्रस्य । तत्र । बाहू इति । सम्-अन्तम् । परि । दद्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अद्य) आज (यः) (सेन्यः) शत्रु सेना सम्बन्धी (वधः) शस्त्र समूह (जिघांसन्) मारने की इच्छा करता हुआ (नः) हम पर (उदीरते) चढ़ा आता है। (तत्र) उसमें (इन्द्रस्य) महाप्रतापी इन्द्र परमात्मा के

१—(अभि) अभितः (त्वा) त्वाम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (वरिमतः) अ० ४ । ५ । २ । उरुत्वात् । विस्तारहेतोः (पुरा) पूर्वम् (त्वा) (अंहुरणात) खर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ । उ० ४ । ९० । इति अहि गतौ-ऊर—प्रत्ययः, इदित्त्वान्नुम् । पामादिभ्यो नः । वा० पा० ५ । २ । १०० । इति मत्वर्थे नः । आङ् पूर्वाद्धन्तेर्वा रूपमुन्नेयम् । अंहरोऽहंस्वानंहुरणमित्यप्यस्य भवति—निरु० ६ । २७ । अंहस्वतः पापयुक्तात् कर्मणः (हुवे) ह्वयामि (ह्वयामि) (उग्रम्) तेजस्विनम (चेत्तारम्) सत्यासत्ययोर्विज्ञातारम् (पुरुनामानम्) पुरुभिर्बहुभिः प्रशस्तैर्नामधेयैर्युक्तम् (एकजम्) एकं जातम् । अद्वितीयम् ॥

२—(यः) (अद्य) वर्तमाने दिने (सेन्यः) सेना-यत् । शत्रुसेनासंबन्धी (वधः) हननसाधकः शस्त्रसमूहः (जिघांसन्) हन्तुमिच्छन् (नः) अस्मान् (उदीरते) उद्गच्छति (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमात्मनः (तत्र) तस्मिन्

(बाहू) भुजाओं के तुल्य बल पराक्रम को (समन्तः) सब प्रकार (परिदद्मः) हम ग्रहण करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य कठिन समय में परमात्मा का आश्रय लेकर शत्रुओं का सामहना करके दुःख से निवृत्त होवें ॥ २ ॥

परि दद्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः ।
देव सवितः सोम राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये ॥ ३ ॥

परि । दद्मः । इन्द्रस्य । बाहू इति । सम्-अन्तम् । त्रातुः । त्रायताम् । नः । देव । सवितः । सोम । राजन् । सु-मनसम् । मा । कृणु । स्वस्तये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(त्रातुः) रक्षा करने वाले (इन्द्रस्य) महाप्रतापी इन्द्र परमात्मा के (बाहू) भुजाओं के तुल्य बल पराक्रम को (समन्तम्) सब प्रकार (परिदद्मः) हम ग्रहण करते हैं, वह (नः) हमारी (त्रायताम्) रक्षा करे। (देव) प्रकाश स्वरूप, (सवितः) सर्वप्रेरक (सोम) संपूर्ण ऐश्वर्ययुक्त (राजन्) राजन् जगदीश्वर ! (स्वस्तये) कल्याण पाने के लिये (मा) मुझे (सुमनसम्) उत्तम विचार वाला (कुरु) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्म की भुजाओं में शरण लेकर शुद्ध अन्तःकरण से पुरुषार्थ करके सुखी रहे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १०० ॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश करने का उपदेश ॥

देवा अदुः सूर्यो अदाद् द्यौरदात् पृथिव्यदात् ।

कर्मणि (बाहू) भुजवद्बलपराक्रमौ (समन्तम्) सर्वतः (परिदद्मः) अङ्गीकुर्मः आश्रयामः ॥

३—(त्रातुः) रक्षकस्य (त्रायताम्) स रक्षतु (नः) अस्मान् (देव हे प्रकाशस्वरूप (सवितः) सर्वप्रेरक (सोम) परमैश्वर्यवन् (राजन्) सर्व नियामक (सुमनसम्) शोभनमननयुक्तम् (मा) माम् (कृणु) कुरु (स्वस्तये क्षेमाय ॥

तिस्रः सरस्वतीरदुः सचित्ता विषदूषणम् ॥१॥

देवाः । अदुः । सूर्यः । अदात् । द्यौः । अदात् । पृथिवी । अदात् । तिस्रः । सरस्वतीः । अदुः । स-चित्ताः । विष-दूषणम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) जलदाता मेघों ने (विषदूषणम्) विषनाशक ओषध रूप विज्ञान को (अदुः) दिया है, (सूर्यः) सूर्य ने (अदात्) दिया है, (द्यौः) अन्तरिक्ष ने (अदात्) दिया है, (पृथिवी) पृथिवी ने (अदात्) दिया है। (सचित्ताः) समान ज्ञानवाली (तिस्रः) तीनों (सरस्वतीः) विज्ञान वाली देवियों ने (अदुः) दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य मेघ सूर्य आदि पदार्थों और विद्याओं से यथावत् उपकार लेकर सुख प्राप्त करें ॥ १ ॥

तीन देवियां यह हैं [अ० ५ । १२ । ८] १—भारती, पोषण करने वाली विद्या, २—इडा, स्तुति योग्य नीति और ३—सरस्वती, विज्ञानवाली बुद्धि ॥

यद् वो देवा उपजीका आसिञ्चन् धन्वन्युदकम् ।
तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम् ॥२॥

यत् । वः । देवाः । उप-जीकाः । आ-असिञ्चन् । धन्वनि । उदकम् । तेन । देव-प्रसूतेन । इदम् । दूषयत । विषम् ॥२॥

भाषार्थ—(उपजीकाः) हे [परमेश्वर के] आश्रित प्राणियो ! (वः) तुम्हारे लिये (देवाः) विद्वानों ने (धन्वनि) निर्जल स्थान में (यत् उदकम्)

१—(देवाः) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा—निरु० ७ । १५ । जलप्रदा मेघाः (अदुः) दत्तवन्तः (सूर्यः) आदित्यः (अदात्) दत्तवान् (द्यौः) अन्तरिक्षम् (पृथिवी) भूमिः (तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (सरस्वतीः) सरस्वत्यः । विज्ञानवत्यो विद्याः, भारती, इडा, सरस्वतीति—अ० ५ । १२ । ८ (सचित्ताः) समानज्ञानाः (विषदूषणम्) विषनिवारकौषधरूपं विज्ञानम् ॥

२—(यत्) (वः) युष्मदर्थम् (देवाः) विद्वांसः (उपजीकाः) अ० २ । ३ । ४ । उप+जीव प्राणधारणे—ईकन्, स च डित् । उपजीविनः । परमेश्वरा-

जिस जल को (आ—असिञ्चन्) लाकर सींचा है। (देवप्रसूतेन) विद्वानों के दिये हुये (तेन) अमृत से (इदम् विषम्) इस विष को (दूषयत) नाश करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार विद्वान् लोग मरु स्थल में कूप, तड़ाग, जल नाली आदि द्वारा जल लाकर सुख पाते हैं, वैसे ही मनुष्य विज्ञान द्वारा आत्मिक दोष मिटाकर सुखी होवें ॥ २ ॥

असु॒राणां॑ दुहि॒तासि॒ सा दे॒वाना॑मसि॒ स्वसा॑।
दि॒वस्पृ॑थि॒व्याः संभू॑ता॒ सा च॑कर्थार॒सं वि॒षम् ॥३॥

असु॑राणाम्। दु॒हि॒ता। अ॒सि॒। सा। दे॒वाना॑म्। अ॒सि॒। स्वसा॑। दि॒वः। पृ॒थि॒व्याः। सम्ऽभू॑ता। सा। च॒क॒र्थ॒। अ॒र॒सम्। वि॒षम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ओषधि !] (असुराणाम्) श्रेष्ठ बुद्धिमानों की (दुहिता) कामनायें पूरी करने वाली (असि) है, (सा) सो तू (देवानाम्) उत्तम गुणों की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने वाली (असि) है। (दिवः) सूर्य से और (पृथिव्याः) पृथिवी से (संभूता) उत्पन्न हुई (सा) उस तुझ ने (विषम्) विष को (अरसम्) निर्बल (चकर्थ) कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य के ताप और पृथिवी के संयोग से उत्पन्न औषधियों से उपकार होता है, वैसे ही मनुष्य परोपकार करके परस्पर लाभ उठावें ॥ ३ ॥

श्रिताः प्राणिनः (आ—असिञ्चन्) आनीय सिक्तवन्तः (धन्वनि) मरुदेशे (उदकम्) जलम् (तेन) तक सहने हासे च, यद्वा तर्द हिंसे—ड। अमृतेन (देवप्रसूतेन) विद्वद्भिः प्रेषितेन (इदम्) (दूषयत) नाशयत (विषम्) विषरूपं दुःखम् ॥

३—(असुराणाम्) प्रज्ञावताम्—निरु० १०। ३४। (दुहिता) अ० ५। १०। १३। कामानां पूरयित्री (असि) (स्वसा) अ० ५। ५। १। सु+अस दीप्तौ-ऋन्। सुष्ठु दीपयित्री। स्वसा सुअसा स्वेषु सीदतीति वा—निरु० ११। ३२। (दिवः) आदित्यात् (पृथिव्याः) भूमेः (सम्भूता) उत्पन्ना (चकर्थ) त्वं कृतवती (अरसम्) निर्वीर्यम् (विषम्) विषरूपं दुःखम् ॥

सूक्तम् ॥ १०१ ॥

१-३ ॥ राजा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा का धर्म का उपदेश ॥

आ वृ॑षायस्व श्वसि॒हि वर्ध॑स्व प्रथय॑स्व च ।
य॒था॒ङ्गं व॑र्धतां॒ शेप॒स्तेन॑ यो॒षित॒मिज्ज॑हि ॥ १ ॥

आ । वृ॒ष॒-य॒स्व॒ । श्व॒सि॒हि । वर्ध॑स्व । प्र॒थय॑स्व । च॒ । य॒था॒-अ॒ङ्गम् । व॒र्ध॒ता॒म् । शेपः॑ । तेन॑ । यो॒षित॑म् । इत् । ज॒हि॒ ॥१॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (आ) भले प्रकार (वृषायस्व) इन्द्र, बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष के समान आचरण कर, (श्वसिहि) जीता रह, (वर्धस्व) बढ़ती कर (च) और [हमें] (प्रथयस्व) फैला। (यथाङ्गम्) प्रत्येक अंग में [तेरा] (शेपः) सामर्थ्य (वर्धताम्) बढ़े, (तेन) इसलिये (योषितम्) सेवनीय नीति को (इत्) ही (जहि) तू प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा पुरुषार्थ पूर्वक अपनी और प्रजा की उन्नति में सदा तत्पर रहे ॥ १ ॥

राज्य की बढ़ती के चार अंग वा उपाय यह हैं [सामदाने भेददण्डा-वित्युपायचतुष्टम्—अमर १८ । २०] १—साम, प्रियवचन; २-दान धन देना; ३—भेद, शत्रुओं में फूट कर देना ; ४-दण्ड ॥

येन॑ कृ॒शं वा॒जय॑न्ति॒ येन॑ हि॒न्वन्त्यातु॑रम् ।
तेना॒स्य ब्र॑ह्मणस्पते॒ धनु॑रि॒वा ता॑नया॒ पसः॑ ॥ २ ॥

१—(आ) समन्तात् (वृषायस्व) कर्तुःक्यङ् सलोपश्च । पा० ३ । १ । ११ । इति वृषन्—क्यङ् । वृषा इन्द्र इवाचर (श्वसिहि) श्वस प्राणने । प्राणिहि । बलवान् भव (वर्धस्व) वृद्धिं कुरु (प्रथयस्व) विस्तारय प्रजागणान् (च) (यथाङ्गम्) अङ्गान्यनतिक्रम्य । सर्वाङ्गम् (वर्धताम्) वृद्धिं प्राप्नोतु (शेपः) अ० ४ । ३७ । ७ । शेते वर्तते शरीरे तत् सामर्थ्यम् (तेन) कारणेन (योषितम्) अ० १ । १७ । १ । युष सेवने-इति । सेव्यां नीतिम् (इत्) एव (जहि) हन गतौ । गच्छ ॥

येन॑ । कृ॒शम् । वा॒जय॑न्ति । येन॑ । हि॒न्वन्ति॑ । आ॒तु॑रम् । तेन॑ ।
अ॒स्य । ब्र॒ह्म॒णः॒ । प॒ते॒ । धनुः॑-इव । आ । ता॒न॒य॒ । पसः॑ ॥२॥

भाषार्थ—(येन) जिस कर्म से (कृशम्) दुर्बल को (वाजयन्ति) बली करते हैं और (येन) जिस से (आतुरम्) अशान्त पुरुष को (हिन्वन्ति) प्रसन्न करते हैं। (तेन) उसी कर्म से (ब्रह्मणस्पते) हे अन्न, वा धन, वा वेद वा ब्राह्मण के रक्षक परमेश्वर ! (अस्य) इसके (पसः) राज्य को (धनुः इव) धनुष के समान (आ) भले प्रकार (तानय) फैला ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा निर्बल और रोगियों को यथावत् सुख देकर अपने राज्य को सदा बढ़ावे ॥ २ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध कुछ भेद से आ चुका है—अ० ४ । ४ । ६ ॥

आहं त॑नोमि ते॒ पसो॒ अधि॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नि ।
क्रम॒स्वर्श॑ इव रो॒हित॒मन॑वग्लायता॒ सदा॑ ॥ ३ ॥

आ । अ॒हम् । त॒नो॒मि॒ । ते॒ । पसः॑ । अधि॑ । ज्याम्-इ॑व । धन्व॑नि ।
क्रम॑स्व । ऋशः॑-इव । रो॒हित॑म् । अन॑व-ग्लायता । सदा॑ ॥३॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [हे मनुष्य!] (ते) तेरे (पसः) राज्य को (आ) यथावत् (तनोमि) फैलाता हूं (ज्याम् इव) जैसे डोरी को (धन्वनि अधि) धनुष में। (अनवग्लायता) बिना ग्लानि वा थकावट के (सदा) सदा [शत्रुओं पर] (क्रमस्व) धावा कर, (ऋशः इव) जैसे हिंसक जन्तु सिंह आदि (रोहितम्) हरिण पर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के दिये सामर्थ्यों से निरालसी होकर शत्रुओं को वश में करके सदा प्रजापालन करे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ४ । ४ । ७ ॥

२—(येन) कर्मणा (कृशम्) दुर्बलम् (वाजयन्ति) वाजयति= अर्चति-निघ० ३ । १४ । वाजो बलम्-निघ० २ । ६ । अर्श आद्यच् । वाजं बलिनं कुर्वन्ति वाजयन्ति (हिन्वन्ति) हिवि प्रीणने । प्रीणयन्ति (आतुरम्) मद्गुरादयश्च । उ० १ । ४१ । अत सातत्य-गमने उरच्, धातो दीर्घः । अशान्तम । रोगार्तम् (तेन) कर्मणा । अन्यद्गतम्-अ० ४ । ४ । ६ (पसः) पस बन्धने बाधे च-असुन् । राष्ट्रम्-दयानन्द भाष्ये यजु० २३ । २२ ।

३—अयं मन्त्रो व्याख्येयो यथा—अ० ४ । ४ । ४७ ॥

सूक्तम् ॥ १०२ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

जितेन्द्रियत्वोपदेशः—जितेन्द्रिय होने का उपदेश ॥

यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते ।
एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम् ॥ १ ॥

यथा । अयम् । वाहः । अश्विना । सम्-ऐति । सम् । च । वर्तते । एव । माम् । अभि । ते । मनः । सम्-ऐतु । सम् । च । वर्तताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे सूर्य और चन्द्रमा [के समान नियम वाले पुरुष ! (यथा) जैसे (अयम्) यह (वाहः) लद्दू पशु [घोड़ा बैल आदि] (समैति) मिलकर आता है (च) और (सम्) ठीक ठीक (वर्तते) वर्तता है। (एव) वैसे ही [हे जीव !] (माम् अभि) मेरी ओर (ते मनः) तेरा मन (समैतु) मिल कर आवे (च) और (सम् वर्तताम्) ठीक ठीक वर्ताव करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य पशु आदि को शिक्षा देकर सुमार्ग पर चलाता है, वैसे ही जितेन्द्रिय पुरुष मन को वश में करके शुभ मार्ग में अपने को चलावे ॥१॥

आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव ।
रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥ २ ॥

आ । अहम् । खिदामि । ते । मनः । राज-अश्वः । पृष्ट्याम्-इव ।

१—(यथा) येन प्रकारेण (अयम्) पुरोवर्तमानः (वाहः) भारवाहकः पशुः (अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसावित्येके—निरु० १२ । १ । हे सूर्यचन्द्रतुल्यनियमवन् पुरुष (समैति) संगत्यागच्छति (सम्) सम्यक् (च) (वर्तते) भवति (एव) एवम् (माम्) जितेन्द्रिय (अभि) प्रति (ते) तव (मनः) मननसाधनं चित्तम् (समैतु) संगत्यागच्छतु (सम् च वर्तताम्) ॥

रे॒ष्म-छिन्नम् । यथा॑ । तृण॑म् । मयि॑ । ते॒ । वे॒ष्टता॒म् । मन॑: ॥२॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (अहम्) मैं (ते मनः) तेरे मन को (आ-खिदामि) ऐसे खींचता हूं (इव) जैसे (राजाश्वः) बड़ा अश्ववार (पृष्ट्याम्) बागडोर को । (मयि) मुझ में (ते मनः) तेरा मन (वेष्टताम्) लिपटा रहे (यथा) जैसे (रेष्मच्छिन्नम्) व्याकुल करने वाली आंधी से तोड़ा गया (तृणम्) घास ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने मन को कुविषयों से खींच कर तत्त्व विचार में ऐसा लगावे, जैसा सुसारथी चंचल घोड़े को बागडोरी से वश में करता है, अथवा जैसे घास आंधी से टूट कर आंधी के वश में हो जाती है ॥ २ ॥

आ॒ञ्ज॑नस्य म॒दुघ॑स्य॒ कुष्ठ॑स्य॒ नल॑दस्य च ।
तु॒रो भग॑स्य॒ हस्ता॑भ्यामनु॒रोध॑न॒मुद्भ॑रे ॥ ३ ॥

आ-अञ्ज॑नस्य । म॒दुघ॑स्य । कुष्ठ॑स्य । नल॑दस्य । च॒ । तु॒रः । भग॑स्य । हस्ता॑भ्याम् । अ॒नु॒-रोध॑नम् । उत् । भ॒रे॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(आञ्जनस्य) संसार के प्रकट करने वाले, (मदुघस्य) आनन्द के सींचने वाले, (कुष्ठस्य) गुण जांचने वाले, (नलदस्य) बन्धन काटने

२—(अहम्) जितेन्द्रियः (आखिदामि) आकर्षामि (ते) तव (मनः) अन्तःकरणम् (राजाश्वः) अश्वमारोहतीति अश्वारूढः, स एव अश्वः । विनापि प्रत्यं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वक्तव्यः । वा० पा० ५ । ३ । ८३। इत्यारूढपद-लोपः राजाश्वारूढः=राजाश्वः, कुशलोऽश्वारूढः (पृष्ट्याम्) पृषु सेचनहिंसा संक्लेशनेषु--क्तिन्, ततो यत् । पृष्टौ क्लेशसाधनायां रज्ज्वां भवं रश्मिं प्रग्रहम् (इव) यथा (रेष्मच्छिन्नम्) रिष हिंसायाम्--मनिन् । रेषकेण तीव्रवायुना भग्नम् (यथा) येन प्रकारेण (मयि) ममवशे (ते) तव (वेष्टताम्) आच्छाद्यताम् (मनः) ॥

३—(आञ्जनस्य) अ० । ४ । ६ । ३ आङ्+अञ्ज व्यक्तौ—ल्युट् । यथावत्संसारस्य व्यक्तीकारकस्य ब्रह्मणः (मदुघस्य) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति मद हर्षे—उप्रत्ययः + घृ सेके भासे च—ड । हर्ष सेचकस्य (कुष्ठस्य) अ० ५ ।

वाले, (तुरः) शीघ्रकारी, (च) और (भगस्य) बड़े ऐश्वर्यवाले ब्रह्म के (अनुरोधनम्) यथावत् पूजन को (हस्ताभ्याम्) अपने दोनों हाथों [में बल] के लिये (उत्) उत्तम रीति से (भरे) मैं धारण करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस जगदीश्वर के अनन्त शुभगुणों का विचार करके प्रयत्न पूर्वक सदा प्रसन्न रहें ॥३॥

इति दशमोऽनुवाकः ।

अथैकादशोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ १०३ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रु पराजयोपदेशः—शत्रुओं के हराने का उपदेश ॥

सं॒दानं॑ वो॒ बृह॒स्पति॑: सं॒दानं॑ सवि॒ता क॑रत् ।
संदानं॑ मि॒त्रो अ॑र्य॒मा सं॒दानं॒ भगो॑ अ॒श्विना॑ ॥ १ ॥

स॒म्-दान॑म् । वः॒ । बृह॒स्पति॑: । स॒म्-दान॑म् । स॒वि॒ता । क॒र॒त् ।
स॒म्-दान॑म् । मि॒त्रः । अ॒र्य॒मा । स॒म्-दान॑म् । भगः॑ । अ॒श्विना॑ ॥१॥

भाषार्थ—[हे शत्रु लोगो !] (बृहस्पतिः) बड़े बड़े सैनिकों का स्वामी (वः) तुम्हारा (संदानम्) खण्डन, (सविता) प्रेरणा करने वाला सेनाध्यक्ष

---

४ । १ । कुष निष्कर्षे—क्थन् । गुणपरीक्षकस्य (नलदस्य) अ० ४ । ३७ । ३ । णल बन्धने—अच्+दो अवखण्डने—क । बन्धनच्छेदकस्य (च) (तुरः) तुर त्वरणे—क्विप् । त्वरणशीलस्य (भगस्य) ऐश्वर्यवतो ब्रह्मणः (हस्ताभ्याम्) हस्तयोर्बलप्राप्तये (अनुरोधनम्) यथावत्पूजनम् (उत्) उत्कर्षेण (भरे) हृदये धरामि ॥

१—(सन्दानम्) दो अवखण्डने—ल्युट् । सम्यग् बन्धनं खण्डनं वा (वः) युष्माकम् (बृहस्पतिः) बृहतां सैनिकानां स्वामी, सेनापतिः (सविता)

(सन्दानम्) तुम्हारा बन्धन, (मित्रः) सब का मित्र (अर्यमा) न्यायाधीश (सन्दानम्) तुम्हारा खण्डन, (अश्विना) सूर्य चन्द्रमा के समान नियम वाला (भगः) ऐश्वर्यवान् राजा (सन्दानम्) तुम्हारा बन्धन (करत्) करे ॥१॥

भावार्थ—रणक्षेत्र में सब सेनापति लोग अपनी अपनी सेना से शत्रुओं को मारें और बांधें ॥१॥

सं परमान्त्समवमानथो सं द्यामि मध्यमान् ।
इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ २ ॥

सम् । पुरमान् । सम् । अवमान् । अथो इति । सम् । द्यामि । मध्यमान् । इन्द्रः । तान् । परि । अहाः । दाम्ना । तान् । अग्ने । सम् । द्य । त्वम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(परमान्) ऊंचे बैरियों को (सम्) यथावत्, (अवमान्) नीचे शत्रुओं को (सम्) यथावत् (अथो) और (मध्यमान्) बीच वाले शत्रुओं को (सम्) यथावत् (द्यामि) खण्ड खण्ड करता हूं । (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा ने (तान्) चोरों को (परि) सब ओर से (अहाः) नाश कर दिया है, (अग्ने) हे विद्वान् राजन् ! (त्वम्) तू (दाम्ना) पाश से (तान्) म्लेच्छों को (सम् द्य) बांध ले ॥२॥

भावार्थ—प्रत्येक सैनिक सेनादल में शत्रुओं को सब स्थान से मारे और बांधे ॥२॥

सर्वप्रेरकः । सेनाध्यक्षः (करत्) कुर्य्यात् (मित्रः) सर्वसखा (अर्यमा) अ० ३ । १४ । २ । न्यायाधीशः (भगः) ऐश्वर्यवान् (अश्विना) सूर्यचन्द्रवद्—नियमवान् पुरुषः ॥

२—(सम्) सम्यक् (परमान्) उच्चस्थान् शत्रून् (सम) (अवमान्) नीचस्थान् (अथो) अपि च (द्यामि) दो अवखण्डने । खण्डशः करोमि (मध्यमान्) मध्यस्थान् (इन्द्रः) प्रतापी राजा (तान्) तर्दकांश्चोरान् । (परि) परितः (अहाः) हरतेर्लुङि च्लेः सिच् । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । ३ । ९७ । इति ईडभावे । हल्ङ्याब्भ्यः ० । पा० ६ । १। ६८ । इति तलोपे । रात् सस्य । पा० ८ । २ । २४ । इति सलोपः । हृतवान् नाशितवान् (दाम्ना) पाशेन (अग्ने) हे विद्वन् राजन् (सम् द्य) बधान (त्वम्) ॥

अमी ये युधमायन्ति केतून् कृत्वानीकशः ।
इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ ३ ॥

अमी इति । ये । युधम् । आ-यन्ति । केतून् । कृत्वा । अनीक-शः । इन्द्रः । तान् । परि । अहाः । दाम्ना । तान् । अग्ने । सम् । द्य । त्वम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अमी ये) वे जो शत्रु (केतून्) ध्वजा पताकायें (कृत्वा) बनाकर (अनीकशः) टोली टोली से (युधम्) युद्ध में (आयन्ति) आते हैं। (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा ने (तान्) उन चोरों को (परि) सब ओर से (अहाः) नाश कर दिया है, (अग्ने) हे विद्वन् राजन् ! (त्वम्) तू (दाम्ना) पाश से (तान्) म्लेच्छों को (सम् द्य) बांध ले ॥ ३ ॥

भावार्थ—शत्रुओं को रणक्षेत्र में आते हुये देखकर सेनापति व्यूह रचना करके उन्हें रोके ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १०४ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुपराजयोपदेशः—शत्रुओं के हराने का उपदेश ॥

आदानेन संदानेनामित्राना द्यामसि ।
अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन् ॥ १ ॥

आ-दानेन । सम्-दानेन । अमित्रान् । आ । द्यामसि । अपानाः । ये । च । एषाम् । प्राणाः । असुना । असून् । सम् । अच्छिदन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आदानेन) आकर्षणपाश से और (सन्दानेन) बन्धन

३—(अमी) दूरे दृश्यमानाः (ये) शत्रवः (युधम्) संग्रामम् (केतून्) चायः किः । उ० १ । ७४ । चायृ पूजानिशामनयोः—तु, यद्वा, कित ज्ञाने-तु । केतुः प्रज्ञा—निघ० ३ । ६ । केतुना कर्मणा प्रजया वा—निरु० ११ । २७ । ज्ञापकान् ध्वजान् (कृत्वा) अनुष्ठाय (अनीकशः) अ० ५ । २१ । ८ । संघशः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

१—(आदानेन) आदीयते आबध्यते अनेन। आकर्षणपाशेन (सन्दानेन)

पाश से (अमित्रान्) अपने शत्रुओं को (आ द्यामसि) हम बांधते हैं। (च) और (एषाम्) इनके (ये) जो (अपानाः) अपान वायु और (प्राणाः) प्राण वायु हैं। (असून्) उनके प्राणों को (असुना) अपनी बुद्धि से (सम् अच्छिदन्) उन [हमारे वीरों] ने छिन्न भिन्न कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—शूरवीर धावा करके अपने अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को जीवन से हताश करके निर्बल करें ॥ १ ॥

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् ।

अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम् ॥२॥

इदम् । आ-दानम् । अकरम् । तपसा । इन्द्रेण । सम्-शितम् ।

अमित्राः । ये । अत्र । नः । सन्ति । तान् । अग्ने । आ । द्य । त्वम् ॥

भाषार्थ—(इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले आचार्य करके (संशितम्) तीक्ष्ण किया गया (इदम्) यह (आदानम्) आकर्षण यन्त्र (तपसा) तप से (अकरम्) मैं ने बनाया है। (अत्र) यहां पर (नः) हमारे (ये) जो (अमित्राः) शत्रु (सन्ति) हैं, (तान्) उनको (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! (त्वम्) तू (आ द्य) बाँध ले ॥ २ ॥

भावार्थ—बड़े बड़े विद्वानों की सम्मति से सेनापति लोग अस्त्र शस्त्र बना कर शत्रुओं को वश में करें ॥ २ ॥

बन्धनपाशेन (अमित्रान्) शत्रून् (आद्यामसि) बध्नीमः (अपानाः) बहिर्गमनशीलाः श्वासवृत्तयः (ये) (च) (एषाम्) शत्रूणाम् (प्राणाः) अन्तर्गमनाः श्वासाः (असुना) स्वप्रज्ञया—निघ० ३ । ९ । (असून्) शत्रुप्राणान् (सम्) सम्यक् (अच्छिदन्) छिदिर् द्वैधीकरणे । छिन्नवन्तः शूराः ॥

२—(इदम) निर्दिष्टम् (आदानम्) आकर्षणपाशम् (अकरम्) अकार्षम् (तपसा) तपोबलेन (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवता गुरुणा (संशितम्) सम्यक् तीक्ष्णीकृतम् (अमित्राः) शत्रवः (ये) (अत्र) अस्मिन् संग्रामे (नः) अस्माकम् (सन्ति) वर्तन्ते (तान्) शत्रून् (अग्ने) हे तेजस्विन् राजन् (आ द्य)—बधान । पाशयन्त्रेण गृहाण (त्वम्) ॥

ऐनान् द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ ।
इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः ॥ ३॥

आ । एनान् । द्यताम् । इन्द्राग्नी इति । सोमः । राजा । च । मेदिनौ । इन्द्रः । मरुत्वान् । आ-दानम् । अमित्रेभ्यः । कृणोतु । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि के समान गुणवान् (मेदिनौ) प्रीति करने वाले (सोमः) सेनाप्रेरक युद्धमन्त्री (च) और (राजा) ऐश्वर्यवान् न्यायाधीश दोनों (एनान्) इन शत्रुओं को (आद्यताम्) बांध लेवें । (मरुत्वान्) शूरों को साथ रखने वाला (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा (नः) हमारे (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिये (आदानम्) आकर्षण यन्त्र (कृणोतु) बनावे ॥३॥

भावार्थ—सेनासचिव, न्यायमन्त्री और मुख्य सेनापति अपने शूर वीरों से शत्रुओं को परास्त करें ॥३॥

सूक्तम् ॥ १०५ ॥

१-३ ॥ मनुष्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्कर्षप्राप्त्युपदेशः—महिमा पाने के लिये उपदेश ॥

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यम् ॥ १ ॥

यथा । मनः । मनः-केतैः । परा-पतति । आशु-मत् । एव । त्वम् । कासे । प्र । पत । मनसः । अनु । प्र-वाय्याम् ॥ १ ॥

३—(एनान्) शत्रून् (आद्यताम्) बध्नीताम् (इन्द्राग्नी) वाय्वग्निवद् गुणवन्तौ । इन्द्राग्नी=वाय्वग्नी—दयानन्द भाष्ये यजु० २१ । २० (सोमः) सेनाप्रेरको युद्धमन्त्री (राजा) ऐश्वर्यवान् न्यायसचिवः (च) (मेदिनौ) मिद स्नेहने—णिनि । स्नेहिनौ (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा (मरुद्भिः) मरुद्भिः शूरवीरैर्युक्तः—अ० १ । २० । १ । (आदानम्) आकर्षणयन्त्रम् (अमित्रेभ्यः) शत्रूणां बन्धाय (कृणोतु) करोतु (नः) अस्माकम् ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (मनः) मन (मनस्केतैः) मन के विषयों के साथ (आशुमत्) शीघ्रता से (परापतति) आगे बढ़ता जाता है। (एव) वैसे ही [हे मनुष्य !] (त्वम्) तू (कासे) ज्ञान वा उपाय के बीच (मनसः) मन के (प्रवाय्यम् अनु) प्राप्ति योग्य देश की ओर (प्र पत) आगे बढ़ ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य मन की कुवृत्तियों को रोक कर ज्ञान पूर्वक शुभकर्म में शीघ्र लगावे ॥१॥

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ २ ॥

यथा। बाणः। सु-संशितः। परा-पतति। आशु-मत्। एव। त्वम्। कासे। प्र। पत। पृथिव्याः। अनु। सम्-वतम् ॥२॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (सुसंशितः) यथाविधि तीक्ष्ण किया हुआ (बाणः) बाण वा शब्द (आशुमत्) वेग से (परापतति) आगे बढ़ा जाता है। (एव) वैसे ही) [हे मनुष्य !] (त्वम्) तू (कासे) ज्ञान वा उपाय के बीच (पृथिव्याः) पृथिवी के (संवतम् अनु) यथावत् सेवनीय देश की ओर (प्रपत) आगे बढ़ ॥ २ ॥

भावार्थ--जिस प्रकार यथावत् सन्धान किया हुआ बाण और ठीक ठीक बोला गया शब्द लक्ष्य पर शीघ्र पहुंचता है, वैसे ही मनुष्य यथावत् ज्ञान और उपाय से पृथिवी पर अभीष्ट पदार्थ को शीघ्र प्राप्त करे ॥ २ ॥

१--(यथा) येन प्रकारेण (मनः) मननसाधकमिन्द्रियम् (मनस्केतैः) कित ज्ञाने--घञ्। अन्तःकरणस्य ज्ञायमानैर्विषयैः सह (परापतति) आभिमुख्येन गच्छति (आशुमत्) यथा तथा। शीघ्रम् (एव) एवम् (त्वम्) हे मनुष्य त्वम् (कासे) कस गतौ—घञ्। ज्ञाने। उपाये (मनसः) अन्तःकरणस्य (अनु) अनुलक्ष्य (प्रवाय्यम्) भय्यप्रवय्येचच्छन्दसि। पा० ६। १। ८३। इति प्र + वी गतौ—यत, अयादेशश्च, छान्दसो दीर्घः। प्रवय्यं प्रगन्तव्यं देशम्। अवधिम् ॥

२--(बाणः) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। पा० ३। ३। १९। इति बण शब्दे—घञ्। वाणो वाक्—निघ० १। ११। शरः। शब्दः (सुसंशितः) शो तनूकरणे-क्त। सुष्ठु सम्यक् तीक्ष्णीकृतः (पृथिव्याः) भूम्याः (संवतम्) अ० ६। २९। ३। सम् + वन संभक्तौ--क्विप्, नकारलोपे तुक्। सम्यग् वननीयं सेवनीयं देशम्। अन्यत् पूर्ववत्--म० १॥

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ ३ ॥

यथा । सूर्यस्य । रश्मयः । परा-पतन्ति । आशु-मत् । एव । त्वम् । कासे । प्र । पत । समुद्रस्य । अनु । वि-क्षरम् ॥३॥

भाषार्थ--(यथा) जैसे (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मयः) किरणें (आशुमत्) शीघ्र (परापतन्ति) आगे बढ़ती जाती हैं। (एव) वैसे ही [हे मनुष्य !] (त्वम्) तू (कासे) ज्ञान वा उपाय के बीच (समुद्रस्य) अन्तरिक्ष के (विक्षरम् अनु) प्रवाहस्थान [मेघ मण्डल आदि] की ओर (प्रपत) आगे बढ़ ॥३॥

भावार्थ--मनुष्य सूर्य की किरणों के समान बे रोक शीघ्रगामी होकर विज्ञान पूर्वक पुष्पक विमान आदि द्वारा अन्तरिक्ष में प्रवेश करे ॥३॥

सूक्तम् ॥ १०६ ॥

१-३ ॥ शालादेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

दुर्गनिर्माणोपदेशः—गढ़ बनाने का उपदेश ॥

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः ।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥ १ ॥

आ-अयने । ते । परा-अयने । दूर्वाः । रोहन्तु । पुष्पिणीः । उत्सः । वा । तत्र । जायताम् । ह्रदः । वा । पुण्डरीक-वान् ॥ १ ॥

भाषार्थ--[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (आयने) आगमनमार्ग और (परायणे) निकास में (पुष्पिणीः) फूलवाली (दूर्वाः) दूब घासें (रोहन्तु)

३—(सूर्यस्य) भूचन्द्रादिलोकप्रेरकस्यादित्यस्य (रश्मयः) अ० २ । ३२ । १ । व्यापनाः किरणाः (समुद्रस्य) अ० १ । ३ । ८ । अन्तरिक्षस्य—निघ० १ । ३ । (विक्षरम्) विविधं क्षरणं प्रवाहो यस्मिन् तं देशं मेघमण्डलादिलोकम् । अन्यत्पूर्ववत्—म० १ ॥

१—(आयने) आङ्+इण् गतौ—ल्युट् । आगमने (ते) तव (परायणे) इण्–ल्युट् । बहिर्गमने (दूर्वाः) दुर्वी हिंसायाम्—अ । स्वनामख्यातघासाः ।

उगें। (वा) और (तत्र) वहां (उत्सः) कुआ (वा) और (पुण्डरीकवान्) कमलों वाला (ह्रदः) ताल (जायताम्) होवे ॥१॥

भावार्थ--मनुष्य दुर्ग और घरों के आस पास के दृश्य को सुख बढ़ाने वाले दूब, जल, कमल आदि से स्वस्थता के लिये सुशोभित रक्खें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है--म० १० स० १४२ म० ८॥

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥ २ ॥

अपाम् । इदम् । नि-अयनम् । समुद्रस्य । नि-वेशनम् ।
मध्ये । ह्रदस्य । नः । गृहाः । पराचीना । मुखा । कृधि ॥२॥

भाषार्थ—(अपाम्) प्रजाओं का (इदम्) यह (न्ययनम्) निवास स्थान (समुद्रस्य) जल समूह का (निवेशनम्) प्रवेश हो। (नः गृहाः) हमारे घर (ह्रदस्य) ताल वा खाई के (मध्ये) बीच में हों, [हे राजन् शत्रुओं के] (मुखा) मुखों को (पराचीना) उलटा (कृधि) कर दे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा के लिये दुर्ग के चारों ओर जल की गहरी खाई रक्खे जिससे शत्रुओं का मार्ग रुका रहे ॥ २ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध यजुर्वेद में है—अ० १७ म० ७ ॥

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि ।

सहस्रवीर्याः। हरिताः (रोहन्तु) उद्भवन्तु (पुष्पिणीः) बहुपुष्पयुक्ताः (उत्सः) अ० १ १५। ३। कूपः—निघ० ३। २३। (वा) चार्थे (तत्र) तस्मिन् देशे (जायताम्) वर्तताम् (ह्रदः) अगाधजलाशयः (पुण्डरीकवान्) फर्फरीकादयश्च। उ० ४। २०। इति पुडि खण्डने—यद्वा पुण शुभकर्मणि—ईकन्, उभयपक्षे पृषोदरादित्वात्साधुः। कमलैर्युक्तः ॥

२—(अपाम्) प्रजानाम्। आपः=आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये—यजु० ६। २७। (इदम्) (न्ययनम्) इण—ल्युट्। निवासस्थानम् (समुद्रस्य) जलौघस्य (निवेशनम्) प्रवेशनम् (मध्ये) (ह्रदस्य) जलाशयस्य। परिखायाः (नः) अस्माकम् (गृहाः) गेहानि (पराचीना) प्रतिकूलानि (कृधि) कुरु ॥

शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम् ॥ ३ ॥

हिमस्य । त्वा । जरायुणा । शाले । परि । व्ययामसि । शीत-ह्रदा । हि । नः । भुवः । अग्निः । कृणोतु । भेषजम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शाले) हे शाला ! (हिमस्य) शीत के (जरायुणा) जीर्ण करने वाले वस्त्र वा अग्नि के साथ (त्वा) तुझको (परि) अच्छे प्रकार (व्ययामसि) हम प्राप्त होते हैं । (हि) क्योंकि [जब] तू (नः) हमारे लिये (शीतह्रदा) ताल के समान शीतल (भुवः) होवे, (अग्निः) अग्नि [ताप] (भेषजम्) भय निवारक कर्म (कृणोतु) करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शीत के लिये उष्ण सामग्री और उसी प्रकार उष्ण ऋतु के लिये शीतल वस्तुओं का भण्डार दुर्ग और घरों में रक्खें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७ । ५ ॥

सूक्तम् ॥ १०७ ॥

१-४ ॥ परमेश्वरो देवता ॥ आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः ॥

सर्वसुखप्राप्त्युपदेशः—सब सुख की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि । त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ १ ॥

विश्व-जित् । त्रायमाणायै । मा । परि । देहि । त्रायमाणे । द्वि-पात् । च । सर्वम् । नः । रक्ष । चतुः-पात् । यत् । च । नः । स्वम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विश्वजित्) हे संसार के जीतने वाले परमेश्वर ! (त्राय-

---

३—(हिमस्य) शीतस्य (त्वा) त्वाम् (जरायुणा) किंजरयोः श्रिणः । उ० १ । ४ । इति जरा+इण् गतौ— ञुण् । जरामेति येन जरायुस्तेन वस्त्रेणाग्निना वा (शाले) हे गृह (परि) परितः (व्ययामसि) व्यय गतौ वित्तसमुत्सर्गे च । प्राप्नुमः (शीतह्रदा) शीता ह्रद इव (हि) यस्मात् कारणात् (नः) अस्मभ्यम् (भुवः) त्वं भवेः (अग्निः) तापः (कृणोतु) करोतु (भेष-जम्) भयनिवारकं कर्म ॥

१—(विश्वजित्) हे जगद्विजयिन् परमेश्वर (त्रायमाणायै) त्रैङ्

माणायै) त्रायमाणा, रक्षा करने वाली [शाला वा ओषधि विशेष] को (मा) मुझे (परि देहि) सौंप । (त्रायमाणे) हे रक्षा करने वाली शाला ! (नः) हमारे (सर्वम्) सब (द्विपात्) दो पाये (च) और (चतुष्पात्) चौपाये (च) और (नः) हमारे (यत् स्वम्) सब कुछ धन की (रक्ष) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से दृढ़स्थान बनाकर और त्रायमाणा आदि औषध का सेवन करके मनुष्यों, पशुओं और धन की सर्वथा रक्षा करे ॥ १ ॥

इस मन्त्र में (शाला) शब्द की अनुवृत्ति गतमन्त्र ३ से आती है, और (त्रायमाणा) ओषधि विशेष भी है जिसके नाम त्रायन्ती, बलभद्रिका आदि हैं ॥

त्राय॑माणे विश्व॒जिते॑ मा॒ परि॑ देहि । विश्व॑जिद्
द्वि॒पाच्च॒ सर्वं॑ नो॒ रक्ष॒ चतु॑ष्पा॒द् यच्च॑ नः॒ स्वम् ॥२॥

त्राय॑माणे । वि॒श्व॒-जिते॑ । मा॒ । परि॑ । दे॒हि॒ । विश्व॑-जित् । द्वि॒-पात् । च॒ । सर्व॑म् । नः॒ । रक्ष॑ । चतुः॑-पात् । यत् । च॒ । नः॒ । स्वम् २

भाषार्थ--(त्रायमाणे) हे त्रायमाणा, रक्षा करने वाली ! (विश्वजिते) संसार के जीतने वाले परमेश्वर को (मा) मुझे (परिदेहि) सौंप । (विश्वजित्) हे संसार के जीतने वाले परमेश्वर (नः) हमारे (सर्वम्) सब...... म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ--मनुष्य उत्तम घर और औषध के सेवन से परमेश्वर की आज्ञा पालन करके सब पदार्थों की यथावत् रक्षा करें ॥ २ ॥

विश्व॑जित् कल्या॒ण्यै॑ मा॒ परि॑ दे॒हि । कल्या॑णि
द्वि॒पाच्च॒ सर्वं॑ नो॒ रक्ष॒ चतु॑ष्पा॒द् यच्च॑ नः॒ स्वम् ॥३॥

पालने—शानच् । रक्षाशीलायै शालायै ओषधिविशेषायै वा (मा) माम् (परि देहि) समर्पय (त्रायमाणे) हे रक्षाशीले (द्विपात्) पादद्वयोपेतं मनुष्यादिकम् (सर्वम्) अखिलम् (नः) अस्माकम् (रक्ष) पालय (चतुष्पात्) गोमहिषादिकम् (यत्) यत्किञ्चित्सर्वम् (स्वम्) धनम् ॥

२—यथा व्याख्यातम्--म० १ ।

विश्व-जित् । कल्याण्यै । मा । परि । देहि । कल्याणि । द्वि-पात् । च । सर्वम् । नः । रक्ष । चतुः-पात् । यत् । च । नः । स्वम् ॥३॥

भाषार्थ—(विश्वजित्) हे संसार के जीतने वाले परमेश्वर ! (कल्याण्यै) कल्याणी, मङ्गल करने वाली [शाला अथवा ओषधि विशेष] को (मा) मुझे (परिदेहि) सौंप। (कल्याणि) हे कल्याणि (नः) हमारे (सर्वम्) सब······मं० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक तथा दो के समान ॥३॥

(कल्याणी) ओषधि विशेष भी है जिसका नाम मासपर्णी है ॥

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि । सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

कल्याणि । सर्व-विदे । मा । परि । देहि । सर्व-वित् । द्वि-पात् । च । सर्वम् । नः । रक्ष । चतुः-पात् । यत् । च । नः । स्वम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(कल्याणि) हे कल्याणी, मङ्गलकारिणी ! [शाला व ओषधि विशेष] (सर्वविदे) सर्वज्ञ परमेश्वर को (मा) मुझे (परिदेहि) सौंप (सर्व विद्) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! (नः) हमारे (सर्वम्) सब (द्विपात्) दोपाये (च) और (चतुष्पात्) चौपाये (च) और (नः) हमारे (यत् स्वम्) सब कुछ धन की (रक्ष) रक्षाकर ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक और दो के समान ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १०८ ॥

१-५ ॥ मेधा देवता ॥ १, ४, ५ अनुष्टुप्; २, ३ बृहती ॥

बुद्धिधनयोः प्राप्त्युपदेशः—बुद्धि और धन की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गहि ।

३—(कल्याण्यै) कल्यं शुभम् अण्यते शब्द्यते । अकर्तरि च कारके० । पा० ३ । ३ । १९ । कल्य+अण शब्दे जीवने च—घञ्, ङीप् । हे मङ्गलकारिणि शाले मासपर्णि वा । अन्यद् गतम् ॥

४—(सर्वविदे) विद् ज्ञाने—क्विप् । सर्वज्ञाय परमेश्वराय । (सर्ववित्) हे सर्वज्ञ ॥ अन्यत्पूर्ववत् ॥

त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया ॥ १ ॥

त्वम् । नः । मेधे । प्रथमा । गोभिः । अश्वेभिः । आ । गहि । त्वम् । सूर्यस्य । रश्मि-भिः । त्वम् । नः । असि । यज्ञिया ॥१॥

भाषार्थ—(मेधे) हे धारणावती बुद्धि वा संपत्ति ! (प्रथमा) प्रख्यात (त्वम्) तू (गोभिः) गौओं और (अश्वेभिः) घोड़ों के साथ (नः) हमको (आ गहि) प्राप्त हो। (त्वम्) तू (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) फैलने वाली किरणों के साथ वर्तमान, और (त्वम्) तू (नः) हमारी (यज्ञिया) पूजनीय (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य के समान प्रख्यात स्मरणशील बुद्धि और श्रेष्ठ धन प्राप्त करके सांसारिक और पारमार्थिक व्यवहार सिद्ध करें ॥१॥

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥ २ ॥

मेधाम् । अहम् । प्रथमाम् । ब्रह्मण्-वतीम् । ब्रह्म-जूताम् । ऋषि-स्तुताम् । प्र-पीताम् । ब्रह्मचारि-भिः । देवानाम् । अवसे । हुवे ॥२॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (प्रथमाम्) पहिली [अति श्रेष्ठ] (ब्रह्मण्वतीम्) ब्रह्म अर्थात् ईश्वर, वा वेद वा अन्न वा धन की धारण करनेवाली, (ब्रह्मजूताम्) ब्राह्मणों, ब्रह्मज्ञानियों से प्राप्त वा प्रीति की गयी, (ऋषिष्टुताम्) ऋषियों,

१—(त्वम्) (नः) अस्मान् (मेधे) मिधृ मेधृ संगमे च, चकारात् हिंसामेधयोश्च—घञ्। मेधा धननाम—निघ० २। १०। मेधावी कस्मान्मेधया तद्वान् भवति मेधा मतौ धीयते—निरु० ३। १९। हे धारणावति बुद्धे हे धन (प्रथमा) प्रख्याता। मुख्या (गोभिः) गवादिपशुभिः (अश्वेभिः) अश्वैः। अश्वादिवहनशीलैः (सूर्यस्य) प्रेरकस्य। आदित्यस्य (रश्मिभिः) व्यापनशीलैः किरणैः (नः) अस्माकम् (असि) वर्तसे (यज्ञिया) यज्ञ—घ। यज्ञार्हा पूजनीया ॥

२—(मेधाम्) म० १। सत्यधारणावतीं बुद्धिं सम्पत्तिं वा (प्रथमाम्) श्रेष्ठाम् (ब्रह्मण्वतीम्) मादुपधायाश्च०। पा० ८। २। ९। इति मतुपो वत्वम्। अनोनुट्। पा० ८। २। १६। इति नुडागमः। ब्रह्म—अन्नम्—निघ० २। ७। धनम्—

वेदार्थ जानने वाले मुनियों से स्तुति की गई, (ब्रह्मचारिभिः) ब्रह्मचारियों अर्थात् वेदपाठी और वीर्यनिग्राहक पुरुषों से (प्रपीताम्) अच्छे प्रकार पान की गयी (मेधाम्) सत्यधारणा करने वाली बुद्धि वा संपत्ति को (देवानाम्) दिव्य गुणों की (अवसे) रक्षा के लिये (हुवे) आवाहन करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद आदि शास्त्र और ऋषि, मुनि, महात्माओं के इतिहासों के विचार से सदा स्मरण वाली बुद्धि और ऐश्वर्य प्राप्त करके संसार में उन्नति करें ॥२॥

यां मे॒धामृ॒भवो॑ वि॒दुर्यां मे॒धामसु॑रा वि॒दुः ।
ऋष॑यो भ॒द्रां मे॒धां यां वि॒दुस्तां मय्या वे॑शयामसि ॥३॥

याम् । मे॒धाम् । ऋ॒भवः॑ । वि॒दुः । याम् । मे॒धाम् । असु॑राः । वि॒दुः । ऋष॑यः । भ॒द्राम् । मे॒धाम् । याम् । वि॒दुः । ताम् । मयि॑ । आ । वे॒श॒या॒म॒सि॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस (मेधाम्) शुभगुण धारण करने वाली बुद्धि वा सम्पति को (ऋभवः) सत्य के साथ चमकने वाले महात्मा (विदुः) जानते हैं, (याम्) जिस (मेधाम्) धारणावती बुद्धि वा सम्पत्ति को (असुराः) बड़े बुद्धिमान पुरुष (विदुः) जानते हैं। (याम्) जिस (भद्राम्) कल्याण करने वाली (मेधाम्) निश्चल बुद्धि वा सम्पत्ति को (ऋषयः) ऋषि लोग

—२। १०। ईश्वरवेदाध्ययनैर्युक्ताम् (ब्रह्मजूताम्) जु गतौ प्रीतौ च—क्त। जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा देवजूतं देवगतं देवप्रीतं वा—निरु० १०। २८। ब्राह्मणैः प्राप्तां प्रीतां वा (ऋषिष्टुताम्) ऋषिः—अ० २। ६। १। वेदार्थदर्शिभिर्मुनिभिः प्रशंसितम् (प्रपीताम्) प्रपूर्वात् पिबतेः—क्त, घुमास्था०। पा० ६। ४। ६६। ईत्वम्। कृतपानाम्। सेविताम् (ब्रह्मचारिभिः) ब्रह्म+चर—णिनि। वेदपाठिभिर्वीर्यनिग्रहीतृभिः (देवानाम्) दिव्यगुणानाम् (अवसे) रक्षणाय (हुवे) आह्वयामि ॥

३—(याम्) (मेधाम्) म० १। निश्चलां बुद्धिं सम्पत्तिं वा (ऋभवः) अ० १। २। ३। ऋतेन भान्तीति वा—निरु० ११। १५। (विदुः) विदन्ति। जानन्ति (असुराः) प्रज्ञावन्तः—निरु० १०। ३४। (ऋषयः) सन्मार्गदर्शकाः

(विदुः) जानते हैं (ताम्) उसी को (मयि) अपने में (आ) सब ओर से (वेशयामसि) हम स्थापित करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े आप्त विज्ञानी पुरुषों के समान निश्चल बुद्धि और सम्पत्ति प्राप्त करके धर्म के आचरण के साथ सदा उपकार करें ॥ ३ ॥

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।

तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ ४ ॥

याम् । ऋषयः । भूत-कृतः । मेधाम् । मेधाविनः । विदुः ।

तया । माम् । अद्य । मेधया । अग्ने । मेधाविनम् । कृणु ॥४॥

भाषार्थ—(याम्) जिस (मेधाम्) धारणावती बुद्धि वा सम्पत्ति को (भूतकृतः) उचित कर्म करने वाले, (मेधाविनः) उत्तमबुद्धि वा सम्पत्ति वाले (ऋषयः) ऋषि लोग (विदुः) जानते हैं । (अग्ने) हे विद्या प्रकाशक परमेश्वर वा आचार्य ! (तया मेधया) उसी धारणावती बुद्धि वा सम्पत्ति से (माम्) मुझको (अद्य) आज (मेधाविनम्) उत्तमबुद्धि वा सम्पत्ति वाला (कृणु) कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना और आप्त धर्मज्ञ विद्वानों की सेवा से शुद्ध विज्ञान प्राप्त करके उन्नति करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३२ । म० १४ ।

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि ।

मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥ ५ ॥

(भद्राम्) कल्याणीम् । वेदशास्त्रादिविषयाम् (मयि) आत्मनि (आ) समन्तात् (वेशयामसि) प्रवेशयामः । स्थापयामः ॥

४—(याम्) (ऋषयः) अ० २ । ६ । १ । साक्षात्कृतधर्माणः (भूतकृतः) भूतमुचितं कर्म कुर्वन्ति ते (मेधाम) धारणावतीं बुद्धिं सम्पत्तिं वा (मेधाविनः) धीमन्तः, ऐश्वर्यवन्तः (विदुः) साक्षात्कुर्वन्ति (तया) (माम्) उपासकम् (अद्य) अस्मिन् दिने (मेधया) धारणावत्या बुद्ध्या सम्पत्त्या वा (मेधाविनम्) बुद्धिमन्तं धनिनं वा (कृणु) कुरु ॥

मे॒धाम् । सा॒यम् । मे॒धाम् । प्रा॒तः । मे॒धाम् । म॒ध्यन्दि॑नम् । परि॑ ।
मे॒धाम् । सूर्य॑स्य । र॒श्मिऽभिः॑ । वच॑सा । आ । वे॒श॒या॒म॒हे॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(मेधाम) शुभ गुण वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (सायम्) सायंकाल, (मेधाम्) शास्त्रादि विषयवाली बुद्धि वा संपत्ति को (प्रातः) प्रातःकाल, (मेधाम्) धर्म का स्मरण रखने वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (मध्यन्दिनम् परि) मध्याह्न समय में, (मेधाम्) सत्य व्यवहार वाली बुद्धि वा संपत्ति को (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) फैलने वाली किरणों के साथ (वचसा) परस्पर बात चीत से (आ) भले प्रकार (वेशयामहे) हम स्थापित करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सोते, जागते, और कर्म करते धार्मिक बुद्धि और सम्पत्ति को सूर्य के प्रकाश के समान विस्तीर्ण करके आनन्द प्राप्त करें ॥५॥

सूक्तम् ॥ १०९ ॥

१-३ ॥ पिप्पली देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

पि॒प्प॒ली क्षि॑प्तभेष॒ज्यु३॒॑ताति॑विद्धभेष॒जी ।
तां दे॒वाः सम॑कल्पयन्नि॒यं जीवि॑त॒वा अल॑म् ॥ १ ॥

पि॒प्प॒ली । क्षि॒प्त॒ऽभे॒ष॒जी । उ॒त । अ॒ति॒वि॒द्ध॒ऽभे॒ष॒जी । ताम् ।
दे॒वाः । सम् । अ॒क॒ल्प॒य॒न् । इ॒यम् । जीवि॑त॒वै । अल॑म् ॥१॥

५—(मेधाम्) शुभगुणवतीं बुद्धिं सम्पत्तिं वा (सायम्) सायंकाले (मेधाम्) शास्त्रादिविषयां बुद्धिं सम्पत्तिं वा (प्रातः) प्रातःकाले (मेधाम्) धर्म्मस्मरणशीलां बुद्धिं सम्पत्तिं वा (मध्यन्दिनम्) दिनस्य मध्यं राजदन्तादित्वात् पूर्वनिपातः । पृषोदरादित्वान्नकारागमः । मध्याह्नम् (परि) लक्षणेत्थंभूताख्यान० पा० १ । ४ । ९० । इति इत्थंभूताख्याने कर्मप्रवचनीयत्वम् । प्रति (मेधाम्) सत्यव्यवहारां बुद्धिं सम्पत्तिं वा (सूर्यस्य) आदित्यस्य (रश्मिभिः) व्यापकैः किरणैः (वचसा) परस्परसम्वादेन (आ) समन्तात् (वेशयामहे) आत्मनि स्थापयामः ॥

भाषार्थ—(पिप्पली) पालन करने वाली, पिप्पली [ओषधि विशेष] (क्षिप्तभेषजी) विक्षिप्त, उन्मत्त की ओषधि, (उत) और (अतिविद्धभेषजी) बड़े घाव वाले की ओषधी है। (देवाः) विद्वानों ने (ताम्) उसको (सम् अकल्पयन्) अच्छे प्रकार माना है कि (इयम्) यह (जीवितवै) जिलाने के लिये (अलम्) समर्थ है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पीपली, ओषधि विशेष के सेवन से अनेक रोग की निवृत्ति होती है, वैसे ही मनुष्य कर्मों के फल भोग से सुख पावें ॥१॥

पिप्पली के गुण ज्वर, कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, अर्श, प्लीह, शूल, आम आदि रोगों का नाश करना है—शब्दकल्पद्रुम ॥

पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥ २ ॥

पिप्पल्यः । सम् । अवदन्त । आ-यतीः । जननात् । अधि ।
यम् । जीवम् । अश्नवामहै । न । सः । रिष्याति । पुरुषः ॥२॥

भाषार्थ—(पिप्पल्यः) पीपली ओषधियों ने (जननात् अधि) जन्म से ही (आयतीः) आती हुयी (सम्) आपस में (अवदन्त) बातचीत की (यम्) जिस (जीवम्) जीव को (अश्नवामहै) हम प्राप्त होवें, (सः पुरुषः) वह पुरुष (न) नहीं (रिष्याति) नष्ट होवे ॥ २ ॥

१—(पिप्पली) कलस्तृपश्च । उ० १ । १०४ । इति पा पालने, वापृ पालनपूरणयोः—कल । पृषोदरादिरूपम्, ङीष् । पालयित्री पूरयित्री वा । ओषधिविशेषा । अस्या गुणा ज्वरकुष्ठादिनाशकाः (क्षिप्तभेषजी) विक्षिप्तस्योन्मत्तस्य रोगनिवर्तिका (उत) अपि च (अतिविद्धभेषजी) व्यध ताडने—क्त । अतिक्षतस्य पुरुषस्य व्याधिनिवर्तिका (ताम्) (देवाः) वैद्याः (सम्) सम्यक् (अकल्पयन्) कल्पितवन्तः (इयम्) पिप्पली (जीवितवै) जीव प्राणधारणे णिचि तुमर्थे तवै प्रत्ययः । जीवयितुम (अलम्) समर्था । पर्य्याप्ता ॥

२—(पिप्पल्यः) म० १ । ओषधयः (सम् अवदन्त) व्यक्तवाचां समुच्चारणे । पा० १ । ३ । ४८ । इत्यात्मनेपदम् । परस्परं सम्वादं कृतवन्त्यः (आयतीः) आयत्यः । आगच्छन्त्यः (जननात्) जन्मनः प्रभृति (अधि) अधिकम् (यम्) (जीवम्) प्राणिनम् (अश्नवामहै) वयं व्याप्नवाम (न) निषेधे (सः) रिष्याति) रिष हिंसायाम्—लेट् । विनश्येत् (पुरुषः) मनुष्यः ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य परस्पर संवाद से ओषधियों की उत्पत्ति स्थान और काल का विचार करके उनके प्रयोग से रोगियों को नीरोग करते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग आपस में वार्तालाप द्वारा दोषों को हटाकर सुखी होते हैं ॥२॥

असु॑रास्त्वा॒ न्य॑खनन् दे॒वास्त्वोद॑वपुन् पुन॑ः ।
वा॒तीकृ॑तस्य भेष॒जीमथो॑ क्षि॒प्तस्य॑ भेष॒जीम् ॥ ३ ॥

असु॑राः । त्वा॒ । नि । अ॒ख॒न॒न् । दे॒वाः । त्वा॒ । उत् । अ॒व॒पन् । पुन॑ः । वा॒ती-कृ॑तस्य । भे॒ष॒जीम् । अथो॒ इति॑ । क्षि॒प्तस्य॑ । भे॒ष॒जीम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे पिप्पली] (असुराः) बुद्धिमान् पुरुषों ने (वातीकृतस्य) गठिया के रोगी की (भेषजीम्) ओषधी, (अथो) और (क्षिप्तस्य) उन्मत्त की (भेषजीम्) ओषधि (त्वा) तुझको (नि) निरन्तर (अखनन्) खोदा है और (देवाः) व्यवहार कुशल पुरुषों ने (त्वा) तुझको (पुनः) फिर (उत्) उत्तम रीति से (अवपन्) बोया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य परीक्षा करके पिप्पली आदि ओषधियों को खोदते और बोते और काम में लाते हैं, वैसेही विद्वान् पुरुष विद्या का सुप्रयोग करते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥ ११० ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यवर्धनायोपदेशः—ऐश्वर्य बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

प्र॒त्नो हि क॒मीड्यो॑ अध्व॒रेषु॑ स॒नाच्च॒ होता॒ नव्य॑श्च॒ सत्सि॑ । स्वां चा॑ग्ने त॒न्वं॑ पि॒प्राय॑स्वा॒स्मभ्यं॑ च॒ सौभ॑-ग॒मा य॑जस्व ॥ १ ॥

३—(असुराः) प्रज्ञावन्तः (त्वा) पिप्पलीम् (नि) निरन्तरम् (अखनन्) खननेन प्राप्तवन्तः (देवाः) व्यवहारकुशलाः (उत्) उत्कर्षेण (अवपन्) डुवप् बीजतन्तुसन्ताने । रोपितवन्तः (वातीकृतस्य) वातरोगग्रस्तस्य पुरुषस्य (भेषजीम्) भयनिवर्तिकाम् (अथो) अपि च (क्षिप्तस्य) विक्षिप्तस्य (भेषजीम्) ओषधिम् ॥

प्रत्नः । हि । कम् । ईड्यः । अध्वरेषु । सनात् । च । होता ।
नव्यः । च । सत्सि । स्वाम् । च । अग्ने । तन्वम् । पिप्रायस्व ।
अस्मभ्यम् । च । सौभगम् । आ । यजस्व ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् आचार्य ! (प्रत्नः) प्राचीन, [अनुभवी] (च) और (नव्यः) नूतन [उद्योगी,] (ईड्यः) स्तुतियोग्य (च) और (होता) दाता होकर (सनात्) सदा से (अध्वरेषु) सन्मार्ग देने वाले वा हिंसा रहित व्यवहारों में (हि) अवश्य (कम्) सुख से (सत्सि) तू बैठता है । (च) निश्चय करके (स्वाम्) अपने (तन्वम्) शरीर को (पिप्रायस्व) प्रीतियुक्त कर (च) और (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (सौभगम्) अनेक सुन्दर ऐश्वर्य (आ) आकर (यजस्व) दान कर ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य वृद्ध, अनुभवी उत्साही, उत्तम आचार्य से नम्रता पूर्वक उत्तम शिक्षा ग्रहण करके अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ८ । ११ । १० ॥

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् । अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ २ ॥

ज्येष्ठ-घ्न्याम् । जातः वि-चृतोः । यमस्य मूल-बर्हणात् ॥
परि । पाहि । एनम् । अति । एनम् । नेषत् । दुः-इतानि ।
विश्वा । दीर्घायु-त्वाय । शत-शारदाय ॥ २ ॥

१—(प्रत्नः) नश्च पुराणे प्रात् । वा० पा० ५ । ४ । २५ । इति प्र—त्नप् । प्रत्नः पुराणः—निरु० १२ । ३२ । प्राचीनः । अनुभवी (हि) अवश्यम् (कम्) सुखेन (ईड्यः) स्तुत्यः (अध्वरेषु) अ० ३ । १६ । ६ । सन्मार्गदातृषु हिंसा—रहितेषु वा व्यवहारेषु (सनात्) नित्यम् (च) समुच्चये । अवधारणे (होता) दाता (नव्यः) अचो यत् । पा० १ । ३ । ९७ । णु स्तुतौ—यत् । नूतनः । पुरुषार्थी (सत्सि) सीदसि (स्वाम्) स्वकीयाम् (अग्ने) हे विद्वन् । आचार्य (तन्वम्) शरीरम् (पिप्रायस्व) प्री प्रीतौ णिचि छान्दसं रूपम् । प्रसन्नां कुरु (अस्मभ्यम्) सेवकेभ्यः (सौभगम्) समूहे—अण् । बह्वैश्वर्याणां समूहम् (आ) आगत्य (यजस्व) देहि ॥

भाषार्थ—(ज्येष्ठघ्न्याम्) ज्येष्ठ अर्थात् अतिवृद्ध वा उत्तम ब्रह्म को प्राप्त करने वाली क्रिया में (जातः) प्रसिद्ध तू (विचृतोः) अन्धकार से छुड़ाने वाले, सूर्य और चन्द्रमा के (यमस्य) नियम के (मूलबर्हणात्) मूल छेदन से (एनम्) इस जीव को (परि पाहि) सब प्रकार बचा। (विश्वा) सब (दुरितानि) विघ्नों को (अति=अतीत्य) उलांघ कर (शतशारदाय) सौ वर्ष वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (एनम्) इस [प्राणी] को (नेषत्) आप ले चलें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य श्रेष्ठजनों के अनुकरण से पुरुषार्थ के साथ विघ्नों को हटा कर सूर्य और चन्द्रमा के समान सदा नियम में चलकर यश प्राप्त करे ॥ २ ॥

व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः । स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम् ॥ ३ ॥

व्याघ्रे । अह्नि । अजनिष्ट । वीरः । नक्षत्र-जाः । जायमानः । सु-वीरः । सः । मा । वधीत् । पितरम् । वर्धमानः । मा । मातरम् । प्र । मिनीत् । जनित्रीम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वीरः) यह वीर पुरुष (नक्षत्रजाः) नक्षत्र के समान गति,

२—(ज्येष्ठघ्न्याम्) बहुलं छन्दसि । पा० । ३ । २ । ८८ । इति ज्येष्ठ+हन् गतौ—क्विप् । ऋन्नेभ्यो ङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप् । अल्लोपोऽनः । पा० ६ । ४ । १३४ । इत्यकारलोपः । ज्येष्ठं वृद्धतमं प्रशस्यतमं वा ब्रह्म हन्ति प्राप्नोति यया तस्यां क्रियायाम् (जातः) प्रसिद्धः (विचृतोः) अ० २ । ८ । १ । अन्धकाराद् विमोचयित्रोः सूर्याचन्द्रमसोः (यमस्य) नियमस्य (मूलबर्हणात्) बर्ह हिंसायाम्—ल्युट् । मूलच्छेदनात् (परि) सर्वतः (पाहि) रक्ष (एनम्) जीवम् (अति) अतीत्य (एनम्) प्राणिनम् (नेषत्) नयतु भवान् (दुरितानि) विघ्नान् (विश्वा) सर्वाणि (दीर्घायुत्वाय) चिरकालजीवनाय (शतशारदाय) अ० १ । ३५ । १ । शतसम्वत्सरयुक्ताय ॥

३—(व्याघ्रे) अ० ४ । २ । १ । सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम्...व्याघ्रो

उपाय उत्पन्न करने वाला (सुवीरः) महावीर (जायमानः) होता हुआ (व्याघ्रः) व्याघ्र के समान बलवान् (अह्नि) दिन में [माता पिता के बल के समय] (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है। (सः) वह (वर्धमानः) बढ़ता हुआ (पितरम्) पिता को (मा वधीत्) न मारे और (जनित्रीम्) जन्म देने वाली (मातरम्) माता को (मा प्र मिनीत्) कभी न सतावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—शूरवीर पुरुष सुशिक्षित बलवान् माता से जन्म पाकर उनको कष्ट से बचा कर सदा सुखी रख कर अपना सौभाग्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १११ ॥

१-४ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ पङ्क्तिः ; २-४ अनुष्टुप् ॥

मानसविकारनाशोपदेशः—मानसविकार के नाश का उपदेश ॥

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्यूयं यो बद्धः सुयतो लालपीति। अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति ॥१॥

इमम्। मे। अग्ने। पुरुषम्। मुमुग्धि। अयम्। यः। बद्धः। सु-यतः। लालपीति। अतः। अधि। ते। कृणवत्। भाग-धेयम्। यदा। अनुत्-मदितः। असति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (मे) मेरे लिये (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को [आत्मा को] (मुमुग्धि) मुक्त कर, (अयम् यः) यह जो

व्याघ्रणाद् व्यादाय हन्तीति वा—निरु० ३। १८। व्याघ्रतुल्ये बलवति (अह्नि) दिने। काले (अजनिष्ट) जातोऽभूत् (वीरः) वीर्योपेतः (नक्षत्रजाः) जनसनखनक्रमगमो विट्। पा० ३। २। ६७। इति नक्ष+जन जनने विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात् पा० ६। ४। ४१। इत्यात्वम्। नक्षत्रसमानां गतिमुपायं जनयति यः सः (जायमानः) उत्पद्यमानः (सुवीरः) अतिशूरः (सः) (मा वधीत्) मा हन्तु (पितरम्) पालकं जनकम् (वर्धमानः) वृद्धिं कुर्वन् (मातरम्) मानकर्त्रीम् (मा प्र मिनीत्) मीञ् हिंसायाम्, लिङि तिपि छान्दसं रूपम्। मा प्र मीनीयात् न दुःखयेत् (जनित्रीम्) जनयित्रीम्। जननीम् ॥

१—(इमम्) समीपस्थम् (मे) मह्यम् (अग्ने) विद्वन् (पुरुषम्) आत्मानम् (मुमुग्धि) मोचय (अयम्) (यः) (बद्धः) बन्धं गतः (सुयतः)

[जीव] (बद्धः) बंधा हुआ और (सुयतः) बहुत जकड़ा हुआ (लालपीति) अत्यन्त बर्राता है। (अतः) फिर यह (ते) तेरे (भागधेयम्) सेवनीय भाग को (अधि) अधिकार पूर्वक (कृणवत्) करे, (यदा) जब वह (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (असति) हो जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से दुष्टकर्म छोड़ कर सावधान होकर धार्मिक कर्म करें ॥ १ ॥

अ॒ग्निष्टे॒ नि शा॑मयतु॒ यदि॑ ते॒ मन॒ उद्यु॑तम् ।
कृ॒णोमि॑ वि॒द्वान् भे॑ष॒जं यथानु॑न्मदि॒तोऽस॑सि ॥२॥

अ॒ग्निः । ते॒ । नि । श॒म॒य॒तु॒ । यदि॑ । ते॒ । मनः॑ । उत्-यु॑तम् । कृ॒णोमि॑ । वि॒द्वान् । भे॒ष॒जम् । यथा॑ । अनु॑त्-मदितः । अस॑सि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) विद्वान् पुरुष (ते) तेरे [मन को] (नि शमयतु) शान्त करता रहे, (यदि) जब (ते मनः) तेरा मन (उद्युतम्) व्याकुल होवे। (विद्वान्) विद्वान् मैं (भेषजम्) औषध (कृणोमि) करता हूं; (यथा) जिससे तू (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (अससि) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों से शिक्षा पाकर अपनी रोग निवृत्ति करें ॥२॥

दे॒वैन॒सादुन्म॑दित॒मुन्म॑त्तं॒ रक्ष॑स॒स्परि॑ ।
कृ॒णोमि॑ वि॒द्वान् भे॑ष॒जं य॒दानु॑न्मदि॒तोऽस॑ति ॥३॥

यम उपरमे-क्त। दृढप्रतिरुद्धः (लालपीति) भृशं प्रलपति (अतः) मोचनानन्तरम् (अधि) अधिकृत्य (ते) तव (कृणवत्) कुर्य्यात् (भागधेयम्) सेवनीयं कर्म (यदा) (अनुन्मदितः) अनुन्मत्तः उन्मादरहितः (असति) भवेत् ॥

२—(अग्निः) विद्वान् पुरुषः (ते) तव (मनः) (नि शमयतु) नितरां शान्तं करोतु (यदि) सम्भावनायाम् (ते मनः) (उद्युतम्) युञ् बन्धने—क्त। उद्विग्नम् (कृणोमि) करोमि (विद्वान्) विज्ञोऽहम् (भेषजम्) औषधम् (यथा) येन प्रकारेण (अनुन्मदितः) चित्तभ्रमरहितः (अससि) भूयाः ॥

देव-एनसात्। उत्-मदितम्। उत्-मत्तम्। रक्षसः। परि। कृणोमि।
विद्वान्। भेषजम्। यदा। अनुत्-मदितः। असति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवैनसात्) विद्वानों के लिये [किये] पाप से (उन्मदितम्) उन्मत्त, अथवा (रक्षसः) राक्षस [दुःखदायी जीव वा रोग] से (उन्मत्तम् परि) उन्मत्त पुरुष के लिये (विद्वान्) विद्वान् मैं (भेषजम्) औषध (कृणोमि) करता हूं (यदा) जिस से वह (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (असति) हो जावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुःखों वा रोगों के कारणों को विचार कर उनकी निवृत्ति करे ॥ ३ ॥

पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः ।
पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवा यथानुन्मदितोऽससि ॥ ४ ॥

पुनः। त्वा। दुः। अप्सरसः। पुनः। इन्द्रः। पुनः। भगः। पुनः।
त्वा। दुः। विश्वे। देवाः। यथा। अनुत्-मदितः। अससि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे रोगी !] (अप्सरसः) आकाश, जल वा प्रजाओं में रहने वाली बिजुलियां (त्वा) तुझको [विद्वानों में] (पुनः) फिर (दुः) देवें, (इन्द्रः) सूर्य (पुनः) फिर, (भगः) चन्द्रमा (पुनः) फिर [देवे] (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम पदार्थ (त्वा) तुझे (पुनः) फिर (दुः) देवें, (यथा) जिससे तू (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (अससि) होवे ॥ ४ ॥

३—(देवैनसात्) अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि । पा० ५ । ४ । १०३ । इति टच्, समासान्तः । देवेभ्यः कृतात् पापात् (उन्मादितम्) भ्रमितचित्तपुरुषम् (उन्मत्तम्) उन्मादविशिष्टम् (रक्षसः) राक्षसात् । दुःखदायिनो जीवाद् रोगाद् वा (परि) प्रति । प्राप्य (यदा) यस्य दः । यथा (असति) भवेत् ॥

४—(पुनः) रोगशान्त्यनन्तरम् (त्वा) त्वां रोगिणम् (दुः) डुदाञ् दाने विधि लिङ् छान्दसं रूपम् । दद्युः (अप्सरसः) अ० ४ । ३७ । २ । अप्सु आकाशे प्रजासु च सरणशीला विद्युतः (इन्द्रः) सूर्यः (भगः) चन्द्रः (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यपदार्थाः । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—वैज्ञानिक पुरुष बिजुली सूर्य आदि सब पदार्थों से यथोचित उपकार लेकर स्वस्थ रह कर सुखी होवें ॥४॥

सूक्तम् ॥ ११२ ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

कुलरक्षोपदेशः—कुल की रक्षा का उपदेश ॥

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् । स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥ १ ॥

मा । ज्येष्ठम् । वधीत् । अयम् । अग्ने । एषाम् । मूल-बर्हणात् । परि । पाहि । एनम् । सः । ग्राह्याः । पाशान् । वि । चृत । प्र-जानन् । तुभ्यम् । देवाः । अनु । जानन्तु । विश्वे ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (अयम्) यह [रोग] (एषाम्) इन [पुरुषों] के बीच (ज्येष्ठम्) विद्या और वय में बहुत बड़े पुरुष को (मा वधीत्) न मारे, (एनम्) इस [पुरुष] को (मूलबर्हणात्) मूल छेदन से (परि पाहि) सर्वथा बचा । (सः) सो तू (प्रजानन्) ज्ञानी होकर (ग्राह्याः) जकड़ने वाले गठिया आदि रोग के (पाशान्) फन्दों को (विचृत) खोल दे, (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (तुभ्यम्) तुझको (अनु जानन्तु) अनुमति देवें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की सम्मति से श्रेष्ठ पुरुष की रक्षा का सदा उपाय करें ॥१॥

१—(ज्येष्ठम्) प्रशस्य वा वृद्ध-इष्ठन् । ज्य च । वृद्धस्य च । पा० ५ । ३ । ६१, ६२ । इति प्रशस्य, वृद्धस्य वा ज्य इत्यादेशः । ज्ञाने वयसि वा वृद्धतमम् (मा वधीत्) मा हन्तु (अयम्) रोगः (अग्ने) हे विद्वन् (एषाम्) गृहस्थानां मध्ये (मूलबर्हणात्) अ० ६ । ११० । २ । मूलच्छेदनात् (परि) सर्वतः (पाहि) (एनम्) ज्येष्ठम् (सः) स त्वम् (ग्राह्याः) अ० २ । ६ । १ । अङ्गग्रहीत्र्याः पीडायाः (पाशान्) बन्धान् क्लेशान् (वि चृत) चृती हिंसाग्रन्थनयोः विमुञ्च (प्रजानन्) विद्वान् (तुभ्यम्) विदुषे (देवाः) विद्वांसः (अनु जानन्तु) अनुमतिं ददतु (विश्वे) सर्वे ॥

उन्मु॑ञ्च॒ पाशां॒स्त्वम॑ग्न ए॒षां त्रय॑स्त्रि॒भिरुत्सि॑ता॒ येभि॒रास॑न् । स ग्राह्याः॒ पाशा॒न् वि चृ॑त प्रजा॒नन् पि॒ता॒पु॒त्रौ मा॒तरं॑ मुञ्च॒ सर्वा॑न् ॥ २ ॥

उत् । मु॒ञ्च॒ । पाशा॑न् । त्वम् । अ॒ग्ने॒ । ए॒षाम् । त्रयः॑ । त्रि॒ऽभिः॑ । उत्ऽसि॑ताः । येभिः॑ । आस॑न् । सः । ग्राह्याः॑ । पाशा॑न् । वि । चृ॒त॒ । प्र॒ऽजा॒नन् । पि॒ता॒पु॒त्रौ । मा॒तर॑म् । मु॒ञ्च॒ । सर्वा॑न् ॥२॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (त्वम्) तू (एषाम्) इन [पिता पुत्र और माता] के (पाशान्) फन्दों को (उन्मुञ्च) खोल दे, (त्रयः) जो तीनों (एभिः) जिन (त्रिभिः) तीनों [ऊंचे, नीचे, मध्यम पाशों] से (उत्सिताः) जकड़े हुये (आसन्) हैं। (सः) से तू (प्रजानन्) ज्ञानी होकर (ग्राह्याः) जकड़ने वाले गठिया आदि रोग के (पाशान्) फन्दों को (वि चृत) खोल दे, (पितापुत्रौ) पिता पुत्र, (मातरम्) माता, (सर्वान्) सब को (मुञ्च) [दुःख से] मुक्त कर ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के अनुशासन से माता पिता पुत्र आदि सब की यथा योग्य रक्षा करें ॥२॥

येभिः॒ पाशैः॒ परि॑वित्तो॒ विब॒द्धोऽङ्गे॑अङ्ग॒ आर्पि॑त॒ उत्सि॑तश्च । वि ते मु॑च्यन्तां वि॒मुचो॒ हि सन्ति॑ भ्रूण॒घ्नि पू॑षन् दुरि॒तानि॑ मृक्ष्व ॥ ३ ॥

२—(उन्मुञ्च) वियोजय (पाशान्) क्लेशान् (त्वम्) (अग्ने) विद्वन् (एषाम्) पित्रादीनाम् (त्रयः) माता पिता पुत्र इति ये त्रयः (त्रिभिः) उत्तमाधममध्यमैः पाशैः (उत्सिताः) षिञ् बन्धने—क्त। उत्कर्षेण बद्धाः (येभिः) यैः (आसन्) लडर्थे-लङ्। सन्ति (पितापुत्रौ) आनङ् ऋतो द्वन्द्वे। पा० ६।३।२५। इति पूर्वपदस्य आनङ्। पिता च पुत्रश्च (मातरम्) जननीम् (मुञ्च) दुःखाद् विमोचय (सर्वान्)। अन्यद् गतम् ॥

येभिः । पाशैः । परि-वित्तः । वि-बद्धः । अङ्गे-अङ्गे । आर्पितः । उत्सितः । च । वि । ते । मुच्यन्ताम् । वि-मुचः । हि । सन्ति । भ्रूण-घ्नि । पूषन् । दुः-इतानि । मृक्ष्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(परिवित्तः) विवाहित छोटे भाई का विना विवाहित बड़ा भाई (येभिः) जिन (पाशैः) फन्दों से (अङ्गे-अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में (विबद्धः) बंधा हुआ, (आर्पितः) दुखाया गया (च) और (उत्सितः) जकड़ा गया है। (ते) वे [फन्दे] (विमुच्यन्ताम्) खुल जावें, (हि) क्योंकि वे (विमुचः) खुलने योग्य (सन्ति) हैं, (पूषन्) हे पोषण करने वाले विद्वान् ! (भ्रूणघ्नि) स्त्री के गर्भघाती रोग में [वर्तमान] (दुरितानि) कष्टों को (मृक्ष्व) दूर कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रयत्न करें कि सब सन्तान गुणी होकर अपने अपने समय पर विवाहित होकर सुखी होवें और यथावत् ब्रह्मचर्य सेवन से कुल में गर्भ पतन आदि रोग न होवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ११३ ॥

१-३ ॥ त्रितो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पापशोधनोपदेशः—पाप शुद्ध करने का उपदेश ॥

त्रिते दे॒वा अ॑मृजतै॒तदेन॑स्त्रि॒त ए॑नन्मनु॒ष्ये॑षु ममृजे ।
ततो॒ यदि॑ त्वा॒ ग्राहि॑रान॒शे तां ते॑ दे॒वा ब्रह्म॑णा नाशयन्तु ॥ १ ॥

३—(येभिः) यैः (पाशैः) बन्धैः (परिवित्तः) परि+विद ज्ञाने-क्त । परिविण्णः । परिवित्तिः । कृतविवाहस्यानूढज्येष्ठभ्राता (विबद्धः) विविधं बद्धः (अङ्गे अङ्गे) सर्वाङ्गे (आर्पितः) आङ्+ऋ हिंसयाम्, णिचि क्त । आर्तिं पीडां प्रापितः (उत्सितः) म० २ । अतिशयेन बद्धः (च) (ते) पाशाः (विमुच्यन्ताम्) विसृज्यन्ताम् । (विमुचः) सम्पदादिः क्विप् । विमोचनीयाः पाशाः (हि) यस्मात्कारणात् (सन्ति) वर्तन्ते (भ्रूणघ्नि) भ्रूण आशाविशङ्कयोः—घञ् । ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् । पा० ३ । २ । ८७ । इति भ्रूण+हन—क्विप् । स्त्रीगर्भघातिनि रोगे वर्तमानानि (दुरितानि) कष्टानि (मृक्ष्व) मृजू शौचालङ्कारयोः । शोधय । दूरीकुरु ॥

त्रिते । देवाः । अमृजत । एतत् । एनः । त्रितः । एनत् । मनुष्येषु । ममृजे । ततः । यदि । त्वा । ग्राहिः । आनशे । ताम् । ते । देवाः । ब्रह्मणा । नाशयन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्रिते) तीनों कालों वा लोकों में फैले हुये त्रित परमात्मा के बीच [वर्तमान] (देवाः) विद्वानों ने (एतत्) इस (एनः) पाप को (अमृजत) शुद्ध किया है, (त्रितः) त्रिलोकीनाथ त्रित परमेश्वर ने (एनत्) इस [पाप] को (मनुष्येषु) मनुष्यों में [ज्ञान द्वारा] (ममृजे) शोधा है। [हे मनुष्य !] (ततः) इस पर भी (यदि) जो (त्वा) तुझको (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीड़ा [गठिया आदि] ने (आनशे) घेर लिया है, (देवाः) विद्वान् लोग (ते) तेरा (ताम्) उस [पीड़ा] को (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (नाशयन्तु) नाश करें ॥१॥

भावार्थ—परमात्मा ने वेद द्वारा मनुष्य को पाप नाश का उपाय बताया है, यह बात साक्षात् करके विद्वानों ने अपने दोष नाश किये हैं, इतना जानने पर भी यदि मनुष्य पाप में फंसे तो विद्वानों से पूछकर दोष निवृत्ति करें ॥१॥

मरीचीर्धूमान् प्र विशानु पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान् । नदीनां फेनाँ अनु तान् वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व ॥ २ ॥

१—(त्रिते) अ० ५ । १ । १ । त्रि+तनु विस्तारे—ड । त्रिषु कालेषु लोकेषु वा विस्तीर्णे परमेश्वरे वर्त्तमानाः (देवाः) विद्वांसः (अमृजत) मृजू शौचालङ्कारयोः । शोधितवन्तः (एतत्) आत्मनि वर्त्तमानम् (एनः) अ० २ । १० । ८ । पापम् (त्रितः) त्रिलोकीनाथः (एनत्) पापम् (मनुष्येषु) (ममृजे) मृष्टवान् (ततः) तदनन्तरमपि (यदि) (त्वा) (ग्राहिः) अ० २ । ६ । १ । अङ्गग्रहीत्री पीडा (आनशे) अश्नोतेश्च । पा० ७ । ४ । ७२ । इत्यभ्यासादुत्तरस्य नुट् । व्याप (ताम्) ग्राहिम् (ते) तव (देवाः) विद्वांसः (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (नाशयन्तु) ॥

मरीचीः। धूमान्। प्र। विश। अनु। पाप्मन्। उत्-आरान्। गच्छ। उत। वा। नीहारान्। नदीनाम्। फेनान्। अनु। तान्। वि। नश्य। भ्रूण-घ्नि। पूषन्। दुः-इतानि। मृक्ष्व ॥२॥

भाषार्थ—(पाप्मन्) हे पाप ! तू (मरीचीः) किरणों और (धूमान्) धूमों का (अनु) अनुकरण करके (प्र विश) प्रवेश कर, (उत) और (उदारान्) बड़े दाता वा ऊपर चढ़ने वाले मेघों (वा) और (नीहारान्) कोहरों को (गच्छ) प्राप्त हो। (नदीनाम्) नदियों के (तान्) उन (फेनान्) फेनों के (अनु) पीछे पीछे (वि नश्य) विनष्ट हो जा। (पूषन्) हे पोषण करने वाले विद्वान् ! (भ्रूणघ्नि) स्त्री के गर्भघाती रोग में [वर्त्तमान] (दुरितानि) कष्टों को (मृक्ष्व) दूर कर ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य, किरणों, धूम, मेघ, कुहरे और जल फेन की सूक्ष्मता और शीघ्र गति के अनुसार ब्रह्मचर्य आदि तप द्वारा सूक्ष्म पापों को बहुत शीघ्र नष्ट करके सुखी होवे ॥२॥

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि । ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥३॥

द्वादश-धा। नि-हितम्। त्रितस्य। अप-मृष्टम्। मनुष्य-एनसानि। ततः। यदि। त्वा। ग्राहिः। आनशे। ताम्। ते। देवाः। ब्रह्मणा। नाशयन्तु ॥ ३ ॥

२—(मरीचीः) अ० ४। ३८। ५। अन्धकारनाशकान् किरणान् (धूमान्) अ० ६। ७६। ४। अग्निना काष्ठजातान् पदार्थान् (प्रविश) (अनु) अनुकृत्य (पाप्मन्) अ० ३। ३१। १। पाति यस्मात्। हे पाप (उदारान्) उत्+आ+रा दाने क, यद्वा, उत् + ऋ गतिप्रापणयोः—घञ्। उत्कृष्टं समन्तात् जलस्य दातॄन् ऊर्ध्वं गतान् वा मेघान् (उत) (वा) चार्थे (नीहारान्) निपूर्वात् हरतेर्घञ्। उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्। पा० ६। ३। १२२। इति दीर्घः। अवश्यायान् (नदीनाम्) सरिताम् (फेनान्) अ० १। ८। १। बुद्बुदाकारान् पदार्थान् (अनु) अनुसृत्य (तान्) प्रसिद्धान् (वि नश्य) अदृष्टं भव। अन्यद् गतम्—अ० ६। ११२। ३॥

भाषार्थ—(द्वादशधा) बारह [मन और बुद्धि सहित पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों] में (निहितम्=०-तानि) ठहरे हुये (मनुष्यैनसानि) मनुष्यों के पाप (त्रितस्य—त्रितेन) त्रित परमेश्वर करके [वेद द्वारा] (अपमृष्टम्=०—ष्टानि) शुद्ध किये गये हैं। (ततः) इस पर भी (यदि) जो......म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों के विकार से उत्पन्न पापों को वेदज्ञान द्वारा विद्वानों के सत्संग से सर्वथा शोधकर सदा सुखी रहें ॥ ३ ॥

इत्येकादशोऽनुवाकः ॥

अथद्वादशोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ ११४ ॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पापमोचनोपदेशः—पाप से मुक्ति का उपदेश ॥

यद् दे॑वा देवहे॒डनं॒ देवा॑सश्चकृ॒मा व॒यम् ।
आ॒दि॒त्या॒स्तस्मा॑न्नो यू॒यमृ॒तस्य॒र्तेन॑ मुञ्चत ॥ १ ॥

यत् । दे॒वाः । दे॒व॒-हेडनम् । देवा॑सः । च॒कृ॒म । व॒यम् । आ॒दि॒त्याः । तस्मा॑त् । नः॒ । यू॒यम् । ऋ॒तस्य॑ । ऋ॒तेन॑ । मु॒ञ्च॒त ॥१॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (देवासः) खेल करते हुये (वयम्) हम लोगों ने (यत्) जो (देवहेडनम्) विद्वानों का अनादर (चकृम) किया

३—(द्वादशधा) द्वादशसु मनोबुद्धिसहितेषु दशसु ज्ञानकर्मेन्द्रियेषु (निहितम्) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । इति बहुवचनस्यैकवचनम् । निहितानि । नितरां धृतानि (त्रितस्य) तृतीयायाः षष्ठी । त्रितेन परमेश्वरेण (अपमृष्टम्) अपमृष्टानि । शोधितानि (मनुष्यैनसानि) अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि । पा० ५ । ४ । १०३ । इति टच् । मनुष्यपापानि । अन्यद् यथा–म० १ ॥

१—(यत्) (देवाः) हे विद्वांसः (देवहेडनम्) हेडृ अनादरे—ल्युट् । विदुषामनादरम् (देवासः) देवाः क्रीडकाः (चकृम) कृतवन्तः (वयम्)

है। (आदित्याः) हे सूर्य समान तेजस्वी ! (यूयम्) तुम लोग (तस्मात्) इस [पाप] से (नः) हमको (ऋतस्य) धर्म के (ऋतेन) सत्य व्यवहार द्वारा (मुञ्चत) छुड़ाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—यदि मनुष्यों से प्रमाद के कारण विद्वानों का अनादर हो जावे, तो उनको योग्य है कि वे धार्मिक व्यवहार करके विद्वानों को प्रसन्न करें ॥१॥

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः ।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥

ऋतस्य । ऋतेन । आदित्याः । यजत्राः । मुञ्चत । इह । नः ।
यज्ञम् । यत् । यज्ञ-वाहसः । शिक्षन्तः । न । उप-शेकिम ॥२॥

भाषार्थ—(आदित्याः) हे विद्या से प्रकाशमान (यजत्राः) पूजनीय संगति योग्य पुरुषो ! (ऋतस्य) धर्म के (ऋतेन) सत्य व्यवहार से (इह)- इस [पापकर्म] में (नः) हमें (मुञ्चत) मुक्त करो। (यत्) क्योंकि (यज्ञवाहसः) हे यज्ञ अर्थात् परमेश्वर की उपासना वा शिल्पविद्या प्राप्त कराने वाले महाशयो ! (यज्ञम्) देवताओं की पूजा (शिक्षन्तः) करने की इच्छा करते हुये हम लोग (न उपशेकिम) उसे न कर सके ॥ २ ॥

मनुष्याः (आदित्याः) अ० १ । ६ । १ । सूर्यवत्तेजस्विनः (तस्मात्) पापात् (यूयम्) (ऋतस्य) धर्मस्य (ऋतेन) सत्यव्यवहारेण ॥

२—(ऋतस्य) धर्मस्य (ऋतेन) सत्यव्यवहारेण (आदित्याः) हे विद्यया प्रकाशमानाः (यजत्राः) अमिनक्षियजि० । उ० ३ । १०५ । इति यजेर्-अत्रन् । यष्टव्याः । पूजनीयाः । संगमनीयाः (मुञ्चत) वियोजयत (इह) अस्मिन् पापकर्मणि (नः) अस्मान् (यज्ञम्) देवपूजनम् (यत्) यस्मात्कारणात् (यज्ञवाहसः) वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि । उ० ४ । २२१ । इति वहेरसुन् । हे यज्ञस्य परमेश्वरोपासनस्य शिल्पज्ञानस्य वा प्रापकाः (शिक्षन्तः) शक्लृ शक्तौ सनि । सनि मीमाघुरभलभशक० । पा० ७ । ४ । ५४ । इत्यचः स्थाने इस् । अत्रलोपोऽभ्यासस्य । पा० ७ । ४ । ५८ । इत्यभ्यासलोपः । शक्तुं निष्पादयितुमिच्छन्तः (न) निषेधे (उपशेकिम) शक्लृ-लिट् । कर्त्तुं शक्ता बभूविम ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग प्रमादी आलसी पुरुषों को धार्मिक व्यवहारों में लगाकर पुरुषार्थी बनावें ॥ २ ॥

मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः ।
अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥ ३ ॥

मेदस्वता । यजमानाः । स्रुचा । आज्यानि । जुह्वतः । अकामाः । विश्वे । वः । देवाः । शिक्षन्तः । न । उप । शेकिम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यजमानाः) यजमान, ईश्वर उपासक वा पदार्थों के संयोग वियोग करने वाले विज्ञानी लोग (मेदस्वता) चिकने घृत आदि पदार्थ वाले (स्रुचा) स्रुवा [चमसे] से (आज्यानि) यज्ञ के साधन घृत, तेल आदि द्रव्यों को (जुह्वतः) होमते हुये [रहते हैं] ! (विश्वे देवाः) हे सब विद्वानो ! (वः) तुम्हारी (अकामाः) कामना न करने वाले. (शिक्षन्तः) [यज्ञ] करने की इच्छा करते हुये हम लोग (न उप शेकिम) उसे न कर सके ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वैज्ञानिक विद्वानों के समान विद्वानों का सत्कार करके विज्ञान सिद्ध ईश्वरविद्या और शिल्पविद्या को प्राप्त करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ११५ ॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पापमोचनोपदेशः—पाप से मुक्ति का उपदेश ॥

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् ।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

यत् । विद्वांसः । यत् । अविद्वांसः । एनांसि । चकृम । वयम् ।

३—(मेदस्वता) मेद मेधाहिंसनयोः—असुन् । स्निग्धपदार्थयुक्तेन (यजमानाः) ईश्वरोपासकाः । पदार्थसंयोजकवियोजका विज्ञानिनः (स्रुचा) अ० ५ । २७ । ५ । स्रु-चिक् । स्रावयन्ति गमयन्ति हविर्येन तेन । स्रुवेण । यज्ञपात्रेण (आज्यानि) अ० ५ । ८ । १ । योगक्रियासाधनानि घृततैलादिकानि (जुह्वतः) समर्पयन्तः (अकामाः) कामनारहिताः (विश्वे) सर्वे (वः) युष्माकम् (देवाः) विद्वांसः । अन्यद् यथा-मं० २ ॥

यूयम् । नः । तस्मात् । मुञ्चत । विश्वे । देवाः । स-जोषसः ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (विद्वांसः) जानते हुये, (यत्) यदि (अविद्वांसः) न जानते हुये (वयम्) हम ने (एनांसि) पाप कर्म (चकृम) किये हैं। (विश्वे देवाः) हे सब विद्वानो ! (सजोषसः) समान प्रीति युक्त (यूयम्) तुम (नः) हमें (तस्मात्) उस [अपराध] से (मुञ्चत) मुक्त करो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब प्रकार के पापों को छोड़ कर सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें ॥ १ ॥

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम् ।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥ २ ॥

यदि । जाग्रत् । यदि । स्वपन् । एनः । एनस्यः । अकरम् ।
भूतम् । मा । तस्मात् । भव्यम् । च । द्रुपदात्-इव । मुञ्चताम् ॥२

भाषार्थ—(यदि) जो (जाग्रत्) जागते हुये, (यदि) जो (स्वपन्) सोते हुये (एनस्यः) पापी मैंने (एनः) पाप (अकरम्) किया है। (भूतम्) वर्तमान प्राणी समूह (च) और (भव्यम्) भविष्यत् प्राणीसमूह (द्रुपदात् इव) काठ के बन्धन के सदृश वर्तमान (तस्मात्) उस [पाप] से (मा) मुझको (मुञ्चताम्) छोड़ावें ॥ २ ॥

१—(यत्) यदि (विद्वांसः) जानन्तः (यत्) यदि (अविद्वांसः) अजानानाः (एनांसि) अ० २ । १० । ८ । अपराधान् (चकृम) कृतवन्तः (वयम्) (यूयम्) (नः) अस्मान् (तस्मात्) अपराधात् (मुञ्चत) (विश्वे) (देवाः) (सजोषसः) अ० ३ । २२ । १ । समानप्रीतयः ॥

२—(यदि) सम्भावनायाम् (जाग्रत्) अ० ६ । ९६ । ३ । जागरणं प्राप्तः (स्वपन) निद्रां प्राप्तः (एनः) पापम् (एनस्यः) एनसि साधुः (अकरम्) अहं कृतवान् (भूतम्) लब्धसत्ताकं प्राणिजातम् (भव्यम्) भव्यगेय० । पा० ३ । ४ । ६८ । इति कर्तरि यत् । भविष्यत्सत्ताकं प्राणिजातम् (द्रुपदात) अ० ६ । ६२ । ३ । काष्ठमयपादबन्धनात् (इव) यथा (मुञ्चताम्) उभे भूतभव्ये वियोजयताम् ॥

भावार्थ—मनुष्य ऐसे अपराध कभी भी न करें जिस से वर्तमान और भविष्यत् प्राणियों को दुःख होवे ॥ २ ॥

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥ ३ ॥

द्रुपदात्-इव । मुमुचानः । स्विन्नः । स्नात्वा । मलात्-इव । पूतम् । पवित्रेण-इव । आज्यम् । विश्वे । शुम्भन्तु । मा । एनसः ॥३॥

भावार्थ—(द्रुपदात्) काष्ठ बन्धन से (मुमुचानः इव) छुटे हुये पुरुष के समान, (स्विन्नः) पसीने में डूबे हुये (स्नात्वा) स्नान करके (मलात्) मल से [छुटे हुये के] (इव) समान (पवित्रेण) शुद्ध करने वाले छन्ना वा अग्नि से (पूतम्) शुद्ध किये हुये (आज्यम् इव) घृत के समान, (विश्वे) सब [दिव्यगुण] (मा) मुझको (एनसः) पाप से (शुम्भन्तु) शुद्ध करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक सर्वथा पापों से शुद्ध रहकर सदा आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ११६ ॥

१-२ ॥ वैवस्वतो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पाप निवृत्त्युपदेशः—पाप से निवृत्ति का उपदेश ॥

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया । वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥ १ ॥

३—(द्रुपदात्) काष्ठमयबन्धात् (इव) यथा (मुमुचानः) मुच्लृ-शानच्, छान्दसो यकः श्लुः । मुच्यमानः (स्विन्नः) स्वेदयुक्तः पुरुषः (स्नात्वा) स्नानं कृत्वा (मलात्) मालिन्यात् (इव) (पूतम्) शोधितम् (पवित्रेण) शुद्धिसाधनेन वस्त्रेणाग्निना वा (इव) (आज्यम्) घृतम् (विश्वे) सर्वे देवा दिव्यगुणाः (शुम्भन्तु) शोधयन्तु (मा) माम् (एनसः) पापात् ॥

यत् । यामम् । चक्रुः । नि-खनन्तः । अग्रे । कार्षीवणाः । अन्न-विदः । न । विद्यया । वैवस्वते । राजनि । तत् । जुहोमि । अथ । यज्ञियम् । मधु-मत् । अस्तु । नः । अन्नम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्रे) पहिले (निखनन्तः) [भूमि को] खोदते हुये (कार्षीवणाः) खेती के सेवन करने वाले किसानों ने (विद्यया) विद्या के साथ (अन्नविदः न) अन्न प्राप्त करने वाले पुरुषों के समान, (यत् यामम्) जिस नियम समूह को (चक्रुः) किया है। (तत्) उसी [नियम समूह] को (वैवस्वते) मनुष्यों के स्वामी (राजनि) राजा परमेश्वर में (जुहोमि) मैं समर्पण करता हूं, [जिससे] (अथ) फिर (नः) हमारा (अन्नम्) प्राण साधन अन्न (यज्ञियम्) यज्ञ के योग्य और (मधुमत्) ज्ञानयुक्त (अस्तु) होवे ॥१॥

भावार्थ—जैसे विद्वानों के समान किसान लोग भूमि जोत कर, बीज बोकर अन्न प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य सर्वनियन्ता जगदीश्वर का आश्रय लेकर कर्म करते हुये आनन्द भोगें ॥ १ ॥

वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति । मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद्वा पिताऽपराद्धो जिहीडे ॥ २ ॥

१—(यत्) (यामम्) तस्य समूहः । पा० ४ । २ । ३७ । इति यम—अण् । नियमानां समूहम् (चक्रुः) कृतवन्तः (निखनन्तः) भूमिं कर्षन्तः (अग्रे) पुरा (कार्षीवणाः) कृषि—ङीप्, कृष्या वनं सेवनं कृषीवणं, तदस्ति येषाम् । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इत्यण् । कृषिसेविनः । कर्षकाः (अन्नविदः) अन्नप्रापकाः (न) उपमायाम्—निघ० ३ । १३ । (विद्यया) ज्ञानेन (वैवस्वते) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति विवस्वत्—अण् । विवस्वन्तो मनुष्याः—निघ० २ । ३ । विवस्वत आदित्याद् विवस्वान् विवासनवान्—निरु० ७ । २६ । विवस्वतां मनुष्याणां स्वामिनि (राजनि) शासके परमात्मनि (तत्) तथाविधं यामम् (जुहोमि) समर्पयामि (अथ) अनन्तरम् (यज्ञियम्) यज्ञार्हम् (मधुमत्) ज्ञानयुक्तम् (अस्तु) (नः) अस्माकम् (अन्नम्) जीवनसाधनम् ॥

वैवस्वतः । कृणवत् । भाग-धेयम् । मधु-भागः । मधुना । सम् । सृजाति । मातुः । यत् । एनः । इषितम् । नः । आ-अगन् । यत् । वा । पिता । अप-राद्धः । जिहीडे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मधुभागः) ज्ञान का भाग करने वाला, (वैवस्वतः) मनुष्यों का स्वामी परमेश्वर (भागधेयम्) भाग (कृणवद्) करे और (मधुना) [उस पाप के] ज्ञान के साथ [हमें] (सम् सृजाति) संयुक्त करे । (मातुः) माता को प्राप्त करके (इषितम्) उतावली से किया हुआ (नः) हमारा (यत्) जो (एनः) पाप (आगन्) हो गया है, (वा) अथवा (यत्) जिस पाप के कारण (पिता) पिता, (अपराद्धः) जिसका हमने अपराध किया है, (जिहीडे) क्रोधित हुआ है ॥२॥

भावार्थ—यदि मनुष्य प्रमाद के कारण माता पिता आदि को अप्रसन्न करे तो वह उनसे क्षमा मांगकर प्रायश्चित्त करके शुद्ध होवे ॥ २ ॥

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतंस एन आगन् । यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥ ३ ॥

यदि । इदम् । मातुः । यदि । वा । पितुः । नः । परि । भ्रातुः । पुत्रात् । चेतसः । एनः । आ-अगन् । यावन्तः । अस्मान् । पितरः । सचन्ते । तेषाम् । सर्वेषाम् । शिवः । अस्तु । मन्युः ॥३॥

२—(वैवस्वतः) म० १ । मनुष्याणां स्वामी (कृणवत्) कुर्य्यात् (भागधेयम्) भागम् (मधुभागः) मधुनो ज्ञानस्य भागकर्ता (मधुना) तस्य एनसो ज्ञानेन (संसृजाति) संयोजयेद् अस्मान् (मातुः) पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् । वा० पा० २ । ३ । २८ । इति मातरं प्राप्य (यत्) (एनः) पापम् (इषितम्) प्रमादेन प्रेषितम् (नः) अस्माकम् (आगन्) गमेर्लुङि । मन्त्रे घसह्वर० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । मो नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति नत्वम् । आगमत् (यत्) पापम् (वा) अथवा (पिता) (अपराद्धः) कृतदोषः सन् विमुखः (जिहीडे) हेडृ अनादरे-लिट्, छान्दसं रूपम् । हेडते क्रुध्यति कर्मा—निघ० २ । १२ । जिहेडे । चुक्रोध ॥

भाषार्थ—(यदि) जो (मातुः) माता के प्रति, (यदि वा) अथवा, (पितुः) पिता के प्रति, (भ्रातुः) भ्राता के प्रति, अथवा (पुत्रात्) पुत्र के प्रति (नः) हमारे (चेतसः) चित्त से (इदम्) यह (एनः) पाप (परि) सब ओर से (आगन्) हो गया है। (यावन्तः) जितने (पितरः) पिता के समान माननीय (अस्मान्) हमको (सचन्ते) सदा मिलते हैं [उनके विषय में भी जो पाप हुआ है], (तेषाम् सर्वेषाम्) उन सब का (मन्युः) क्रोध (शिवः) शान्त (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब कुटुम्बियों और सब मान्य पुरुषों को सदा प्रसन्न रक्खें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ११७ ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऋणाद् विमोचनोपदेशः—ऋण से छुटने का उपदेश ॥

अ॒प॒मि॒त्यमप्र॑तीत्तं॒ यद॑स्मि य॒मस्य॒ येन॑ ब॒लिना॒ च- रा॑मि। इ॒दं तद॑ग्ने अनृ॒णो भ॑वामि॒ त्वं पाशा॑न् वि॒चृतं॑ वेत्थ॒ सर्वा॑न् ॥ १ ॥

अ॒प॒-मि॒त्य॑म्। अप्र॑तीत्तम्। यत्। अस्मि॑। य॒मस्य॑। येन॑। ब॒लिना॑। चरा॑मि। इ॒दम्। तत्। अ॒ग्ने॒। अ॒नृ॒णः। भ॒वा॒मि॒। त्वम्। पाशा॑न्। वि॒-चृत॑म्। वे॒त्थ॒। सर्वा॑न् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यमस्य) नियम करने वाले [ऋणदाता] के (अप्रतीत्तम्) बिना चुकाये (यत्) जिस (अपमित्यम्) अपमान के हेतु ऋण को (अस्मि=

३—(यदि) (इदम्) (मातुः)–म० २। मातरं प्राप्य (यदि वा) (पितुः) पितरं प्राप्य (भ्रातुः) भ्रातरं प्राप्य (नः) अस्माकम् (चेतसः) चित्तात् (परि) सर्वतः (एनः) पापम् (आगन्)—म० २। आगमत् (यावन्तः) यत्परिमाणाः (अस्मान्) (पितरः) पितृवद् मान्याः (सचन्ते) समवयन्ति। संगच्छन्ते (तेषाम् सर्वेषाम्) (शिवः) शान्तः (अस्तु) (मन्युः) क्रोधः ॥

१—(अपमित्यम्) तत्र साधुः। पा० ४। ४। ९८। इति अपमिति—यत्। अपमितौ अपमाने साधु। अपमानसाधकमृणम् (अप्रतीत्तम्) प्रति-

असामि) मैं ग्रहण करता हूं, और (येन बलिना) जिस बलवान् के साथ [ऋण लेकर] (चरामि) मैं चेष्टा करता हूं। (इदम्) अब (तत्) उससे, (अग्ने) हे विद्वान्! मैं (अनृणः) ऋण रहित (भवामि) हो जाऊं, (त्वम्) तू (सर्वान्) सब (पाशान्) बन्धनों को (विचृतम्) खोलना (वेत्थ) जानता है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य ज्ञान पूर्वक पुरुषार्थ करके माता पिता आचार्य आदि की सेवा से देव ऋण, पितृ ऋण और ऋषि ऋण चुकावें ॥१॥

इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत्। अपमित्यं धान्यं१ यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ॥ २ ॥

इह। एव। सन्तः। प्रति। दद्मः। एनत्। जीवाः। जीवेभ्यः। नि। हरामः। एनत्। अप-मित्यं। धान्यम्। यत्। जघस। अहम्। इदम्। तत्। अग्ने। अनृणः। भवामि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इह) यहां [इस शरीर में] (एव) ही (सन्तः) रहते हुये हम (एनत्) इस [ऋण] को (प्रति दद्मः) चुका देवें, (जीवाः) जीते हुये हम (जीवेभ्यः) जीते हुये पुरुषों को (एनत्) यह [उधार] (नि) नियम

पूर्वाद् ददातेर्निष्ठा। अच उपसर्गात्तः। पा० ।७।४।४७। इत्याकारस्य तकारः। वस्ति।६।३।१२४। उपसर्गस्य दीर्घः। अप्रत्यर्पितम् (यत्) (अस्मि) अस ग्रहणे भ्वादिः शपो लुक् छान्दसः। असामि। गृह्णामि (यमस्य) नियामकस्य। उत्तमर्णस्य (येन) (बलिना) बलवता ऋणेन (चरामि) प्रवर्ते (इदम्) इदानीम् (तत्) तस्माद् ऋणात् (अग्ने) विद्वन् (अनृणः) ऋणरहितः (भवामि) (त्वम्) (पाशान्) बन्धान् (विचृतम्) शकि णमुल्कमुलौ। पा० ३।४।१२। इति विचृती हिंसाग्रन्थनयोः—बाहुलकात् कमुल् तुमर्थे। विचर्तितुं मोचयितुम् (वेत्थ) जानासि (सर्वान्)

२—(इह) अस्मिन् शरीरे (एव) (सन्तः) विद्यमाना वयम् (प्रति दद्मः) प्रत्यर्पयामः (एनत्) ऋणम् (जीवाः) जीवन्तो वयम् (नि) नियमेन (हरामः) प्रापयामः (एनत्) ऋणम् (अपमित्य) उदीचां माङो व्यतीहारे।

से (हराम:) दे देवें । (यत्) जो (धान्यम्) धान्य (अपमित्य) उधार लेकर (अहम्) मैंने (जघस) खाया है, (अग्ने) हे विद्वान्! (इदम्) अभी (तत्) उससे मैं (अनृणः) अऋण (भवामि) हो जाऊं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के सब जीवों का उपकार अपने पर विचार कर अपने और उनके जीवन में ही यथोचित सेवा से उनका ऋण चुकावें ॥२॥

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥ ३ ॥

अनृणाः । अस्मिन् । अनृणाः । परस्मिन् । तृतीये । लोके । अनृणाः । स्याम । ये । देव-यानाः । पितृ-यानाः । च । लोकाः । सर्वान् । पथः । अनृणाः । आ । क्षियेम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—हम (अस्मिन् लोके) इस लोक [बालकपन] में (अनृणाः) अऋण, (परस्मिन्) दूसरे [युवापन] में (अनृणाः) अऋण और (तृतीये) तीसरे [बुढ़ापे] में (अनृणाः) अऋण (स्याम) होवें । (देवयानाः) विजय चाहने वाले और व्यापारियों के यान अर्थात् विमान रथ आदि के चलने योग्य (च) और (पितृयाणाः) पालन करने वाले विज्ञानियों के गमन योग्य (ये) जो (लोकाः) लोक [स्थान] और (पथः=पन्थानः) मार्ग हैं, (सर्वान्)

पा ३ । ४ । १६ । इति मेङ् प्रणिदाने—क्त्वा, ल्यबादेशे । मयतेरिदमन्यतरस्याम् पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् । ऋणे गृहीत्वा (धान्यम्) अन्नम् (जघस) अद भक्षणे, लिटि घस्लृ आदेशः । भक्षितवानस्मि (अहम्) (इदम्) इदानीम् (तत्) तस्मात् (अग्ने) विद्वन् (अनृणः) ऋणरहितः (भवामि) ॥

३—(अनृणाः) ऋणरहिताः (अस्मिन्) प्रथमे बाल्ये (परस्मिन्) द्वितीये यौवने (तृतीये) वार्द्धिके (लोके) लोकृ दर्शने, भाषायां, दीप्तौ च—घञ् । वयसि । समाजे (स्याम) भवेम (ये) (देवयानाः) अ० ३ । १५ । २ । विजिगीषूणां व्यापारिणां विमानरथादीनां गमनयोग्याः (पितृयाणाः) पालकैर्विज्ञानिभिर्गमनीयाः (च) (लोकाः) धामानि। समाजाः (सर्वान्) लोकान् पथश्च (पथः) प्रथमायां द्वितीया। पन्थानः । मार्गाः (आसमन्तात्) (क्षियेम) क्षि

उन सब में (अनृणाः) हम अऋण होकर (आ) सब ओर से (क्षियेम) चलते रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्या अभ्यास से बालकपन का ऋण, गृहस्थ आश्रम में धन और प्रजा पालन आदि की सफलता से युवावस्था का ऋण, और वान प्रस्थ और सन्यास आश्रम के सेवन से बुढ़ापे का ऋण चुकाकर महात्माओं के समान धार्मिक होकर परोपकारी बनें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ११८ ॥

१-३ ॥ अप्सरसौ देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऋणाद् विमोचनोपदेशः—ऋण से छुटने का उपदेश ॥

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः । उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः ॥१॥

यत् । हस्ताभ्याम् । चकृम । किल्बिषाणि । अक्षाणाम् । गत्नुम् । उप-लिप्समानाः । उग्रंपश्ये इत्युग्रम्-पश्ये । उग्र-जितौ । तत् । अद्य । अप्सरसौ । अनु । दत्ताम् । ऋणम् । नः ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (अक्षाणाम्) इन्द्रियों के (गत्नुम्) पाने योग्य विषय के (उपलिप्समानाः) लाभ की इच्छा करते हुये हमने (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (किल्बिषाणि) अनेक पाप (चकृम) किये हैं । (उग्रंपश्ये) तीव्र दृष्टि वाली, (उग्रजितौ) उग्र होकर जीतने वाली, (अप्सरसौ) अन्तरिक्ष में विचरने वाली अप्सरायें सूर्य भूमि दोनों (अद्य) आज (नः) हमारे

निवासगत्योः । गच्छेम ॥

१—(यत्) यदि (हस्ताभ्याम्) कराभ्याम् (चकृम) वयं कृतवन्तः (किल्बिषाणि) बहूनि पापानि (अक्षाणाम्) इन्द्रियाणाम् (गत्नुम्) कृहनिभ्यां क्त्नु । अनुदात्तोपदेश० । पा० ६ । ४ । ३७ । अनुनासिकलोपः । गन्तव्यं शब्द-स्पर्शादिविषयम् (उपलिप्समानाः) लभेः सनि शानच् । उपलब्धुम् अनुभवितु-मिच्छन्तः (उग्रंपश्ये) उग्रंपश्येरंमदपाणिंधमाश्च । पा० ३ । २ । ३७ । इति खशि

तत्) उस (ऋणम्) ऋण को (अनु) अनुग्रह करके (दत्ताम्) दे देवें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों को वश में करके सूर्य और पृथिवी अर्थात् संसार के सब पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपकार लेकर अपना कर्त्तव्य करें ॥१॥

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्। ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत् ॥ २ ॥

उग्रंपश्ये इत्युग्रम्-पश्ये। राष्ट्र-भृत्। किल्बिषाणि। यत्। अक्ष-वृत्तम्। अनु। दत्तम्। नः। एतत्। ऋणात्। नः। न। ऋणम्। एर्त्समानः। यमस्य। लोके। अधि-रज्जुः। आ। अयत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(उग्रंपश्ये) हे तीव्र दृष्टि वाली ! (राष्ट्रभृत्) हे राज्य को पालने वाली ! [सूर्य और पृथिवी] (किल्बिषाणि) हमारे अनेक पाप हैं। (यत्) जो (अक्षवृत्तम्) इन्द्रियों का सदाचार है, (एतत्) वह (नः) हमें (अनु) अनुग्रह करके (दत्तम्) तुम दोनों दान करो। (ऋणात् ऋणम्) ऋण के पीछे ऋण को (एर्त्समानः) लगातार बढ़ाने की इच्छा करता, हुआ, (अधिरज्जुः) रसरी लिये हुये [उधार देने वाला] (यमस्य) न्यायाधीश के

निपात्यते। तीक्ष्णदर्शने (उग्रजितौ) तीव्रजयशीले (तत्) (अद्य) (अप्सरसौ) अ० ४। ३७। २। अन्तरिक्षे सरन्त्यौ द्यावापृथिव्यौ। तत्रत्याः पदार्था इत्यर्थः (अनु) अनुग्रहेण (दत्ताम्) प्रयच्छताम् (ऋणम्) प्रतिदेयं धनम् (नः) अस्माकम् ॥

२—(उग्रंपश्ये) म० १। हे तीव्रदर्शने (राष्ट्रभृत्) हे राज्यस्य पोषयित्रि (किल्बिषाणि) पापानि (यत्) (अक्षवृत्तम्) इन्द्रियाणां सच्चरित्रम् (अनु) अनुग्रहेण (दत्तम्) प्रयच्छतम् (नः) अस्मभ्यम् (एतत्) अक्षवृत्तम् (ऋणात्) ऋणकारणात् (ऋणम्) (नः) अस्मान् (न) निषेधे (एर्त्समानः) आ+ऋधु वृद्धौ—सनि चानश्। आप्ज्ञप्यृधामीत्। पा० ७। ४। ५५। अच ईकारः। ताच्छील्यवयो०। पा० ३। २। १२९। इति चानश्। आने मुक्। पा०

(लोके) समाज में (नः) हमको (आ) आकर (न) न (अयत्) प्राप्त हो ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य पापों को छोड़कर सदा सदाचार करें जिस से उन्हें संसार में लज्जित न होना पड़े, जिस प्रकार ऋण दाता ब्याज पर ब्याज बढ़ा कर अपने ऋणी को राजद्वार में लज्जित करता है ॥ २ ॥

यस्मा॑ ऋ॒णं यस्य॑ जा॒याम॒पैमि॒ यं याच॑मानो अ॒भ्यैमि॑ देवाः। ते वाचं॑ वादिषु॒र्मोत्त॑रां॒ मद्देव॑पत्नी॒ अप्स॑रसा॒वधी॑तम् ॥३॥

यस्मै॑। ऋ॒णम्। यस्य॑। जा॒याम्। उ॒प॒-ऐमि॑। यम्। याच॑मानः। अ॒भि-ऐमि॑। दे॒वाः। ते। वाच॑म्। वा॒दि॒षुः। मा। उत्त॑राम्। मत्। देव॑पत्नी॒ इति॑ देव॑-पत्नी। अप्स॑रसौ। अधि॑। इ॒त॒म् ॥३॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (यस्मै ऋणम्) जिस का मुझ पर उधार है, (यस्य) जिसकी (जायाम्) स्त्री के पास (उपैमि) मैं जाऊं, अथवा (याचमानः) अनुचित मांगता हुआ मैं (यम्) जिसके पास (अभ्यैमि) पहुंचूं । (ते) वे लोग (मत्) मुझसे (उत्तराम्) (वाचम्) बढ़ कर बात (मा वादिषुः) न बोलें, (देवपत्नी) हे दिव्यपदार्थों की रक्षा करने वाली (अप्सरसौ) आकाश में चलने वाली, सूर्य और पृथिवी ! (अधीतम्) [यह बात] स्मरण रक्खो ॥ ३ ॥

७। २। ८२। इति मुक्। समन्ताद् वर्धयितुमिच्छन् (यमस्य) न्यायाधीशस्य (लोके) समाजे (अधिरज्जुः) गृहीतपाशः (आ) आगत्य (अयत्) अयेत प्राप्नुयात् ॥

३—(यस्मै) उत्तमर्णाय (ऋणम) प्रतिदेयं धनम् (यस्य) (जायाम्) भार्य्याम् (उपैमि) उपगच्छामि व्यभिचारेण (यम्) (याचमानः) अनुचितं प्रार्थयमानः (अभ्यैमि) प्राप्नोमि (देवाः) हे विद्वांसः (ते) त्रयो जनाः (वाचम्) वाणीम् (मा वादिषुः) मा ब्रुवन्तु (उत्तराम्) उत्कृष्टतराम् । प्रतिकूलामित्यर्थः (मत्) मत्तः (देवपत्नी) देवपत्न्यो देवानां पत्न्यः—निरु० १३। ४४। हे दिव्यपदार्थानां पालयित्र्यौ (अप्सरसौ)—म० १। अन्तरिक्षे सरन्त्यौ द्यावापृथिव्यौ (अधीतम्) इक् स्मरणे। अधिकं स्मरतम् ॥

भावार्थ—संसार के मनुष्य स्मरण रक्खें कि ऋण लेने, व्यभिचार करने और अनुचित मांगने से प्रशंसा में बट्टा लगता है, इस से पुरुषार्थ करके कीर्ति बढ़ावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ११८ ॥

१-३ ॥ वैश्वानरो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

प्रतिज्ञाप्रतिपालनोपदेशः—वचन के प्रति पालन का उपदेश ॥

यददीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि। वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

यत् । अदीव्यन् । ऋणम् । अहम् । कृणोमि । अदास्यन् । अग्ने । उत । सम्-गृणामि । वैश्वानरः । नः । अधि-पाः । वसिष्ठः । उत् । इत् । नयाति । सु-कृतस्य । लोकम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! (अदीव्यन्) व्यवहार न करता हुआ (अहम्) मैं (यत्) जो (ऋणम्) ऋण (कृणोमि) करूं (उत) अथवा (अदास्यन्) चुकाना न चाहता हुआ (संगृणामि) प्रण करूं। (वैश्वानरः) सब नरों का स्वामी, (अधिपाः) अधिक पालन करने वाला, (वसिष्ठः) अति उत्तम परमेश्वर (इत्) ही (नः) हमें (सुकृतस्य) पुण्य कर्म के (लोकम्) लोक [समाज] में (उन्नयाति) ऊंचा चढ़ावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर को साक्षी करके पुरुषार्थ पूर्वक माता पिता आदि के ऋण को चुकावें और अपने वचन को मिथ्या न करें ॥ १ ॥

वैश्वनराय प्रति वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु ।

१—(यत्) (अदीव्यन्) व्यवहारम् अकुर्वन् (ऋणम्) (अहम्) (कृणोमि) करोमि (अदास्यन्) प्रतिदानम् अकरिष्यत् (अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन् (उत) अपि (संगृणामि) गॄ शब्दे। प्रतिजानामि (वैश्वानरः) अ० १।१०।४। सर्वनरहितः (नः) अस्मान् (अधिपाः) अधिकं पालयिता (वसिष्ठः) वसु—इष्ठन्। अतिश्रेष्ठः परमेश्वरः (इत्) एव (उन्नयाति) ऊर्ध्वं प्रापयेत् (सुकृतस्य) पुण्यकर्मणः (लोकम्) समाजम् ॥

स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ २ ॥

वैश्वानराय । प्रति । वेदयामि । यदि । ऋणम् । सम्-गरः । देवतासु । सः । एतान् । पाशान् । वि-चृतम् । वेद । सर्वान् । अथ । पक्वेन । सह । सम् । भवेम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानराय) सब नरों के हितकारी परमेश्वर से (प्रति) प्रत्यक्ष (वेदयामि) निवेदन करता हूं कि (देवतासु) विद्वानों के विषय [मेरी ओर से] (यत्) जो (ऋणम्) ऋण और (संगरः) प्रण है। (सः) वह परमेश्वर (एतान्) इन (सर्वान्) सब (पाशान्) फन्दों को (विचृतम्) खोल देना (वेद) जानता है, (अथ) सो (पक्वेन सह) उस पक्के [दृढ़] स्वभाव वाले परमेश्वर के साथ (सम् भवेम) हम बने रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर अपने ऋण और प्रतिज्ञा को पूरा करके सदा परमेश्वर की आज्ञा पालन करते रहें ॥ २ ॥

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावाम्याशाम् । अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैनो अप तत् सुवामि ॥ ३ ॥

वैश्वानरः । पविता । मा । पुनातु । यत् । सम्-गरम् । अभि-धावामि । आ-शाम् । अनाजानन् । मनसा । याचमानः । यत् । तत्र । एनः । अप । तत् । सुवामि ॥ ३ ॥

२—(वैश्वानराय) सर्वनरहिताय जगदीश्वराय (प्रति) प्रत्यक्षम् (वेदयामि) विज्ञापयामि (यत्) (ऋणम्) (संगरः) प्रणयः (देवतासु) विदुषां विषये (सः) परमेश्वरः (एतान्) (पाशान्) बन्धान् (विचृतम्) अ० ६ । ११७ । १ । विचर्तितुं विश्लेषयितुम् (वेद) वेत्ति (सर्वान्) (अथ) अनन्तरम् (पक्वेन) पच पाके, व्यक्तीकारे च-क्त, तस्य वः । दृढ़स्वभावेन परमात्मना (सह) (संभवेम) संगच्छेमहि ॥

भाषार्थ—(पविता) सब शुद्ध करने वाला (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी (मा) मुझे (पुनातु) शुद्ध करे, (यत्) यदि (मनसा) मन से (अनाजानन्) अज्ञान होकर (याचमानः) [अनुचित] मांगता हुआ मैं (संगरम्) अपनी प्रतिज्ञा और (आशाम्) उनकी आशा पर (अभिधावामि) पानी फेर दूं। (तत्र) उस [कर्म] में (यत्) जो (एनः) पाप है, (तत्) उसको (अप सुवामि) मैं हटाऊं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्धस्वभाव परमात्मा के गुणों को विचारता हुआ अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करे, और प्रमाद करके दुष्ट कर्मों में न पड़े ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२० ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ त्रिष्टुप्; २, ३ विराट् छन्दः ॥

गृहमोदवर्द्धनायोपदेशः—घर में आनन्द बढ़ाने का उपदेश ॥

यदुन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम । अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥

यत् । अन्तरिक्षम् । पृथिवीम् । उत । द्याम् । यत् । मातरम् । पितरम् । वा । जिहिंसिम । अयम् । तस्मात् । गार्हं-पत्यः । नः । अग्निः । उत् । इत् । नयाति । सु-कृतस्य । लोकम् ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (अन्तरिक्षम्) आकाश [वहां के प्राणियों] को (पृथिवी) भूमि [वहां के जीवों] को (उत) और (द्याम्) प्रकाशमान लोक

३—(वैश्वानरः) सर्वनरहितः (पविता) सर्वशोधयिता (मा) माम् (पुनातु) शोधयतु (यत्) यदि (संगरम्) स्वप्रतिज्ञाम् (अभिधावामि) धावु गतिशुद्ध्योः । अभिशोधयामि । अभिभवामि (आशाम्) तेषां लालसाम् (अनाजानन्) अज्ञानं कुर्वन् (मनसा) चेतसा (याचमानः) अनुचितं प्रार्थयमानः (यत्) (तत्र) तस्मिन् कर्मणि (एनः) पापम् (तत्) (अप सुवामि) षू प्रेरणे । अपगमयामि ॥

१—(यत्) यदि (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकम् । तत्रत्यान् जनान् (पृथिवीम्) भूमिस्थानप्राणिनः (उत) अपि (द्याम्) प्रकाशमानंलोकम्,

[प्रकाश के जीवों] को, (यत्) यदि (मातरम्) माता (वा) अथवा (पितरम्) पिता को (जिहिंसिम) हमने सताया है। (अयम्) यह (गार्हपत्यः) घर के स्वामियों का संयोगी (अग्निः) अग्नि, सर्वज्ञ परमेश्वर (तस्मात्) उस [पाप] से पृथक् करके (नः) हमें (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (इत्) अवश्य (उन्नयाति) ऊंचा चढ़ावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उपकारों को साक्षात् करके संसार के सब जीवों और माता पिता आदि माननीय महात्माओं का उपकार करके धर्मात्माओं के समाज में प्रतिष्ठा पावें ॥ १ ॥

भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशंस्त्या नः। द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिमृत्वा माव पत्सि लोकात् ॥ २ ॥

भूमिः। माता। अदितिः। नः। जनित्रम्। भ्राता। अन्तरिक्षम्। अभि-शंस्त्या। नः। द्यौः। नः। पिता। पित्र्यात्। शम्। भवाति। जामिम्। ऋत्वा। मा। अव। पत्सि। लोकात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अदितिः) अविनाशिनी प्रकृति (नः) हमारी (जनित्रम्) उत्पत्ति का निमित है, (भूमिः) सब के आधार पृथिवी के समान (माता) माता, (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती आकाश के समान (नः) हमारा (भ्राता) भ्राता, (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य के समान (नः) हमारा (पिता) पिता (अभि-

तत्रस्थान् जीवान् (यत्) (मातरम्) (पितरम्) (वा) (जिहिंसिम) हिसि हिंसायाम्—लिट्। वयं पीडितवन्तः (अयम्) सुप्रसिद्धः (तस्मात्) तद्विधात् पापात् पृथक् कृत्वा (गार्हपत्यः) गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः। पा० ४। ४। ९०। इति ञ्य। गृहपतिभिः संयुक्तः (नः) अस्मान् (अग्निः) सर्वज्ञः परमेश्वरः (उत्) ऊर्ध्वम् (इत्) एव (नयाति) नयेत्। गमयेत् (सुकृतस्य) धर्मस्य (लोकम्) समाजम् ॥

२—(भूमिः) सर्वाधारभूमितुल्या (माता) अ० ५। ५। १। जननी (अदितिः) अ० २। २८। ४। अविनाशिनी प्रकृतिः (नः) अस्माकम् (जनित्रम्) उत्पत्तिस्थानम् (भ्राता) अ० ४। ४। ५। भरणशीलः सहोदरः (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्तिलोकसदृशः (अभिशस्त्या) पंचम्यर्थे तृतीया। अपवादात्

शस्त्या=०—शस्त्याः) अपवाद से [अलग करके] (शम्) शान्तिकारक (भवाति) होवे, (जामिम्) बन्धुवर्ग को (ऋत्वा) पाकर (पित्र्यात्) पितरों, विज्ञानियों के प्रिय (लोकात्) समाज से (मा अव पत्सि) मैं कभी न गिरूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर, परमेश्वर रचित पदार्थों और माता पिता आदि कुटुम्बियों का उपकार विचार कर उनकी यथावत् सेवा से मनुष्य समाज में कीर्ति बढ़ावें ॥ २ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः । अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ ३ ॥

यत्र । सुहार्दः । सु-कृतः । मदन्ति । वि-हाय । रोगम् । तन्वः । स्वायाः । अश्लोणाः । अङ्गैः । अह्रुताः । स्वः-गे । तत्र । पश्येम । पितरौ । च । पुत्रान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहां पर (सुहार्दः) सुन्दर हृदय वाले (सुकृतः) पुण्यात्मा लोग (स्वायाः) अपने (तन्वः) शरीर का (रोगम्) रोग (विहाय) छोड़ कर (मदन्ति) आनन्द भोगते हैं। (तत्र) वहाँ पर (स्वर्गे) स्वर्ग में (अश्लोणाः) बिना लंगड़े हुये और (अङ्गैः) अङ्गों से (अह्रुताः) बिना टेढ़े

(नः) अस्माकम् (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्य इव (पिता) जनकः (पित्र्यात्) पितु र्यत् । पा० ४ । ३ । ७६ । पितृ—यत् । रीङ् ऋतः । पा० ७ । ४ । २७ । रीङ् । पितॄणां विज्ञानिनां प्रियात् (शम्) शान्तिकारकः (भवाति) भवेत् (जामिम्) अ० २ । ७ । २ । बन्धुवर्गम् (ऋत्वा) प्राप्य (मा अव पत्सि) पद्लृ गतौ, माङि लुङि उत्तमैक वचने रूपम् । अवपन्नो मा भूवम् ॥

३—(यत्र) यस्मिन् गृहे (सुहार्दः) अ० ३ । २८ । ५ । सुहृदयाः । अनुकूलकारिणः (सुकृतः) पुण्यकर्माणः (मदन्ति) हर्षन्ति (विहाय) परित्यज्य (रोगम्) व्याधिम् (तन्वः) शरीरस्य (स्वायाः) स्वकीयायाः (अश्लोणाः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति श्रु श्रवणे गतौ च—न,

हुये हम (पितरौ) माता पिता (च) और (पुत्रान्) पुत्रों को (पश्येम) देखते रहें ॥

भावार्थ—जिस घर में सब स्त्री पुरुष सुकर्मी और नीरोग होवें उस स्वर्ग में ही सब कुटुम्बी मिलकर सुख के स्थिर रखने का प्रयत्न करें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध आ चुका है—अ० ३ । २८ । ५ ॥

सूक्तम् १२१ ॥

१-४ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ विराट्; २ त्रिष्टुप्; ३,४ अनुष्टुप् ॥

मोक्षप्राप्त्युपदेशः—मोक्ष पाने का उपदेश ॥

विषाणा पाशान् वि ष्याध्यस्मद् य उत्तमा अधमा वारुणा ये । दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥

वि-साना । पाशान् । वि । स्य । अधि । अस्मत् । ये । उत्-तमाः । अधमाः । वारुणाः । ये । दुःस्वप्न्यम् दुः-इतम् । निः । स्व । अस्मत् । अथ । गच्छेम । सु-कृतस्य । लोकम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे शूर !] (विषाणा=०—णेन) विविध भक्ति के साथ (पाशान्) फंदों को (अस्मत्) हमसे (अधि) अधिकार पूर्वक (वि ष्य) खोल दे, (ये) जो (उत्तमाः) ऊंचे और (ये) जो (अधमाः) नीचे फंदे (वारुणाः) जो दोष निवारक वरुण परमात्मा से आये हैं। (दुःष्वप्न्यम्) नींद

यद्वा । श्रोण संघाते—अच् , रस्य लत्वम् , यद्वा श्लोण संघाते—अच् । अश्लोणाः । अपङ्गवः (अङ्गैः) शरीरावयवैः (अह्रुताः) अकुटिलगतयः (स्वर्गे) सुखविशेषे (पश्येम) साक्षात्कुर्याम (पितरौ) मातरं पितरं च । (च) (पुत्रान्) सुतान् ॥

१—(विषाणा) अ० ३ । ७ । १ । षण संभक्तौ-घञ् । सुपां सुलुक् ० । पा० ७ । १ । ३९ । इति आत् । विविधसेवनेन (पाशान्) बन्धान् (वि ष्य) षो अन्तकर्मणि । विमुंच (अधि) अधिकृत्य (अस्मत्) अस्मत्तः (ये) पाशाः (उत्तमाः) ऊर्ध्वकायाश्रिताः (अधमाः) अधःकायाश्रिताः (वारुणाः) तत्र

में उठे कुविचार और (दुरितम्) विघ्न को (अस्मत्) हम से (निः) निकाल दे, (अथ) फिर (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (गच्छेम) हम जावें ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य भक्ति की शक्ति को बढ़ाकर अपने बुरे कर्म के फल दुःखों को पुरुषार्थ से हटाकर सोते जागते उत्तम विचार करते हैं वे ही पुण्यात्मा कीर्ति पाते हैं ॥ १ ॥

यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद् भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा। अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ २ ॥

यत्। दारुणि। बध्यसे। यत्। च। रज्ज्वाम्। यत्। भूम्याम्। बध्यसे। यत्। च। वाचा। अयम्। तस्मात्। गार्हपत्यः। नः। अग्निः। उत्। इत्। नयाति। सु-कृतस्य। लोकम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (यत्) यदि तू (दारुणि) काष्ठ में, (च) और (यत्) यदि तू (भूम्याम्) भूमि में (च) और (यत्) यदि (वाचा) वचन के साथ (बध्यसे) बंधा है। (अयम्) यह (गार्हपत्यः) घर के स्वामियों का संयोगी (अग्निः) अग्नि, सर्वज्ञ परमेश्वर (तस्मात्) उस [कष्ट] से पृथक् करके (नः) हमें (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (इत्) अवश्य (उन्नयाति) ऊंचा चढ़ावे ॥ २ ॥

आगतः। पा० ४। ३। ७४। इत्यण्। वरुणात् कष्टनिवारकात् परमेश्वरात् प्राप्ताः (ये) (दुःष्वप्न्यम्) अ० ६। ४६। ३। कुनिद्राभवं विचारम् (दुरितम्) कष्टम् (निः स्व) तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्। वा० पा० ६। ४। ८६। षू प्रेरणे-यण्। निः सुव। निर्गमय (अथ) अनन्तरम् (गच्छेम) प्राप्नुयाम (सुकृतस्य) पुण्यस्य (लोकम्) समाजम् ॥

२—(यत्) यदि (दारुणि) दृसनिजनि०। उ० १। ३। दृ विदारणे—उण्। काष्ठे (बध्यसे) बद्धो भवसि (रज्ज्वाम्) दाम्नि (भूम्याम्) भूमिगर्ते (वाचा) राजाज्ञाप्रकाशकेन वचनेन। अन्यद् गतम्—अ० ६। १२० । १ ॥

योन्याः-इव । प्र-च्युतः । गर्भः । पथः । सर्वान् । अनु । क्षिय ॥४॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (वि जिहीष्व) विविध प्रकार से चल, (लोकम्) समाज को (कृणु) बना, (बद्धकम्) बड़े बंधुवे [आत्मा] को (बन्धात्) बन्ध से (मुञ्चासि) तू छुड़ा दे (योन्याः) गर्भाशय से (प्रच्युतः) बाहर निकले हुये (गर्भः इव) बालक के समान (सर्वान्) सब (पथः अनु) मार्गों की ओर (क्षिय) चल ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य जैसे जैसे प्रयत्न करता है वैसे वैसे दुःख बन्धन से छूट कर आनन्द भोगता है, जैसे गौ आदि का बच्चा गर्भ से उत्पन्न होकर प्रसन्नता से विचरता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् १२२ ॥

१-५ प्रजापति देवता ॥ १,३,४ त्रिष्टुप्; २ विराट्; ५ जगती ॥

आनन्दप्राप्त्युपदेशः—आनन्द प्राप्ति की करने का उपदेश ॥

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य । अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम ॥ १ ॥

एतम् । भागम् । परि । ददामि । विद्वान् । विश्व-कर्मन् । प्रथम-जाः । ऋतस्य । अस्माभिः । दत्तम् । जरसः । परस्तात् । अच्छिन्नम् । तन्तुम् । अनु । सम् । तरेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रथमजाः) श्रेष्ठों में प्रसिद्ध, (विद्वान्) विद्वान् मैं (ऋतस्य) सत्य धर्म के (एतम्) इस (भागम्) सेवनीय व्यवहार को (विश्वकर्मन्)

४—(वि) विविधम् (जिहीष्व) ओहाङ् गतौ। गच्छ (लोकम्) स्थानम्। समाजम् (कृणु) कुरु (बन्धात्) दुःखबन्धनात् (मुञ्चासि) लेटि रूपम्। विमोचय (बद्धकम्) कुत्सितबन्धं गतम् (योन्याः) गर्भाशयात् (इव) यथा (प्रच्युतः) बहिर्निर्गतः (गर्भः) बालकः (पथः) मार्गान् (सर्वान्) समस्तान् (अनु) अनुलक्ष्य (क्षिय) क्षि निवासगत्योः। गच्छ ॥

१—(एतम्) क्रियमाणम् (भागम्) भजनीयं व्यवहारम् (परि ददामि) समर्पयामि (विद्वान्) तत्त्वं जानन् (विश्वकर्मन्) अ० २। ३४। ३। सुपांसु-

जगत् के रचने वाले विश्वकर्मा परमेश्वर में (परि ददामि) समर्पण करता हूं। (जरसः) बुढ़ापे से (परस्तात्) दूर देश में (अस्माभिः दत्तम्) अपने दिये हुये (अच्छिन्नम्) बिना टूटे (तन्तुम् अनु) फैले हुये [अथवा वस्त्र में सूत के समान सर्वव्यापक] परब्रह्म के पीछे पीछे (सम्) यथावत् (तरेम) हम पार करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शुभ कर्मों को परमात्मा में समर्पण करके अजर अमर के समान तत्त्वज्ञान प्राप्त करके विद्यादान करें ॥ १ ॥

ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन ।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव ॥ २ ॥

ततम् । तन्तुम् । अनु । एके । तरन्ति । येषाम् । दत्तम् । पित्र्यम् । आ-अयनेन । अबन्धु । एके । ददतः । प्र-यच्छन्तः । दातुम् । च । इत् । शिक्षान् । सः । स्वः-गः । एव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(येषाम्) जिन लोगों का (पित्र्यम्) पितरों, माननीयों का प्रिय (दत्तम्) दान (आयनेन) यथाशास्त्र होता है, (एके) वे कोई (ततम्) फैले हुये (तन्तुम् अनु) वस्त्र में सूत के समान सर्वव्यापक ब्रह्म के पीछे पीछे

लुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति विभक्तिलोपः । जगत्कर्तरि परमात्मनि (प्रथमजाः) जनसनखन० । पा० ३ । २ । ६७ । इति जनी प्रादुर्भावे—विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इत्यात्वम् । प्रथमेषु श्रेष्ठेषु जातः प्रादुर्भूतः (ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (अस्माभिः) उपासकैः (दत्तम्) समर्पितं कर्म (जरसः) जराया सकाशात् (परस्तात्) अ० ४ । १६ । ४ । परस्मिन् दूरे देशे । यावज्जरा न भवेत् तावत्, इत्यर्थः (अच्छिन्नम्) अभिन्नम् (तन्तुम्) अ० २ । १ । ५ । विस्तीर्णम् । यद्वा । वस्त्रे सूत्रवत् सर्वव्यापकं ब्रह्म (अनु) अनुलक्ष्य (सम्) सम्यक् (तरेम) पारयेम ॥

२—(ततम्) विस्तृतम् (तन्तुम्)—म० १ । पटे सूत्रवत्सर्वव्यापकं ब्रह्म (अनु) अनुलक्ष्य (एके) केचन धीराः (तरन्ति) पारं गच्छन्ति (येषाम्) धीराणाम् (दत्तम्) दानम् (पित्र्यम्) अ० ६ । १२० । २ । पितॄणां प्रियम्

(तरन्ति) तरते हैं। (एके) कोई कोई (अबन्धु) बन्धुरहितों [अनाथों] को (ददतः) देते हुये और (प्रयच्छन्तः) सौंपते हुये रहते हैं, [जो] (दातुम्) दान करने को (च इत्) अवश्य ही (शिक्षान्) समर्थ हों, (सः एव) वही [उनको] (स्वर्गः) स्वर्ग है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सुपात्रों का सत्कार करके परमात्मा की आज्ञा पालन करते हैं, वे ही विशेष सुख के भागी होते हैं ॥ २ ॥

अन्वारंभेथामनुसंरंभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते। यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥ ३ ॥

अनु-आरंभेथाम् । अनु-संरंभेथाम् । एतम् । लोकम् । श्रत्-दधानाः। सचन्ते। यत् । वाम् । पक्वम् । परि-विष्टम् । अग्नौ तस्य । गुप्तये । दम्पती इति दम्-पती । सम् । श्रयेथाम् ॥३॥

भाषार्थ—(दम्पती) हे स्त्री पुरुषो ! [सत्कर्म को] (अन्वारभेथाम्) निरन्तर आरम्भ करो, (अनुसंरभेथाम्) मिल कर आरम्भ करते रहो, (श्रद्दधानाः) श्रद्धा वाले लोग (एतम्) इस [स्वर्ग] (लोकम्) लोक को (सचन्ते)

(आयनेन) आ+अय गतौ—ल्युट्। आगमेन। यथाशास्त्रम् (अबन्धु) सुपां सुलुक्०। इति चतुर्थ्या लुक्। अबन्धुभ्यः। बन्धुरहितेभ्यः। अनाथेभ्यः (एके) सुजनाः (ददतः) दानं कुर्वन्तः (प्रयच्छन्तः) समर्पयन्तः सन्ति (दातुम्) (च इत्) अवश्यमेव (शिक्षान्) शक्लृ शक्तौ सनि। सनिमीमा०। पा०। ७। ४। ५४। इत्यचः स्थाने इस्। अत्रलोपोऽभ्यासस्य। पा० ७। ४। ५८। इत्यभ्यास-लोपः। लेटि आडागमः। इतश्च लोपः परस्मैपदेषु। पा० ३। ४। ९७। इकार-लोपः। संयोगान्तलोपे तस्य असिद्धत्वान्नलोपाभावः। शक्तुमिच्छेयुः। समर्था भवेयुः ॥ २ ॥

३—(अन्वारभेथाम्) निरन्तरमारम्भं कुरुतं सत्कर्मणः (अनुसंरभेथाम्) निरन्तरं संयुक्तौ भूत्वा आरम्भं कुरुतम् (एतम्) (लोकम्) दर्शनीयं स्वर्गम् (श्रद्दधानाः) श्रद्धावन्तः कर्मानुष्ठानतत्पराः (सचन्ते) सेवन्ते—

निरन्तर सेवते हैं। (अग्नौ) अग्नि में (पक्वम्) पका हुआ (यत्) जो [अन्न] (वाम्) तुम्हारे लिये (परिविष्टम्) उपस्थित है, (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षा के लिये (सम् श्रयेथाम्) तुम दोनों परस्पर आश्रय लो ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष गृहस्थ आश्रम में यथावत् प्रवेश करके परमात्मा में श्रद्धा रखते हुये अपने कर्तव्य का यथावत् पालन करके सदा सुख भोगें ॥३॥

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः। उपहूता अग्ने जरसः परस्तात् तृतीये नाके सधमादं मदेम ॥ ४ ॥

यज्ञम्। यन्तम्। मनसा। बृहन्तम्। अनु-आरोहामि। तपसा। स-योनिः। उपहूताः। अग्ने। जरसः। परस्तात्। तृतीये। नाके। सध-मादम्। मदेम ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मनसा) विज्ञान और (तपसा) तप अर्थात् उत्साह के साथ (सयोनिः) निवास करता हुआ मैं (यन्तम्) व्याप्तिशील (बृहन्तम्) सब में बड़े (यज्ञम्) पूजनीय ब्रह्म को (अन्वारोहामि) निरन्तर ऊंचा होकर प्राप्त करता हूं। (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर! (जरसः) वयोहानि से (परस्तात्) दूर देश में (उपहूताः) बुलाये गये हम (तृतीये) तीसरे [जीव और

निरु० ३। २१। (यत्) अन्नम् (वाम्) युवाभ्याम् (पक्वम्) पाकेन संस्कृतम् (परिविष्टम्) प्राप्तम् (अग्नौ) पावके (तस्य) अन्नस्य (गुप्तये) रक्षणाय (दम्पती) राजदन्तादिषु परम्। पा० २। २। ३१। अत्र पाठात् जायाया दम्भावो निपात्यते। भार्य्यापती (सम्) समन्तात् (श्रयेथाम्) श्रिञ् सेवायाम्। सेवेथाम् ॥

४—(यज्ञम्) यजनीयं पूजनीयं परमात्मानं (यन्तम्) गच्छन्तं व्याप्तिशीलम् (बृहन्तम्) महान्तम् (अन्वारोहामि) निरन्तरमारुह्य प्राप्नोमि (मनसा) विज्ञानेन (तपसा) श्रमेण। उत्साहेन (सयोनिः) समानगृहः सन्। योनिः-गृहनाम-निघ० ३। ४। (उपहूताः) आदरेणानुज्ञाताः (अग्ने) सर्वव्यापक परमात्मन् (जरसः) वयोहानेः सकाशात् (परस्तात्) परे दूरे देशे (तृतीये)

प्रकृति से भिन्न] (नाके) सुख स्वरूप परमात्मा में (सधमादम्) हर्षोत्सव (मदेम) मनावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पूर्ण विज्ञान और तपस्या से परब्रह्म की खोज कर उपकारी होते हैं, वे अजर अमर होकर उस परमात्मा के साथ आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि । यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥ ५ ॥

शुद्धाः । पूताः । योषितः । यज्ञियाः । इमाः । ब्रह्मणाम् । हस्तेषु । प्र-पृथक् । सादयामि । यत्-कामः । इदम् । अभि-सिञ्चामि । वः । अहम् । इन्द्रः । मरुत्वान् । सः । ददातु । तत् । मे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शुद्धाः) शुद्ध स्वभाव वाली, (पूताः) पवित्र आचरण वाली, (यज्ञियाः) पूजनीय (इमाः) इन (योषितः) सेवा योग्य स्त्रियों को (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मज्ञानी पुरुषों के (हस्तेषु) हाथों के बीच [विज्ञान के बलों में] (प्रपृथक्) नाना प्रकार से (सादयामि) मैं बैठालता हूं । [हे विद्वान् स्त्री पुरुष !] (यत्कामः) जिस उत्तम कामना वाला (अहम्) मैं (इदम्) इस समय (वः) तुम्हारा (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करता हूं, (सः) वह

जीवप्रकृतिभ्यां भिन्ने (नाके) सुखस्वरूपे परमात्मनि (सधमादम्) अ० ६ । ६२ । २ । सहर्षम् (मदेम) हृष्येम ॥

५—(शुद्धाः) निर्मलस्वभावाः (पूताः) पवित्राचाराः (योषितः) अ० १ । १७ । १ । सेव्याः स्त्रीः (यज्ञियाः) पूजार्हाः (इमाः) विदुष्यः (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मज्ञानिनाम् (हस्तेषु) करेषु । विज्ञानबलेषु (प्रपृथक्) प्रथेः कित् सम्प्रसारणं च । उ० १ । १३७ । इति प्रथ प्रख्याने—अजि, स च कित् । पृथक् प्रथतेः—निरु० ५ । २५ । विस्तारेण । नाना प्रकारेण (सादयामि) स्थापयामि (यत्कामः) यत्पदार्थं कामयमानः (इदम्) इदानीम् (अभिषिञ्चामि) अभिषिक्तान् करोमि

(मरुत्वान्) दोषनाशक गुणों वाला (इन्द्रः) सम्पूर्ण ऐश्वर्यवाला जगदीश्वर (तत्) वह वस्तु (मे) मुझे (ददातु) देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने विज्ञान प्राप्ति में स्त्री पुरुषों को समान रक्खा है, इसलिये मनुष्य को विद्वान् स्त्री पुरुषों से सादर विज्ञान प्राप्त करके परमात्मा में श्रद्धालु होकर आनन्दित होवें ॥ ५ ॥

सूक्तम् १२३ ॥

१-५ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३-५ अनुष्टुप् ॥

विद्वद्भिः सत्सङ्गोपदेशः—विद्वानों से सत्संग का उपदेश ॥

एतं संधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः । अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमन् ॥ १ ॥

एतम् । सध-स्थाः । परि । वः । ददामि । यम् । शेव-धिम् । आ-वहात् । जात-वेदाः । अनु-आगन्ता । यजमानः । स्वस्ति । तम् । स्म । जानीत । परमे । वि-ओमन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सधस्थाः) हे साथ साथ बैठने वाले सज्जनो ! (वः) तुम्हारे लिये (एतम्) इस (शेवधिम्) सुखनिधि परमेश्वर को (परिददामि) सब प्रकार से देता हूं [उपदेश करता हूं], (यम्) जिस [परमेश्वर] को (जातवेदाः) विज्ञान को प्राप्त वेदार्थ जानने वाला पुरुष (आवहात्) अच्छे

(वः) युष्मान् विदुषः स्त्रीपुरुषान् (मरुत्वान्) अ० १ । २० । १ । मारयन्ति दोषानिति मरुतः । दोषनाशकगुणैर्युक्तः (सः) प्रसिद्धः (ददातु) प्रयच्छतु (तत्) इष्टं फलं (मे) मह्यम् ॥

१—(एतम्) सर्वव्यापकम् (सधस्थाः) सहस्थानाः (परि) सर्वतः (वः) युष्मभ्यम् (ददामि) (यम्) (शेवधिम्) शेवं सुखं धीयते यस्मिंस्तं निधिम्—निरु० २ । ४ । सुखनिधिं परमात्मानम् (आवहात्) लेटि रूपम् । समन्तात् प्राप्नुयात् (जातवेदाः) जातप्रज्ञो वेदार्थवित् (अन्वागन्ता) गमेर्लट् ।

प्रकार प्राप्त होवे, और [जिसके द्वारा] (यजमानः) परमेश्वर का पूजने वाला (स्वस्ति) कल्याण (अन्वागन्ता) लगातार पावेगा, (परमे) परम उत्तम (व्योमन्) आकाश में वर्तमान (तम्) उस परमेश्वर को तुम (स्म) अवश्य (जानीत) जानो ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों से मिलकर सदाचारी होते हैं, वे ही सर्वव्यापी परमेश्वर से मिलते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से यजुर्वेद में हैं–अ० १८। ५९। ६०, इनका अर्थ भगवान् दयानन्द सरस्वती के आधार पर यहां किया गया है ॥

जानीत स्मैनं परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद लोकमत्र । अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै ॥ २ ॥

जानीत । स्म । एनम् । परमे । वि-ओमन् । देवाः । सध-स्थाः । विद । लोकम् । अत्र । अनु-आगन्ता । यजमानः । स्वस्ति । इष्टापूर्तम् । स्म । कृणुत । आविः । अस्मै ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सधस्थाः) हे साथ साथ बैठने वाले (देवाः) विद्वानो ! (परमे) परम उत्तम (व्योमन्) आकाश में वर्तमान (एनम्) इस [परमात्मा] को (स्म) अवश्य (जानीत) जानो, और (अत्र) इस [परमात्मा] में

निरन्तरमागमिष्यति । प्राप्स्यति (यजमानः) परमेश्वरपूजकः (स्वस्ति) कल्याणम् (तम्) परमात्मानम् (स्म) अवश्यम् (परमे) प्रकृष्टे (व्योमन्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति अव रक्षणे—मनिन् । ज्वरत्वरस्रिव्यवि० । पा० ६ । ४ । २० । इति ऊठि कृते गुणः । सुपां सु लुक्० । सप्तम्या लुक् । न ङि-सम्बुद्ध्योः । पा० ८ । २ । ८ । नलोपाभावः । व्योमन्=व्यवने—निरु० ११ । ४० । व्योमनि । आकाशे ॥

२—(एनम्) सर्वव्यापकं परमेश्वरम् (देवाः) विद्वांसः (विद) लोडर्थे—लट् । वित्त, जानीत (लोकम्) संसारम् (अत्र) अस्मिन् परमात्मनि (इष्टापूर्त्तम्) अ० २ । १२ । ४ । यज्ञवेदाध्ययनान्नप्रदानादिपुण्य-

(लोकम्) संसार को (विद) जानो [और जिसके द्वारा] (यजमानः) परमेश्वर का पूजने वाला (स्वस्ति) कल्याण (अन्वागन्ता) लगातार पावेगा, (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्नदान आदि पुण्यकर्म को (अस्मै) इस परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (स्म) अवश्य (आविः) प्रकाशित (कृणुत) करो ॥ २ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विद्वानों के सत्सङ्ग से योगाभ्यास और धर्म्म का आचरण करके परमेश्वर को जान कर आनन्द करें ॥ २ ॥

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि ॥३॥

देवाः। पितरः। पितरः। देवाः। यः। अस्मि। सः। अस्मि ॥३॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग (पितरः) माननीय, और (पितरः) पालन करने वाले लोग (देवाः) विजयी होते हैं। मैं (यः) चलने फिरने वाला [उद्योगी] (अस्मि) हूं, मैं ही (सः) दुःख मिटाने वाला (अस्मि) हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् ही परस्पर पालन करके विजयी, और आत्म विश्वासी और उद्योगी ही परस्पर सहायक होते हैं ॥ ३ ॥

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् ॥४॥

सः। पचामि। सः। ददामि। सः। यजे। सः। दत्तात्। मा। यूषम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सः) क्लेशनाशक मैं [अन्न] को (पचामि) परिपक्व करता हूं, (सः) वही मैं (ददामि) दान करता हूं, (सः) वही मैं (यजे)

कर्म। (कृणुत) कुरुत (आविः) प्रकाशे (अस्मै) परमात्मप्राप्तये। अन्यद् गतम्—म० १ ॥

३—(देवाः) विद्वांसः (पितरः) पालयितारः। माननीयाः (देवाः) विजगीषवः (यः) या प्रापणे—ड। गन्ता। उद्योगी (अस्मि) अहं वर्ते (सः) षो अन्तकर्मणि—ड। दुःखनाशकः ॥

४—(सः)—म० ३। क्लेशनाशकः (पचामि) पाकेन संस्करोमि (सः) प्रसिद्धः (ददामि) दानानि करोमि (यजे) देवान् पूजयामि (दत्तात्)

विद्वानों को पूजता हूं (सः) वह मैं (दत्तात्) दान से [सुपात्रों के लिये] (मा यूषम्) पृथक् न होऊं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ के साथ सुपात्रों का सत्कार करके कीर्त्तिमान् होवें ॥ ४ ॥

नाके॑ राजन् प्रति॑ तिष्ठ॒ तत्रै॒तत् प्रति॑ तिष्ठतु ।

वि॒द्धि पू॒र्तस्य॑ नो राज॒न्त्स दे॑व सु॒मना॑ भव ॥ ५ ॥

नाके॑ । रा॒ज॒न् । प्रति॑ । ति॒ष्ठ॒ । तत्र॑ । ए॒तत् । प्रति॑ । ति॒ष्ठ॒तु॒ । वि॒द्धि । पू॒र्तस्य॑ । नः॒ । रा॒ज॒न् । सः । दे॒व॒ । सु॒-मनाः॑ । भ॒व॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे समर्थ मनुष्य ! (नाके) सुख स्वरूप परमात्मा में (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठा पा, (तत्र) उसी [परमात्मा] में ही (एतत्) यह[तेरा पुण्य कर्म] (प्रति तिष्ठतु) प्रतिष्ठा पावे । (राजन्) हे विद्या से प्रकाशमान् ! (नः) हमारे लिये (पूर्तस्य) अन्न दान आदि पुण्य कर्म का (विद्धि) ज्ञान कर, (सः) वह तू, (देव) हे गतिशील ! (सुमनाः) प्रसन्नचित्त (भव) हो ॥५॥

भावार्थ—मनुष्य अपने सब शुभ कर्मों को परमात्मा में समर्पण करके पुण्य कर्म करता हुआ सदा प्रसन्न रहे ॥ ५ ॥

सूक्तम् १२४ ॥

१-३ ॥ अग्नि र्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आत्मशुद्ध्युपदेशः—आत्मा की शुद्धि का उपदेश ॥

दि॒वो नु मां बृ॑ह॒तो अ॒न्तरि॑क्षाद॒पां स्तो॒को अ॒भ्यप॑प्तद्

सुपात्रेभ्यो दानात् (मा यूषम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—माङि लुङि च्लेः सिच्, छान्दसो दीर्घः । पृथक्कृतो मा भूवम् ॥

५—(नाके) दुःख रहिते सुखस्वरूपे परमात्मनि (राजन्) हे समर्थ जीव (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठया स्थितो भव (तत्र) तस्मिन् परमात्मनि (एतत्) पूर्तम् । पुण्यकर्म (प्रति तिष्ठतु) प्रतिष्ठया स्थितं भवतु (विद्धि) ज्ञानं कुरु (पूर्तस्य) अ० २ । १२ । ४ । अन्नप्रदानादिपुण्यकर्मणः (नः) अस्मभ्यम् (राजन्) (सः) स त्वम् (देव) उद्योगिन् (सुमनाः) प्रसन्नचित्तः (भव) ॥

रसे॑न । समि॑न्द्रि॒येण॒ पय॑सा॒हम॑ग्ने॒ छन्दो॑भिर्य॒ज्ञैः सु॒कृतां॑ कृ॒तेन॑ ॥ १ ॥

दि॒वः । नु । माम् । बृ॒ह॒तः । अ॒न्तरि॑क्षात् । अ॒पाम् । स्तो॒कः । अ॒भि । अ॒प॒प्त॒त् । रसे॑न । सम् । इ॒न्द्रि॒येण॑ । पय॑सा । अ॒हम् । अग्ने॑ । छन्दः॑-भिः । य॒ज्ञैः । सु॒-कृता॑म् । कृ॒तेन॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दिवः) प्रकाशमान सूर्य से, (नु) अथवा (बृहतः) [सूर्य से] बड़े (अन्तरिक्षात्) आकाश से (अपाम्) जल का (स्तोकः) बिन्दु (माम् अभि) मेरे ऊपर (रसेन) रस के साथ (अपतत्) गिरा है। (सुकृताम्) सुकर्मियों के (कृतेन) कर्म से, (अग्ने) हे सर्वव्यापी परमेश्वर! (इन्द्रियेण) इन्द्रपन अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य के साथ, (पयसा) अन्न के साथ (छन्दोभिः) आनन्ददायक कर्मों के साथ (यज्ञैः) विद्या आदि दानों के साथ (अहम्) मैं (सम्=संगच्छेय) मिला रहूं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे जल सूर्य द्वारा खिंच कर मेघमण्डल से बरस कर संसार को पुष्ट करता है, वैसे ही धर्म्मात्माओं से उत्तम गुण ग्रहण करके मनुष्य अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ १ ॥

यदि॑ वृ॒क्षाद॒भ्यप॑प्त॒त् फल॒ं तद् यद्य॒न्तरि॑क्षा॒त् स उ॑ वा॒युरे॒व । यत्रास्पृ॑क्ष॒त् त॒न्वो॒३ यच्च॒ वास॑स॒ आपो॑

१—(दिवः) प्रकाशमानात् सूर्यात् (नु) अथवा (माम्) प्राणिनम् (अभि) अभिलक्ष्य (बृहतः) विशालात् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (अपाम्) जलानाम् (स्तोकः) अ० ४। ३८। ६। बिन्दुः (अपतत्) अ० ५। ३०। ६। पतितोऽभूत् (रसेन) सारेण (सम्) क्रियाग्रहणम्। संगच्छेय (इन्द्रियेण) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्ट०। पा० ५। २। ९३। इन्द्रस्य आत्मनो लिङ्गम्। ऐश्वर्यम्। धनम्—निघ० २। १०। (पयसा) अन्नेन—निघ० २। ७। (अहम्) मनुष्यः (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (छन्दोभिः) अ० ४। ३४। १। आह्लादनैः (यज्ञैः) विद्यादिदानैः सह (सुकृताम्) पुण्यकर्मिणाम् (कृतेन) कर्मणा ॥

नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः ॥ २ ॥

यदि । वृक्षात् । अभि-अपप्तत् । फलम् । तत् । यदि । अन्तरिक्षात् । सः । ऊं इति । वायुः । एव । यत्र । अस्पृक्षत् । तन्वः । यत् । च । वाससः । आपः । नुदन्तु । निः-ऋतिम् । पराचैः ॥२

भाषार्थ—(यदि) यदि (वृक्षात्) वृक्ष से (तत् फलम्) वह [अशुद्ध] फल, और (यदि) यदि (अन्तरिक्षात्) आकाश से (सः उ वायुः) वही [अशुद्ध] वायु (एव) वैसे ही (अभ्यपतत) गिर पड़ा है, और (यत्) जिसने (यत्र) जहां पर (तन्वः) शरीर का (च) और (वाससः) वस्त्र का (अस्पृक्षत्) स्पर्श किया है, (आपः) जल (निर्ऋतिम्) अलक्ष्मी [अशुद्धि] को (पराचैः) उलटे मुंह (नुदन्तु) हटा देवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे अशुद्ध फल वा अशुद्ध वायु से मलिन वस्त्र वा शरीर को जल से शुद्ध करते, हैं, वैसे ही मनुष्य दोषों से दूषित आत्मा को यथार्थ ज्ञान से शुद्ध कर लेवें ॥ २ ॥

अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव । सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत् तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥ ३ ॥

अभि-अञ्जनम् । सुरभि । सा । सम्-ऋद्धिः । हिरण्यम् । वर्चः । तत् । ऊं इति । पूत्रिमम् । एव । सर्वा । पवित्रा ।

२—(यदि) (वृक्षात्) (अभ्यपप्तत्) म० १ । अभितः पतितम् (फलम्) (तत्) (यदि) (अन्तरिक्षात्) (सः) (उ) अवधारणे (वायुः) (एव) एवं तथा (यत्र) यस्मिन् भागे (अस्पृक्षत्) स्पर्शतेर्लुङि रूपम् । स्पर्शम् अकरोत् (तन्वः) शरीरस्य (यत्) (च) (वाससः) वस्त्रस्य (आपः) जलानि (नुदन्तु) प्रेरयन्तु (निर्ऋतिम्) अ० २ । १० । १ । अलक्ष्मीम् । अशुद्धिम् (पराचैः) पराङ्मुखीं कृत्वा ॥

वि-तता । अधि । अस्मत् । तत् । मा । तारीत् । निः-ऋतिः । मो इति । अरातिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अभ्यञ्जनम्) तेल आदि लगाना, (सुरभि) सुगन्ध चन्दनादि, (सा समृद्धिः) वह सम्पत्ति, (हिरण्यम्) सुवर्ण, (वर्चः) तेज, (तदु) वही (पवित्रमम्) पवित्रता (एव) वैसे ही है, (सर्वा) सब (पवित्रा) शोधन के साधन (अस्मत् अधि) हमारे ऊपर (वितता) फैले हुये हैं, (तत्) इस लिये [हम को] (मा) न तो (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी (मो) और न (अरातिः) कंजूस पुरुष (तारीत्) दबावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य पवित्र धार्मिक व्यवहारों से संसार के आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करके सदा सुख भोगे ॥ ३ ॥

इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

अथ त्रयोदशो ऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १२५ ॥

१-३ ॥ सुवीरो देवता ॥ १ विराट्; २ जगती; ३ त्रिष्टुप् ॥

सेनासेनापतिकर्तव्योपदेशः—सेना और सेनापति के कर्तव्य का उपदेश॥

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सु-

३—(अभ्यञ्जनम्) अभ्यङ्गसाधकं तैलादिकम् (सुरभि) सुगन्धं चन्दनादिकम् (सा) प्रसिद्धा (समृद्धिः) सम्पत्तिः (हिरण्यम्) सुवर्णम् (वर्चः) तेजः। बलम् (तत्) (उ) (पवित्रमम्) ड्वितः क्त्रिः । पा० ३ । ३ । ८८ । इति बाहुलकात् पूञ् पवने—क्त्रिः। क्त्रेर्मम् नित्यम् । पा० ४ । ४ । २० । इति मप् । शुद्धिसाधनम् (एव) (एवम्) (सर्वा) सर्वाणि (पवित्रा) शोधनानि (वितता) विस्तृतानि (अस्मदधि) अस्माकमुपरि (तत्) तस्मात् (मा) निषेधे (निर्ऋतिः) अलक्ष्मीः (मो तारीत्) अ० २ । ७ । ४ । मैवातिक्रामतु (अरातिः) अ० २ । ७ । ४ । अदाता । कृपणः ॥

वीरः। गोभिः संनद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ १ ॥

वनस्पते। वीडु-अङ्गः। हि। भूयाः। अस्मत्-सखा। प्र-तरणः। सु-वीरः। गोभिः। सम्-नद्धः। असि। वीडयस्व। आ-स्थाता। ते। जयतु। जेत्वानि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वनस्पते) हे किरणों के पालन करनेवाले सूर्य के समान राजन् ! (वीड्वङ्गः) बलिष्ठ अङ्गों वाला तू (हि) ही (प्रतरणः) बढ़ाने वाला (सुवीरः) अच्छे अच्छे वीरों से युक्त (अस्मत्सखा) हमारा मित्र (भूयाः) हो। तू (गोभिः) बाणों और वज्रों से (संनद्धः) अच्छे प्रकार सजा हुआ (असि) है, [हमें] (वीडयस्व) दृढ़ बना, (ते) तेरा (आस्थाता) श्रद्धावान् सेनापति (जेत्वानि) जीतने योग्य शत्रुओं की सेनाओं को (जयन्तु) जीते ॥१॥

भावार्थ—परस्पर नित्य संबन्ध वाले सूर्य और किरणों के समान राजा, सेना और प्रजा का परस्पर नित्य संबन्ध होवै, और जितेन्द्रिय बलवान् राजा के समान सेना और प्रजा भी जितेन्द्रिय और बलवान् होवें ॥ १ ॥

मन्त्र १-३ कुछ भेद से ऋ० ६। ४७। २६-२८ और यजुर्वेद २६। ५२-५४ में हैं। इन का भाष्य महर्षि दयानन्द सरस्वती के आधार पर किया गया है ॥ १ ॥

दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतम्

१—(वनस्पते) अ० १। ३५। ३। वनानां किरणानां पालकः सूर्य इव राजन् (वीड्वङ्गः) वीलु बलम्-निघ० २। ६। बलिष्ठाङ्गः (हि) (भूयाः) भवेः (अस्मत्सखा) अस्माकं मित्रम् (प्रतरणः) प्रतारकः। प्रवर्धकः (सुवीरः) कल्याण-वीरः-निरु० ६। १२। सुष्ठु वीरयुक्तः (गोभिः) इषुभिः। वज्रैः। स्वर्गेषुपशु-वाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले-इत्यमरः, २३। २५। (सन्नद्धः) सम्यक् सज्जः (असि) (वीडयस्व) वीलयतिः संस्तम्भकर्मा—निरु० ५। १६। यद्वा, वीर विक्रान्तौ, रस्यडः। दृढान् कुरु (आस्थाता) आस्थया श्रद्धया युक्तः (ते) तव (जयतु) (जेत्वानि) कृत्यार्थे तवैकेन् ०। पा० ३। ४। १४। जि जये—त्वन्। जेतव्यानि शत्रुसैन्यानि ॥

सहः । अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज ॥ २ ॥

दिवः । पृथिव्याः । परि । ओजः । उत्-भृतम् । वनस्पति-भ्यः । परि । आ-भृतम् । सहः । अपाम् । ओज्मानम् । परि । गोभिः । आ-वृतम् । इन्द्रस्य । वज्रम् । हविषा । रथम् । यज ॥२॥

भाषार्थ—(दिवः) बिजुली वा सूर्य से और (पृथिव्याः) भूमि वा अन्तरिक्ष से (उद्भृतम्) उत्तम रीति से धारण किये गये (ओजः) बल को (परि) प्राप्त करके, (वनस्पतिभ्यः) बट आदि वनस्पतियों से (आभृतम्) अच्छे प्रकार पुष्ट किये गये (सहः) बल को (परि) प्राप्त करके (गोभिः) किरणों से (आवृतम्) ढांपे हुये (अपाम्) जलों के (ओज्मानम्) बल को (परि) प्राप्त करके (वज्रम्) शस्त्र समूह और (रथम्) रथ को (इन्द्रस्य) बिजुली के (हविषा) ग्राह्य गुण के साथ (यज) संयुक्त कर ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य पृथ्वी आदि भूतों और उनसे उत्पन्न पदार्थों के सम्बन्ध से बल और पराक्रम बढ़ा कर विमान आदि यानों को बना कर आनन्दित होवें ॥ २ ॥

इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः । स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥ ३ ॥

२—(दिवः) विद्युतः सूर्याद् वा (पृथिव्याः) भूमेरन्तरिक्षाद् वा (परि) लक्षणेत्थंभूताख्यान० । पा० । १ । ४ । ९० । इति कर्मप्रवचनीयत्वम् । प्राप्य (ओजः) बलम् (उद्भृतम्) उत्तमतया धृतम् (वनस्पतिभ्यः) वटादिभ्यः (परि) प्राप्य (आभृतम्) समन्तात् पोषितम् (सहः) बलम् (अपाम्) जलानाम् (ओज्मानम्) अ० ४ । १९ । ८ । बलम् (परि) प्राप्य (गोभिः) किरणैः (आवृतम्) आच्छादितम् (इन्द्रस्य) विद्युतः (वज्रम्) शस्त्रसमूहम् (हविषा) ग्रहणेन (रथम्) रमणीयं विमानादियानम् (यज) संयोजय ॥

इन्द्रस्य । ओजः । मुरुताम् । अनीकम् । मित्रस्य । गर्भः । वरुणस्य । नाभिः । सः । इमाम् । हुव्य-दातिम् । जुषाणः । देव । रथ । प्रति । हुव्या । गृभाय ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् ! यहां पर] (मरुताम्) शूरों का (अनीकम्) सेनादल, (इन्द्रस्य) बिजुली का (ओजः) बल, (मित्रस्य) प्राण [चढ़ने वाले वायु] का (गर्भः) गर्भ [अधिष्ठान] और (वरुणस्य) अपान [उतरने वाले वायु] का (नाभिः) नाभि [मध्यस्थान] है । (सः) सो तू (देव) हे प्रकाशमान ! (रथ) रमणीय स्वरूप विद्वान् ! (नः) हमारे लिये (इमाम्) इस (हव्यदातिम्) देने योग्य पदार्थों की दान क्रिया को (जुषाणः) सेवता हुआ (हव्या) ग्राह्य वस्तुओं को (प्रति) प्रतीति के साथ (गृभाय) ग्रहण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस सेना में शूर वीर सैनिक बिजुली की शक्ति और वायु के चढ़ाव उतार क्रियाओं में कुशल होते हैं, वे सेनापति और सेनादल परस्पर सहाय करके विजयी होते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२६ ॥

१-३ ॥ वीरा देवताः ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३ विराट् ॥

राजसेनयोः कर्तव्योपदेशः—राजा और सेना के कर्तव्यों का उपदेश ॥

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते वन्वतां विष्ठितं जगत् । स दुन्दुभे सुजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अप सेध शत्रून् ॥ १ ॥

उप । श्वासय । पृथिवीम् । उत । द्याम् । पुरु-त्रा । ते ।

३—(इन्द्रस्य) विद्युतः (ओजः) बलम् (मरुताम्) अ० १ । २० । १ । शूराणाम् (अनीकम्) सैन्यम् (मित्रस्य) प्राणस्य (गर्भः) आधारः (वरुणस्य) अपानस्य (नाभिः) बन्धनम् । मध्यस्थानम् (सः) स त्वम (नः) अस्मभ्यम् (हव्यदातिम्) दातव्यदानक्रियाम् (जुषाणः) सेवमानः (देव) हे दिव्यविध (रथ) रमणीयस्वरूप (प्रति) प्रतीत्या (हव्या) ग्राह्यवस्तूनि (गृभाय) गृहाण ॥

वन्वताम् । वि-स्थितम् । जगत् । सः । दुन्दुभे । स-जूः । इन्द्रेण । देवैः । दूरात् । दवीयः । अप । सेध । शत्रून् ॥१॥

भाषार्थ—[हे राजन्] (पृथिवीम्) भूमि वा अन्तरिक्ष को (उत) और (द्याम्) सूर्य वा बिजुली में (उप) उपयोग के साथ (श्वासय) जीवन डाल, (पुरुत्रा) अनेक पदार्थों में (ते) तेरे लिये (विष्ठितम्) व्याप्त (जगत्) जगत् को (वन्वताम्) वे [वीर लोग] याचना करें । (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि [ढोल) के सदृश गर्जने वाले वीर! (सः) सो तू (इन्द्रेण) ऐश्वर्य व बिजुली के अस्त्र समूह से और (देवैः) विजयी वीरों से (सजूः) प्रीति करता हुआ (दूरात्) दूर से (दवीयः) अति दूर (शत्रून्) शत्रुओं को (अपसेध) हटा दे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा वीरों द्वारा बिजुली आदि के अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को हटा कर चक्रवर्ती राज्य करके आकाश और भूमि पर शान्ति करे ॥ १ ॥

मन्त्र १, ३ कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ६ । ४७ । २६, ३१, यजु० २६ । ५५ । ५७ । इन मन्त्रों का अर्थ भगवान् दयानन्द सरस्वती के आधार पर किया गया है ॥

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभि ष्टन दुरिता बाधमानः । अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥ २ ॥

आ । क्रन्दय । बलम् । ओजः । नः । आ । धाः । अभि । स्तन ।

१—(उप) उपयोगेन (श्वासय) प्राणय । आश्रय (पृथिवीम्) भूमिमन्तरिक्षं वा (उत) अपि (द्याम्) सूर्यं विद्युतं वा (पुरुत्रा) बहुषु पदार्थेषु (ते) तुभ्यम् (वन्वताम्) वनु याचने । याचन्तां वीराः (विष्ठितम्) व्याप्तम् (जगत्) जगद्राज्यम् (सः) स त्वम् (दुन्दुभे) अ० ५ । २० । १ । दुन्दुभिरिव गर्जक (सजूः) अ० ६ । ३५ । २ । प्रीतिसहितः (इन्द्रेण) विद्युदस्त्रेण (देवैः) विजिगीषुभिर्वीरैः (दूरात) (दवीयः) दूर—ईयसुन् । स्थूलदूरयुव० पा० ६ । ४ । १५६ । इति रलोपः पूर्वस्य च गुणः । अदूरतरम् (अपसेध) अपनय (शत्रून्) ॥

दुः-इता । बाधमानः । अप । सेध । दुन्दुभे । दुच्छुनाम् । इतः । इन्द्रस्य । मुष्टिः । असि । वीडयस्व ॥ २ ॥

भाषार्थ— [हे राजन्!] (बलम्) बल और (ओजः) पराक्रम (नः) हमें (आ धाः) अच्छे प्रकार दे, [शत्रुओं को] (आ क्रन्दय) सब ओर से रुला और (दुरिता) कष्टों को (बाधमानः) हटाता हुआ (अभि) सब ओर (स्तन) मेघध्वनि कर । (दुन्दुभे) हे दुन्दुभी [के समान गरजने वाले !] (इतः) यहां से (दुच्छुनाम्) दुष्ट गति को (अप सेध) हटा दें, तू (इन्द्रस्य) बिजली की (मुष्टिः) मूंठ [के समान दुष्टों को मारने वाला] (असि) है, [राज्य को] (वीडयस्व) दृढ कर ॥ २ ॥

भावार्थ— जैसे राजा बलवान् होकर यथावत् अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को जीतकर प्रजा पालन करता है, वैसे ही मनुष्य आत्मदोष मिटा कर धर्मिष्ठ होवें ॥ २ ॥

प्रामूं जया॒भी३मे जयन्तु केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीतु । सम-श्वपर्णाः पतन्तु नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥३॥

प्र । अमूम् । जय । अभि । इमे । जयन्तु । केतु-मत् । दुन्दुभिः । वावदीतु । सम् । अश्व-पर्णाः । पतन्तु । नः । नरः । अस्माकम् । इन्द्र । रथिनः । जयन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अमूम्) उस [शत्रुसेना] को (प्र) अच्छे प्रकार (जय) जीत ले, (इमे) यह (केतुमत्) ध्वजा पताका वाले शूर (अभि) सब ओर से

२—(आ) समन्तात् (क्रन्दय) रोदय शत्रून् (बलम्) (ओजः) पराक्रमम् (नः) अस्मभ्यम् (आ) (धाः) धेहि (अभि) सर्वतः (स्तन) स्तन मेघशब्दे । मेघध्वनिं कुरु (दुरिता) कष्टानि (बाधमानः) निवारयन् (अप सेध) अपगमय (दुन्दुभे) दुन्दुभिरिव शब्दायमान (दुच्छुनाम्) अ० ५ । १७ । ४ । दुर्गतिम (इतः) अस्माद् देशात् (इन्द्रस्य) विद्युतः (मुष्टिः) मुष्टिरिव दुष्टानां हन्ता (असि) (वीडयस्व) बलयस्व राज्यम् ॥

३—(प्र) प्रकर्षेण (अमूम्) शत्रुसेनाम् (अभि) सर्वतः (जयन्तु) (केतु-मत्) विभक्तेर्लुक् । प्रशस्तध्वजयुक्ताः शूराः (वावदीति) भृशं वदति (सम्)

(जयन्तु) जीत लेवें, (दुन्दुभिः) ढोल (वावदीति) ऊंचे स्वर से बजता है। (अश्वपर्णाः) घुड़चढ़ों के पक्ष [सेना दल] वाले (नः) हमारे (नरः) नायक लोग (सम्) ठीक रीति से (पतन्तु) धावा करें, (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (अस्माकम्) हमारे (रथिनः) अच्छे अच्छे रथों पर चढ़े हुये वीर (जयन्तु) जीतें ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा अपने शूर वीरों से दुन्दुभि बजा कर घुड़चढ़े सैन्यकों का दल बना कर शत्रुओं पर धावा करके जीत लेवे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२७ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश का उपदेश ॥

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते ।
विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन ॥ १ ॥

वि-द्रधस्य । बलासस्य । लोहितस्य । वनस्पते । वि-सल्पकस्य । ओषधे । मा । उत् । शिषः । पिशितम् । चन ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वनस्पते) हे वटादि वृक्ष ! (ओषधे) हे अन्न आदि ओषधि ! (विद्रधस्य) ज्ञाननाशक, हृदय के फोड़े के, (बलासस्य) बल के गिराने वाले सन्निपात कफादि रोग के, (लोहितस्य) रुधिर विकार सूजन आदि के, (विसल्पकस्य) शरीर में फैलने वाले हड़ फूटन के (पिशितम् चन)

सम्यक् (अश्वपर्णाः) अश्वानामश्ववाराणां पर्णाः पक्षाः पार्श्वा येषां ते (पतन्तु) धावन्तु (नः) अस्माकम् (नरः) नायकाः (अस्माकम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् सेनापते (रथिनः) प्रशस्तरथ-रूढाः शूराः (जयन्तु) ॥

१—(विद्रधस्य) विदं ज्ञानं रध्यति हिनस्तीति, विद् ज्ञाने क्विप+रध हिंसने पाके च—अच् । हृदयव्रणस्य । विद्रधेः (बलासस्य) अ० ४ । ६ । ८ । सन्निपातश्लेष्मादिविकारस्य (लोहितस्य) रुहेरश्च लो वा । उ० ३ । ६४ । इति रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—इतन्, रस्य लः । प्रादुर्भावस्य । रुधिरविकारस्य

थोड़े अंश को भी (मा उत शिषः) शेष मत छोड़ ॥ १ ॥

भावार्थ—वैद्य रोग निदान जानकर उत्तम परीक्षित ओषधियों से रोग निवृत्ति करे ॥ १ ॥

यौ ते॑ बलास॒ तिष्ठ॑तः कक्षे॒ मु॒ष्कावप॑श्रितौ ।
वेदा॒हं तस्य॑ भेष॒जं चीपु॑द्रु॒रभि॒चक्ष॑णम् ॥ २ ॥

यौ । ते॒ । ब॒ला॒स॒ । तिष्ठ॑तः । कक्षे॑ । मु॒ष्कौ । अप॑-श्रितौ ।
वेद॑ । अ॒हम् । तस्य॑ । भे॒ष॒जम् । चीपु॑द्रुः । अ॒भि॒-चक्ष॑णम् ॥२॥

भाषार्थ—(बलास) हे सन्निपात कफ आदि रोग ! (यौ) जो (ते) तेरी (मुष्कौ) दो गिलटियां (कक्षे) [रोगी की] कांख में (अपश्रितौ) आश्रय लिये हुये (तिष्ठतः) स्थित हैं । (अहम्) मैं (तस्य भेषजम्) उसकी ओषधि (वेद) जानता हूं, (चीपुद्रुः) ग्रहण करने योग्य चीपुद्रु [ओषधि विशेष] (अभिचक्षणम्) औषध है ॥२॥

भावार्थ—वैद्य ज्वर, गिलटी आदि रोगों की यथावत् चिकित्सा करे ॥२॥

यो अङ्ग्यो॒ यः कर्ण्यो॒ यो अ॒क्ष्योर्वि॒सल्प॑कः ।
वि वृ॑हामो वि॒सल्प॑कं विद्र॒धं हृ॑दयाम॒यम् ।
परा॒ तमज्ञा॑तं॒ यक्ष्म॑मध॒राञ्चं॑ सुवामसि ॥ ३ ॥

यः । अङ्ग्य॑ः । यः । कर्ण्यः॑ । यः । अ॒क्ष्योः । वि॒-सल्प॑कः । वि ।
वृ॒हा॒मः । वि॒-सल्प॑कम् । वि॒-द्र॒धम् । हृ॒द॒य॒-आ॒म॒यम् । परा॑ ।

(वनस्पते) वटादिवृक्ष (विसल्पकस्य) सृप सर्पणे—अच्, कन्, रस्य लः । शरीरे विसर्पणशीलस्य विसर्परोगस्य (ओषधेः) (मोच्छिषः) शिषॢ विशेषणे-लुङ् । मोच्छेषय (पिशितम्) पिश अवयवे—क्त । अवयवम् । अंशम् (चन) किमपि ॥

२—(यौ) (ते) तव (बलास) म० १ । (तिष्ठतः) वर्तेते (कक्षे) रोगिणो बाहुमूले (मुष्कौ) अण्डरूपौ रोगग्रन्थी (अपश्रितौ आश्रितौ (वेद) जानामि (अहम्) वैद्यः (तस्य) रोगस्य (भेषजम्) (चीपुद्रुः) चीवृ आदान-संवरणयोः—उ, पृषोदरादिः । द्रुमविशेषः (अभिचक्षणम्) व्याधिनिवर्तकम् ॥

तम् । अज्ञातम् । यक्ष्मम् । अधराञ्चम् । सुवामसि ॥ ३ ॥

भावार्थ—(यः) जो (अङ्ग्यः) अङ्गों में रहने वाला, (यः) जो (कर्ण्यः) कानों में होने वाला, (यः) जो (अक्ष्योः) दोनों आंखों का (विसल्पकः) हड़फूटन है। (विसल्पकम्) उस हड़फूटन रोग को, (विद्रधम्) हृदय के फोड़े को और (हृदयामयम्) हृदय की पीड़ा को (वि वृहामः) हम उखाड़े देते हैं। (अज्ञातम्) अप्रकट (यक्ष्मम्) उस राज रोग को (अधराञ्चम्) नीचे की ओर (परा) दूर (सुवामसि) हम फेंकते हैं ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का मिलान अ० २ । ३३ । १ से करो ॥

भावार्थ—सद्वैद्य सब प्रकट और अप्रकट रोगों को यथावत् जान कर रोग निवृत्ति करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२८ ॥

१-४ ॥ शकधूमो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आनन्दप्राप्त्युपदेशः—आनन्द पाने का उपदेश ॥

शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत ।
भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥ १ ॥

शक-धूमम् । नक्षत्राणि । यत् । राजानम् । अकुर्वत । भद्र-अहम् । अस्मै । प्र । अयच्छन् । इदम् । राष्ट्रम् । असात् । इति ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) जिस कारण से (नक्षत्राणि) चलने वाले नक्षत्रों ने (शकधूमम्) समर्थ [सूर्य आदि] लोकों के कंपाने वाले परमेश्वर को

३—(यः) विसल्पकः (अङ्ग्यः) शरीरावयवाच्च । पा० ४ । ३ । ५५ । इति भवे यत् । अङ्गेषु हस्तपादादिषु भवः (कर्ण्यः) कर्णयोरुत्पन्नः (अक्ष्योः) अ० २ । ३३ । १ । नेत्रयोः (विसल्पकः) म० १ । विसर्परोगः (विवृहामः) उन्मूलयामः (विसल्पकम्) (विद्रधम्) म० १ । हृदयव्रणम् (हृदयामयम्) हृद्रोगम् (परा) दूरे (अज्ञातम्) अप्रकटम् (यक्ष्मम्) राजरोगम् (अधराञ्चम्) अधोमुखम् (सुवामसि) प्रेरयामः ॥

१—(शकधूमम्) शक्लृ शक्तौ—पचाद्यच्+धूञ् कम्पने—मक् । शकानां समर्थानां सूर्यादिलोकानां कम्पकं परमेश्वरम् (नक्षत्राणि) गमनशीला-

(राजानम्) राजा (अकुर्वत) बनाया, और (अस्मै) उसी के लिये (भद्राहम्) शुभ दिन का (प्र अयच्छन्) अच्छे प्रकार समर्पण किया, (इति) इसी कारण से (इदम्) यह जगत् (राष्ट्रम्) उस का राज्य (असात्) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के वश में सूर्य आदि लोक और सब नक्षत्र हैं, वही जगत् स्वामी हमें सदा आनन्द देता रहे ॥ १ ॥

भद्राहं नो मध्यंदिने भद्राहं सायमस्तु नः ।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः ॥ २ ॥

भद्र-अहम् । नः । मध्यंदिने । भद्र-अहम् । सायम् । अस्तु । नः । भद्र-अहम् । नः । अह्नाम् । प्रातः । रात्री । भद्र-अहम् । अस्तु । नः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (मध्यन्दिने) मध्य दिन में (भद्राहम्) शुभ दिन, (नः) हमारे लिये (सायम्) सायंकाल में (भद्राहम्) शुभ दिन, (नः) हमारे लिये (अह्नाम्) सब दिनों के (प्रातः) प्रातःकाल में (भद्राहम्) शुभ दिन (अस्तु) होवे, (नः) हमारे लिये (रात्री) रात्रि में (भद्राहम्) शुभ दिन (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के अनुग्रह से सब काल में धर्म का आचरण कर के सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् ।
भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि ॥ ३ ॥

स्तारागणाः (यत्) यतः (राजानम्) शासकम् (अकुर्वत) कृतवन्ति (भद्राहम् राजाहः सखिभ्यष्टच् । पा० ५ । ४ । ९१ । भद्र+अहन्—टच् । पुण्याहं शुभदिनम् (अस्मै) परमेश्वराय (प्र) प्रकर्षेण (अयच्छन्) समर्पितवन्ति (इदम्) जगत् (राष्ट्रम्) तस्य राज्यम् (असात्) भवेत् (इति) हेतोः ॥ १ ॥

२—(भद्राहम्) म० १ । शुभकालः (नः) अस्मभ्यम् (मध्यन्दिने) मध्याह्ने (सायम्) सूर्यास्ते (अस्तु) (अह्नाम्) सर्वदिनानाम् (प्रातः) सूर्योदये (रात्री) रात्र्याम् ॥ अन्यद् व्याख्यातम् ॥

अहोरात्राभ्याम् । नक्षत्रेभ्यः । सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् । भद्र-अहम् । अस्मभ्यम् । राजन् । शक-धूम । त्वम् । कृधि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शकधूम) हे समर्थ सूर्य आदि लोकों के कंपाने वाले (राजन्) परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अहोरात्राभ्याम्) दिन और रात्रि से, (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रों से और (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा से (भद्राहम्) शुभ दिन (कृधि) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब काल में, सब स्थान में, सब पदार्थों से उपकार लेकर परमेश्वर की महिमा विचारते हुये सदा सुखी रहें ॥ ३ ॥

यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा ।
तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

यः । नः । भद्र-अहम् । अकरः । सायम् । नक्तम् । अथो इति । दिवा । तस्मै । ते । नक्षत्र-राज । शक-धूम । सदा । नमः ॥४॥

भाषार्थ—(यः) जिस तू ने (नः) हमारे लिये (सायम्) सायंकाल में, (नक्तम्) रात्रि में (अथो) और (दिवा) दिन में (भद्राहम्) शुभ दिन (अकरः) किया है । (नक्षत्रराज) हे नक्षत्रों के राजा ! (शकधूम) हे समर्थ सूर्य आदि लोकों के कंपाने वाले परमेश्वर ! (तस्मै ते) उस तेरे लिये (सदा) सदा (नमः) नमस्कार होवे ॥ ४ ॥

३—(अहोरात्राभ्याम्) अहः सर्वैकदेश० । पा० ५ । ४ । ८७ । इत्यकारः समासान्तः । अहश्चरात्रिश्च ताभ्यां सकाशात् (नक्षत्रेभ्यः) अश्विन्यादिभ्यः (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्) अकारश्छान्दसः समासान्तः । सूर्यचन्द्राभ्याम् (भद्राहम्) शुभदिनम् (अस्मभ्यम्) अस्मदर्थम् (राजन्) शासितः (शकधूम) म० १ । समर्थानां सूर्यादिलोकानां कम्पक (त्वम्) (कृधि) कुरु ॥

४—(यः) यस्त्वम् (नः) अस्मभ्यम् (भद्राहम्) म० १ । (अकरः) कृतवानसि (सायम्) (नक्तम्) रात्रौ (अथो) अपि च (दिवा) दिवसे (तस्मै) तथाभूताय (ते) तुभ्यम् (नक्षत्रराज) नक्षत्राणां स्वामिन् (शकधूम) म० १ । (सदा) सर्वदा (नमः) सत्कारः ॥

भावार्थ—मनुष्य सुखनिधि परमात्मा का उपकार साक्षात् करके संसार का उपकार करते हुये उसकी आज्ञा का पालन करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १२८ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

भगे॑न मा शांश॒पेन॑ सा॒कमिन्द्रे॑ण मे॒दिना॑ ।
कृ॒णोमि॑ भ॒गिनं॒ माप॑ द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥ १ ॥
भगे॑न । मा॒ । शां॒श॒पेन॑ । सा॒कम् । इन्द्रे॑ण । मे॒दिना॑ ।
कृ॒णोमि॑ । भ॒गिन॑म् । मा॒ । अप॑ । द्रा॒न्तु॒ । अरा॑तयः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मेदिना) परममित्र (इन्द्रेण साकम्) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर के साथ वर्तमान (शांशपेन) शान्ति के स्पर्श से युक्त (भगेन) ऐश्वर्य से (मा मा) अपने को अवश्य (भगिनम्) बड़े ऐश्वर्य वाला (कृणोमि) मैं करूं । (अरातयः) हमारे सब कंजूस स्वभाव (अप द्रान्तु) दूर भाग जावें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य आनन्द कन्द परमेश्वर के अखण्ड कोश से उपकार लेकर सुपात्रों को दान करते रहें ॥ १ ॥

येन॑ वृ॒क्षाँ अ॒भ्यभ॑वो॒ भगे॑न॒ वर्च॑सा स॒ह ।
तेन॑ मा भ॒गिनं॑ कृ॒ण्वप॑ द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥ २ ॥

१—(भगेन) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । भज सेवायाम्—घ । चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । ऐश्वर्येण । धनेन—निघ० २ । १० । (मा मा) मां माम् । आत्मानमेव (शांशपेन) शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः—निरु० ३ । २१ । शम्+शप स्पर्शे—अच् । ततोऽण् । शान्तेः स्पर्शयुक्तेन (साकम्) सह वर्तमानेन (इन्द्रेण) परमेश्वरेण (मेदिना) परमस्नेहिना (कृणोमि) करोमि (भगिनम्) ऐश्वर्यवन्तम् (अप द्रान्तु) द्रा कुत्सायां गतौ । दूरे पलायन्ताम् (अरातयः) अदानशीला अस्माकं स्वभावाः ॥

येन॑ । वृ॒क्षान् । अ॒भि-अभ॑वः । भगे॑न । वर्च॑सा । स॒ह । तेन॑ ।
मा॒ । भ॒गिन॑म् । कृ॒णु॒ । अप॑ । द्रा॒न्तु॒ । अरा॑तयः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर] (वर्चसा सह) तेजके साथ वर्तमान (येन भगेन) जैसे ऐश्वर्य से तू (वृक्षान्) सब स्वीकार योग्य पदार्थों से (अभ्यभवः) बढ़ गया है। (तेन) वैसे ऐश्वर्य से (मा) मुझको (भगिनम्) बड़े ऐश्वर्य वाला (कृणु) कर, (अरातयः) हमारे सब कंजूस स्वभाव (अप द्रान्तु) दूर भाग जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर को सर्व श्रेष्ठ जान कर संसार में तेजस्वी और धनवान् होवें ॥ २ ॥

यो अ॒न्धो यः पु॑नः॒स॒रो भगो॑ वृ॒क्षेष्वा॑हि॒तः ।
तेन॑ मा भ॒गिनं॑ कृ॒ण्वप॑ द्रा॒न्त्वरा॑तयः ॥ ३ ॥

यः । अ॒न्धः । यः । पु॒नः॒-स॒रः । भगः॑ । वृ॒क्षेषु॑ । आ-हि॑तः । तेन॑ ।
मा॒ । भ॒गिन॑म् । कृ॒णु॒ । अप॑ । द्रा॒न्तु॒ । अरा॑तयः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन्!] (यः) जो (अन्धः) जीवन का आधार और (यः) जो (पुनःसरः) बारंबार आगे बढ़ने वाला (भगः) ऐश्वर्य (वृक्षेषु) सब स्वीकारयोग्य पदार्थों में (आहितः) अच्छे प्रकार धारण किया गया है। (तेन) उस ऐश्वर्य से (मा) मुझको (भगिनम्) ऐश्वर्य वाला (कृणु) कर, (अरातयः) हमारे सब कंजूस स्वभाव (अप द्रान्तु) दूर भाग जावें ॥ ३ ॥

२—(येन) यादृशेन (वृक्षान्) अ० ३ । ६ । ८ । सर्वान् स्वीकरणीयान् पदार्थान् (अभ्यभवः) पराजितवानसि (भगेन) ऐश्वर्येण (वर्चसा सह) तेजसा सहितेन (तेन) तादृशेन (मा) माम् (भगिनम्) ऐश्वर्यवन्तम् (कृणु) कुरु । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

३—(यः) भगः (अन्धः) अन्धः इत्यन्ननामाध्यानीयं भवति-निरु० ५ । १ । अन जीवने—पचाद्यच्, धुगागमः । जीवनाधारः (पुनः सरः) अ० ४ । १७ । २ । वारंवारं सरति प्रवर्तते यः सः (भगः) ऐश्वर्यम् (वृक्षेषु) म० २ । वरणीयेषु श्रेष्ठेषु पदार्थेषु (आहितः) समन्तात् स्थापितः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के गुणों को ध्यान करके चिरस्थायी ऐश्वर्य और सुख बढ़ावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् १३० ॥

१-४ ॥ स्मरो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

स्मरणसामर्थ्यवर्धनोपदेशः—स्मरण सामर्थ्य बढ़ाने का उपदेश ॥

र॒थ॒जितां॑ राथजिते॒यीना॑मप्स॒रसा॑म॒यं स्म॒रः ।
दे॒वाः प्र हि॑णुत स्म॒रम॒सौ माम॒नु॑ शोचतु ॥ १ ॥

र॒थ॒-जिता॑म् । रा॒थ॒-जि॒ते॒यीना॑म् । अ॒प्स॒रसा॑म् । अ॒यम् । स्म॒रः ।
दे॒वाः । प्र । हि॒णु॒त । स्म॒रम् । अ॒सौ । माम् । अनु॑ । शो॒च॒तु ॥१॥

भाषार्थ—(रथजिताम्) रमणीय पदार्थों की जिताने वाली, और (राथजितेयीनाम्) और रमणीय पदार्थों के विजयी पुरुषों के समीप रहने वाली (अप्सरसाम्) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियों का (अयम्) यह जो (स्मरः) स्मरण सामर्थ्य है। (देवाः) हे विद्वानो! (स्मरम्) उस स्मरण सामर्थ्य को (प्र) अच्छे प्रकार (हिणुत) बढ़ाओ, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम् अनु) मुझ में व्यापकर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से विज्ञान पूर्वक संसार की उपकारी विद्याओं को स्मरण रखकर उपयोगी बनावें ॥ १ ॥

१—(रथजिताम्) जि-क्विप्, अन्तर्गतणिच्। रमणीयानां पदार्थानां जापयित्रीणाम् (राथजितेयीनाम्) शुभ्रादिभ्यश्च। पा० ४।१।१२३। रथजित्—ढक्। अदूरभवश्च। पा०४।२।७०। इत्यर्थे। रथजितां रमणीयपदार्थजेतॄणां समीपभवानाम् (अप्सरसाम्) अप्सु आकाशे, जले, प्राणेषु प्रजासु च सरणशीलानां शक्तीनाम् (अयम्) (स्मरः) स्मृ आध्याने चिन्तायां च—अप्। ध्यानसामार्थ्यम् (देवाः) हे विद्वांसः (प्र) प्रकर्षेण (हिणुत) हि गतौ वृद्धौ च। वर्धयत (स्मरम्) चिन्तनम् (असौ) स्मरः (माम्) ब्रह्मचारिणम् (अनु) व्याप्य (शोचतु) ईशुचिर् शौचे, छान्दसः शप्। शुच्यतु शुध्यतु ॥

असौ मे॑ स्मरतादिति प्रियो मे॑ स्मरतादिति ।
दे॒वाः प्र हिणुत स्म॒रम॒सौ मामनु॑ शोचतु ॥ २ ॥

असौ । मे॒ । स्म॒र॒तात् । इति । प्रियः । मे॒ । स्म॒र॒तात् । इति ।
देवाः । प्र । हि॒णु॒त । स्म॒रम् । असौ । माम् । अनु॑ । शोचतु ॥२॥

भाषार्थ—(असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (मे) मेरा (स्मरतात्) स्मरण रक्खे, (इति) बस यही, (प्रियः) वह प्यारा [सामर्थ्य] (मे) मेरा (स्मरतात्) चिन्तन करे, (इति) बस यही । (देवाः) हे विद्वानो ! (स्मरम्) उस स्मरण सामर्थ्य को......म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्याओं को स्मरण रख कर उपयोग करते हैं वे ही संसार में प्रिय होते हैं ॥

यथा॒ मम॒ स्मरा॑द॒सौ नामु॒ष्याहं कदा च॒न ।
दे॒वाः प्र हिणुत स्म॒रम॒सौ मामनु॑ शोचतु ॥ ३ ॥

यथा॑ । मम॑ । स्मरा॑त् । असौ । न । अ॒मु॒ष्य॑ । अ॒हम् । क॒दा । च॒न ।
देवाः । प्र । हि॒णु॒त । स्म॒रम् । असौ । माम् । अनु॑ । शोचतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिससे (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (मे) मेरा (स्मरात्) स्मरण रक्खे, और (अहम्) मैं (कदा चन) कभी भी (अमुष्य) उसकी (न) न [भूल करूं] । (देवाः) हे विद्वानो ! (स्मरम्) उस स्मरण सामर्थ्य को (प्र) अच्छे प्रकार (हिणुत) बढ़ाओ, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम् अनु) मुझ में व्याप कर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥ ३ ॥

२—(असौ) स्मरः (मे) अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति षष्ठी । मम (स्मरतात्) स्मृ लोटि तातङ् । स्मरतु (इति) वाक्यसमाप्तौ (प्रियः) हितकरः अन्यद् गतम् ॥

३—(यथा) येन प्रकारेण (मम) (स्मरात्) स्मरेत् (असौ) स्मरः (न) निषेधे (अमुष्य) स्मरस्य (अहम्) (कदा चन) कदापि [स्मरामि=स्मृणोमि] इत्याध्याहारः । स्मृ प्रीतिचलनयोः, स्वादिः । चलनं करोमि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक समस्त विद्यायों को स्मरण रख कर उपयोगी बनावें ॥ ३ ॥

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।

अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥ ४ ॥

उत् । मादयत । मरुतः । उत् । अन्तरिक्ष । मादय । अग्ने ।

उत् । मादय । त्वम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे वायुगणो ! (उत्) उत्तम प्रकार से (मादयत) प्रसन्न करो, (अन्तरिक्ष) हे मध्यलोक ! (उत्) अच्छे प्रकार (मादय) हर्षित कर । (अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उत्) उत्तम रीति से (मादय) आनन्दित कर, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम्) मुझको (अनु) व्यापकर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक प्राण अपान गति, जाठर अग्नि और बाहिर भीतर स्थान को ठीक ठीक रख कर स्वस्थ रहकर अपनी स्मृति बढ़ाते रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १३१ ॥

१-३ ॥ विद्वान् देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परपालनोपदेशः—परस्पर पालन का उपदेश ॥

नि शीर्षतो नि पत्तत आध्यो३ नि तिरामि ते ।

देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

नि । शीर्षतः । नि । पत्ततः । आ-ध्यः । नि । तिरामि । ते ।

देवाः । प्र । हिणुत । स्मरम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु ॥१॥

४—(उत्) उत्तमतया (मादयत) हर्षयत (मरुतः) हे मरुद्गणाः । प्राणापानाः (उत्) (अन्तरिक्ष) मध्यलोक (मादय) आनन्दय (अग्ने) जाठराग्ने । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (शीर्षतः) अपने मस्तक [सामर्थ्य] से (नि) निश्चय करके, (पत्ततः) अपने पद [के सामर्थ्य] से (नि) नियम करके (आध्यः) यथावत् ध्यान धर्मों को (नि) लगातार (तिरामि) मैं पार करूं । (देवाः) हे विद्वानो ! (स्मरम्) स्मरण सामर्थ्य को (प्र) अच्छे प्रकार (हिणुत) बढ़ाओ, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम् अनु) मुझ में व्यापकर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग द्वारा पूर्ण पुरुषार्थ से स्मरण शक्ति बढ़ाकर सुखी होवें ॥ १ ॥

अनु॑मतेऽन्वि॒दं म॑न्यस्वाकू॑ते॒ समि॒दं नमः॑ ।
देवाः॒ प्र हि॑णुत स्म॒रम॒सौ मामनु॑ शोचतु ॥ २ ॥

अनु॑-मते । अनु॑ । इ॒दम् । मन्य॒स्व । आ-कू॑ते । सम् । इ॒दम् । नमः॑ । देवाः॑ । प्र । हि॒णुत । स्म॒रम् । अ॒सौ । माम् । अनु॑ । शो॒च॒तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अनुमते) हे अनुकूल बुद्धि ! तू (इदम्) इसको (अनु मन्यस्व) प्रसन्नता से स्वीकार कर, (आकूते) हे उत्साह शक्ति ! (इदम्) यह (नमः) अन्न (सम्) ठीक रीति से [हमारे लिये हो] । (देवाः) हे विद्वानो ! (स्मरम्) स्मरण सामर्थ्य को (प्र) अच्छे प्रकार (हिणुत) बढ़ाओ, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम् अनु) मुझमें व्याप कर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥२॥

१—(नि) निश्चयेन (शीर्षतः) शिरःसामर्थ्यात् (नि) नियमेन (पत्ततः) एकस्तकारश्छान्दसः । पत्तः । पादसामर्थ्यात् (आध्यः) आध्यायते आधीः । ध्यायतेः क्विप् सम्प्रसारणं च । वा० पा० ३ । २ । १७८ । आङ्+ध्यै चिन्तायाम्—क्विप्, शसि रूपम् । सम्यग्ध्यानधर्मान् (नि) निरन्तरम् (तिरामि) तुदादित्वादिकारः । पारं गमयामि । समापयामि । अन्यद् पूर्ववत्-सू०१३० म०१॥

२—(अनुमते) अ० १ । १८ । २ । हे सहायिके बुद्धे (इदम्) क्रियमाणं कर्म (अनु मन्यस्व) स्वीकुरु (आकूते) हे उत्साहशक्ते—यथा दयानन्दभाष्ये, यजु० ४ । ७ । (सम्) सम्यक् (इदम्) (नमः) अन्नम्—निघ० २ । ७ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मनुष्य बुद्धि और उत्साह के साथ अपने सब काम ठीक ठीक सिद्ध करें ॥ २ ॥

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम् ।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥ ३ ॥

यत् । धावसि । त्रि-योजनम् । पञ्च-योजनम् । आश्विनम् ।
ततः । त्वम् । पुनः । आ-अयसि । पुत्राणाम् । नः । असः । पिता ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (यत्) जो तू (त्रियोजनम्) तीन योजन, (पञ्चयोजनम्) पांच योजन, अथवा (आश्विनम्) अश्वचार से चलने योग्य देश को (धावसि) दौड़ कर जाता है । (ततः) उससे (त्वम्) तू (पुनः) फिर (आयसि) आ । और (नः) हमारे (पुत्राणाम्) पुत्र आदिकों का (पिता) पिता [पालने वाला] (असः) हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य दूर देशों से विद्या और धन प्राप्त करके कुटुम्ब आदि का पालन करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १३२ ॥

१-५ ॥ स्मरो देवता ॥ त्रिपादनुष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य प्राप्ति का उपदेश ॥

यं देवाःस्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या ।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ १ ॥

यम् । देवाः । स्मरम् । असिञ्चन् । अप्-सु । अन्तः । शोशु-चानम् । सह । आध्या । तम् । ते । तपामि । वरुणस्य । धर्मणा ॥ १ ॥

३—(यत्) यदि (धावसि) शीघ्रं गच्छसि (त्रियोजनम्) योजन-त्रयपरिमितं देशम् (पञ्चयोजनम्) पञ्चयोजनपरिमितं देशम् (आश्विनम्) अश्विन्-अण् । अश्विना अश्ववारेण गन्तव्यं देशम् (ततः) तस्माद्देशात् (पुनः) निवृत्य (आयसि) आगच्छ (पुत्राणाम्) पुत्रादीनाम् (नः) अस्माकम् (असः) भवेः (पिता) पालकः ॥

भाषार्थ—(देवाः) विजयी लोगों ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच (आध्या सह) ध्यान शक्ति के साथ (शोशुचानम्) अत्यन्त प्रकाशमान (यम्) जिस (स्मरम्) स्मरण सामर्थ्य को (असिञ्चन्) सींचा है। (तम्) उस [स्मरण सामर्थ्य] को (ते) तेरे लिये (वरुणस्य) सर्व श्रेष्ठ परमेश्वर के (धर्मणा) धर्म अर्थात् धारण सामर्थ्य से (तपामि) ऐश्वर्य युक्त करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विजयी शूरों का अनुकरण करके ध्यान पूर्वक स्मरण शक्ति बढ़ाकर ईश्वर नियम से ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥ १ ॥

यं विश्वे॑ दे॒वाः स्म॒रमसि॑ञ्चन्न॒प्स्व१॒न्तः शोशु॑चानं स॒हाध्या। तं ते॑ तपामि॒ वरु॑णस्य॒ धर्म॑णा ॥ २ ॥

यम्। विश्वे॑। दे॒वाः। स्म॒रम्। असि॑ञ्चन्। अ॒प्-सु। अ॒न्तः। शोशु॑चानम्। स॒ह। आ॒ध्या। तम्। ते॒। त॒पा॒मि॒। वरु॑णस्य। धर्म॑णा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुणों ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच......म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

यमि॑न्द्रा॒णी स्म॒रमसि॑ञ्चद॒प्स्व१॒न्तः शोशु॑चानं स॒हाध्या। तं ते॑ तपामि॒ वरु॑णस्य॒ धर्म॑णा ॥ ३ ॥

१—(यम्) (देवाः) विजिगीषवः (स्मरम्) अ० ६। १३०। १। स्मरणसामर्थ्यम् (असिञ्चन्) षिच सेके। अवर्धयन् (अप्सु) प्रजासु—दयानन्दभाष्ये य० ६। २७। (अन्तः) मध्ये (शोशुचानम्) अ० ४। ११। ३। देदीप्यमानम् (सह) (आध्या) सू० १३१ म० १। ध्यानशक्त्या (तत्) स्मरम् (ते) तुभ्यम् (तपामि) ऐश्वर्यवन्तं करोमि (वरुणस्य) वरणीयस्य श्रेष्ठस्य परमेश्वरस्य (धर्मणा) धारणशक्त्या। नियमेन ॥

२—(विश्वे) सर्वे (देवाः) उत्तमगुणाः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

यम्। इन्द्राणी। स्मरम्। असिञ्चत्। अप्-सु। अन्तः। शोशुचा-नम्। सह। आध्या। तम्। ते। तपामि। वरुणस्य। धर्मणा ॥३॥

भाषार्थ—(इन्द्राणी) परम ऐश्वर्य करने वाली नीति ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच (आध्या सह) ध्यान शक्ति के साथ (शोशुचानम्) अत्यन्त प्रकाशमान (यम्) जिस (स्मरम्) स्मरण सामर्थ्य को (असिञ्चत्) सींचा है। (तम्) उस [स्मरण सामर्थ्य] को......म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य यथार्थ नीति, स्मृति और ध्यान पूर्वक ईश्वर नियम से ऐश्वर्यवान् हो ॥ ३ ॥

यमिन्द्राग्नी स्मरमसिञ्चताम्प्स्वं १ न्तः शोशुचानं सहाध्या। तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ४ ॥

यम्। इन्द्राग्नी इति। स्मरम्। असिञ्चताम्। अप्-सु। अन्तः। शोशुचानम्। सह। आध्या। तम्। ते। तपामि। वरुणस्य। धर्मणा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्राग्नी) बिजुली और भौतिक अग्नि ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच (आध्या सह) ध्यान शक्ति के साथ (शोशुचानम्) अत्यन्त प्रकाशमान (यम् स्मरम्) जिस स्मरण सामर्थ्य को (असिञ्चताम्) सींचा है (तम्) उस [स्मरण सामर्थ्य] को......म० १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे बिजुली और अग्नि के नित्य सम्बन्ध से वृष्टि, प्रकाशादि द्वारा, संसार में होती है वैसे ही मनुष्य विद्या द्वारा परस्पर उपकार करें ॥ ४ ॥

यं मित्रावरुणौस्मरमसिञ्चताम्प्स्वं १ न्तः शोशुचानं सहाध्या। तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ५ ॥

३—(इन्द्राणी) अ० १। २७। ४। परमैश्वर्यकारिणी राजनीतिः—दयानन्द भाष्ये यजु० ३८। ३ (असिञ्चत्) क्रमेणावर्धयत्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(इन्द्राग्नी) विद्युत्पावकौ (असिञ्चताम्) अवर्धयताम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

यम् । मित्रावरुणौ । स्मरम् । असिञ्चताम् । अप्-सु । अन्तः । शोशुचानम् । सह । आध्या । तम् । ते । तपामि । वरुणस्य । धर्मणा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(मित्रावरुणौ) प्राण और अपान वायु ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच (आध्या सह) ध्यान शक्ति के साथ (शोशुचानम्) अत्यन्त प्रकाशमान (यम् स्मरम्) जिस स्मरण सामर्थ्य को (असिञ्चताम्) सींचा है (तम्) उस [स्मरण सामर्थ्य] को (ते) तेरे लिये (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर के (धर्मणा) धर्म अर्थात् धारण सामर्थ्य से (तपामि) ऐश्वर्ययुक्त करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्राण और अपान के समान संसार में परस्पर उपकारी होकर ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ५ ॥

सूक्तम् १३३ ॥

१-५ ॥ मेखला देवता ॥ १, ३ त्रिष्टुप्; २,५ अनुष्टुप्; ४ जगती ॥

मेखलाबन्धनोपदेशः—मेखला बांधने का उपदेश ॥

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज । यस्य देवस्य प्रशिषा चराम: स पारमिच्छात् स उ नो वि मुञ्चात् ॥ १ ॥

यः । इमाम् । देवः । मेखलाम् । आ-बबन्ध । यः । सम्-ननाह । यः । ऊं इति । नः । युयोज । यस्य । देवस्य । प्र-शिषा । चराम: । सः । पारम् । इच्छात् । सः । ऊं इति । नः । वि । मुञ्चात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः देवः) जिस विद्वान् [आचार्य] ने (नः) हमारे (इमाम्)

५—(मित्रावरुणौ) अ० १ । २० । २ । प्राणापानौ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(यः) (इमाम्) (देवः) विद्वान्, आचार्यः (मेखलाम्) मीयते

यह (मेखलाम्) मेखला [तागड़ी, पेटी, कटिबन्धन] (आबबन्ध) अच्छे प्रकार बांधी है, (यः) जिसने (संननाह) सजाई है। (उ) और (यः) जिसने (युयोज) संयुक्त की है। (यस्य देवस्य) जिस विद्वान् के (प्रशिषा) उत्तम शासन से (चरामः) हम विचरते हैं (सः) वह (नः) हमें (पारम्) पार (इच्छात्) लगावे, (सः उ) वही [कष्टसे] (विमुञ्चात्) मुक्त करे ॥१॥

भावार्थ—वेदारम्भ संस्कार के अन्तर्गत मेखला बन्धन एक संस्कार है। आचार्य ब्रह्मचारी के मेखला इस लिये बांधे कि वह कटि को कस कर फुर्ती से वेदों को पढ़ कर संसार में उपकारी होवे ॥ १ ॥

आहु॑तास्य॒भिहु॑त॒ ऋषी॑णाम॒स्यायु॑धम् ।

पूर्वा॑ व्र॒तस्य॑ प्राश्न॒ती वी॑र॒घ्नी भ॑व मेखले ॥ २ ॥

आ-हु॑ता । अ॒सि॒ । अ॒भि-हु॑ता । ऋषी॑णाम् । अ॒सि॒ । आयु॑-धम् । पूर्वा॑ । व्र॒तस्य॑ । प्र॒-अ॒श्न॒ती । वी॒र॒-घ्नी । भ॒व॒ । मे॒ख॒ले॒ ॥२॥

भाषार्थ—(मेखले) हे मेखला ! तू (आहुता) यथा विधि दान की गई (असि) है, (ऋषीणाम्) धर्म मार्ग बताने वाले ऋषियों का (आयुधम्) शस्त्ररूप (असि) है। (व्रतस्य) उत्तम व्रत वा नियम के (पूर्वा) पहिले (प्राश्नती) व्याप्त होने वाली और (वीरघ्नी) वीरों को प्राप्त होने वाली तू (भव) हो ॥ २ ॥

प्रक्षिप्यते कायमध्यभागे । डुमिञ् क्षेपे—खलच् । कटिबन्धनम् । कट्याम् (आबबन्ध) आबद्धवान् (यः) (संननाह) णह बन्धने लिट् । सज्जितवान् (यः उ) (नः) अस्मभ्यम् (युयोज) संयोजितवान् (यस्य) (देवस्य) विदुषः (प्रशिषा) उत्तमशासनेन (चरामः) वर्त्तामहे (सः) (पारम्) कर्मणः समाप्तिम् (इच्छात्) इच्छेत् (सः) (उ) (नः) अस्मान् (विमुञ्चात्) कष्टाद् विमोचयेत् ॥

२—(आहुता) यथाविधि दत्ता (अभिहुता) सर्वतः स्वीकृता (ऋषीणाम्) अ० २ । ६ । १ । सन्मार्गदर्शकानाम् (असि) (आयुधम्) शस्त्ररूपा (पूर्वा) आद्या (व्रतस्य) अ० २ । ३० । २ । श्रेष्ठकर्मणः (प्राश्नती) व्याप्नुवती (वीरघ्नी) हन गतौ—क्विप् । वीराणां हन्त्री गन्त्री (भव) (मेखले)—म० १ । हे कटिबन्धन ॥

भावार्थ—जो मनुष्य नियम पूर्वक मेखला से कटि कस कर कर्म करते हैं वे ही वीर होते हैं ॥ २ ॥

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय। तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ ३ ॥

मृत्योः। अहम्। ब्रह्म-चारी। यत्। अस्मि। निः-याचन्। भूतात्। पुरुषम्। यमाय। तम्। अहम्। ब्रह्मणा। तपसा। श्रमेण। अनया। एनम्। मेखलया। सिनामि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(भूतात्) प्राप्त (मृत्योः) मृत्यु से (पुरुषम्) इस पुरुष, आत्मा को (निर्याचन्) बाहिर निकालता हुआ (अहम्) मैं (यमाय) नियम पालन के लिये (यत्) जो (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी, वेदपाठी और वीर्य निग्राहक पुरुष (अस्मि) हूं। (तम्) वैसे (एनम्) इस आत्मा को (ब्रह्मणा) वेदज्ञान, (तपसा) तप [योगाभ्यास] और (श्रमेण) परिश्रम के साथ (अनया मेखलया) इस मेखला से (अहम्) मैं (सिनामि) बांधता हूं ॥३ ॥

भावार्थ—जो ब्रह्मचारी मेखला के समान शरीर को कसकर शीत उष्ण आदि द्वन्द्व का सहन करके आलस्य आदि मृत्यु को हटाते हैं वे ही ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसऋषीणां भूतकृतां बभूव। सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥ ४ ॥

३—(मृत्योः) आलस्यरूपमरणात् (अहम्) (ब्रह्मचारी) अ० ६। १०८। २। वेदपाठी वीर्यनिग्रहीता (यत्) (अस्मि) (निर्याचन्) निर्गमयन् (भूतात्) प्राप्तात् (पुरुषम्) अ० १। १६। ४। अग्रगामिनमात्मानम् (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (तपसा) योगाभ्यासेन (श्रमेण) शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनेन (अनया) उपस्थितया (एनम्) पुरुषम् (मेखलया) (सिनामि) बध्नामि ॥

श्र॒द्धायाः । दु॒हि॒ता । तप॑सः । अधि । जा॒ता । स्वसा॑ । ऋषी॑णाम् । भू॒त॒-कृता॑म् । ब॒भूव॑ । सा । नः॒ । मे॒ख॒ले॒ । म॒तिम् । आ । धे॒हि॒ । मे॒धाम् । अथो॒ इति॑ । नः॒ । धे॒हि॒ । तप॑ः । इ॒न्द्रि॒यम् । च॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[वह मेखला] (श्रद्धायाः) श्रद्धा [आस्तिक बुद्धि, विश्वास] की (दुहिता) पूरण करने हारी [यद्वा पुत्री समान प्रिय], (तपसः) तप [योगाभ्यास] से (अधि) अच्छे प्रकार (जाता) उत्पन्न हुई, (भूतकृताम्) सत्यकर्मी (ऋषीणाम्) ऋषियों [सन्मार्गदर्शकों] की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने हारी [अथवा बहिन के समान हितकारिणी] (बभूव) हुई है । (सा) सो तू (मेखले) हे मेखला ! (नः) हमें (मतिम्) मननशक्ति और (मेधाम्) निश्चय बुद्धि (आ) सब ओर से (धेहि) दान कर, (अथो) और भी (नः) हमें (तपः) योगाभ्यास (च) और (इन्द्रियम्) इन्द्र का चिन्ह [पराक्रम वा परम ऐश्वर्य] (धेहि) दान कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो श्रद्धालु, तपस्वी ऋषियों के समान शुभकर्म के लिये कटिबद्ध रहते हैं, वे ही मननशक्ति और निश्चल बुद्धि पाकर ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥४॥

यां त्वा पूर्वे॑ भूत॒कृत॒ ऋष॑यः परिबेधि॒रे ।
सा त्वं परि॑ ष्वजस्व॒ मां दीर्घायु॒त्वाय॑ मेखले ॥ ५ ॥

याम् । त्वा॒ । पूर्वे॑ । भू॒त॒-कृतः॑ । ऋष॑यः । परि॒-बे॒धि॒रे । सा ।

४—(श्रद्धायाः) श्रत् सत्यम्- निघ० ३ । १० । श्रद्धा श्रद्धानात्- निरु० ६ । ३० । सत्यं धीयतेऽत्र । षिद्भिदादिभ्योऽङ् पा० ३ । ३ । १०४ । श्रत्+धा—अङ्, टाप् । आस्तिक्यबुद्धेः । विश्वासस्य (दुहिता) अ० ३ । १० । १३ । प्रपूरयित्री । पुत्रीसदृशहितकारिका वा (तपसः) योगाभ्यासात् । (अधि) अधिकम् (जाता) उत्पन्ना (स्वसा) अ०६। १०० । ३ । सुदीपयित्री । भगिनीतुल्यहिता (ऋषीणाम्)—म० २ । सन्मार्गदर्शकानाम् (भूतकृताम्) अ० ६ । १०८ । ४ । सत्यकर्मणाम (बभूव) (सा) त्वम् (नः) अस्मभ्यम् (मेखले) (मतिम्) मननशक्तिम् (आ) समन्तात् (धेहि) देहि (मेधाम्) अ० ६ । १०८ । २ । निश्चलां बुद्धिम् (अथो) अपि च (तपः) (इन्द्रियम्) अ० १ । ३५ । ३ । इन्द्रलिङ्गं वीर्यमैश्वर्यं वा (च) ॥

त्वम् । परि । स्वजस्व । माम् । दीर्घायु-त्वाय । मेखले ॥५॥

भावार्थ—(याम् त्वा) जिस तुझको (पूर्वे) पहिले (भूतकृतः) सत्यकर्मी (ऋषयः) ऋषियों ने (परिबेधिरे) चारों ओर बांधा था। (सा त्वम्) सो तू, (मेखले) हे मेखला ! (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिये (माम्) मुझ में (परि) सब ओर से (स्वजस्व) चिपट जा ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ऋषियों के समान कटिबद्ध होकर शुभकार्य करते हैं, वे ही कीर्तिमान् होते हैं ॥ ५ ॥

सूक्तम् १३४ ॥

१-३ ॥ वज्रो देवता ॥ १ प्रस्तारपङ्क्तिः; २ गायत्री ३ अनुष्टुप् ॥

शत्रुशासनोपदेशः—शत्रुओं के शासन का उपदेश ॥

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम्।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः ॥१

अयम् । वज्रः । तर्पयताम् । ऋतस्य । अव । अस्य । राष्ट्रम् । अप । हन्तु । जीवितम् । शृणातु । ग्रीवाः । प्र । शृणातु । उष्णिहा । वृत्रस्य-इव । शची-पतिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (वज्रः) वज्र [दण्ड] (ऋतस्य) सत्य धर्म की (तर्पयताम्) तृप्ति करे, (अस्य) इस [शत्रु] के (राष्ट्रम्) राज्य को (अव=अवहत्य) नाश करके [उसके] (जीवितम्) जीवन को (अप हन्तु)

५—(याम्) मेखलाम् (त्वा) (पूर्वे) पूर्वजाः (भूतकृतः) सत्यकर्माणः (ऋषयः) साक्षात्कृतधर्माणः (परिबेधिरे) बध बन्धने—लिट्, आत्मनेपदत्वं छान्दसम् । परिबद्धवन्तः (सा) (त्वम्) (परि) सर्वतः (स्वजस्व) ष्वञ्ज परिष्वङ्गे । आलिङ्ग (दीर्घायुत्वाय) चिरकालजीवनाय (मेखले) ॥

१—(अयम्) (वज्रः) दंडः । शासनम् (तर्पयताम्) तृप्तिं कुर्यात् (ऋतस्य) सत्यस्य धर्मस्य (अव) अवहत्य (अस्य) शत्रोः (राष्ट्रम्) राज्यम् (अपहन्तु) विनाशयतु (जीवितम्) जीवनम् (शृणातु) हिनस्तु (ग्रीवाः)

नाश कर देवे, (ग्रीवाः) गले की नाड़ियों को (शृणातु) काटे और (उष्णिहा) गुद्दी की नाड़ियों को (प्रशृणातु) तोड़ डाले, (इव) जैसे (शचीपतिः) कर्मों वा बुद्धियों का पति [मनुष्य] (वृत्रस्य) अपने शत्रु के [ग्रीवा आदि को ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा यथावत् शासन से शत्रुओं को नाश करके प्रजापालन करे ॥ १ ॥

अध॑रोऽधर॒ उत्त॑रेभ्यो गू॒ढः पृ॑थि॒व्या मोत्सृ॑पत् ।
वज्रे॒णाव॑हतः शयाम् ॥ २ ॥

अध॑रः-अधरः । उत्त॑रेभ्यः । गू॒ढः । पृ॒थि॒व्याः । मा । उत् । सृ॒पत् । वज्रे॑ण । अव॑-हतः । श॒या॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[वह शत्रु] (उत्तरेभ्यः) ऊंचे लोगों से (अधरोऽधरः) नीचे नीचे और (गूढ़ः) गुप्त होकर (पृथिव्याः) पृथिवी से (मा उत् सृपत्) कभी न उठे, और (वज्रेण) वज्र से (अवहतः) मार डाला गया (शयाम्) पड़ा रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—अधर्मी लोगों को श्रेष्ठों के बीच उच्च आसन कभी न मिले ॥२॥

यो जि॒नाति॒ तमन्वि॑च्छ॒ यो जि॒नाति॒ तमिज्ज॑हि ।
जि॒न॒तो व॑ज्र॒ त्वं सी॒मन्त॑म॒न्वञ्च॒मनु॑ पातय ॥ ३ ॥

यः । जि॒नाति॑ । तम् । अनु॑ । इ॒च्छ॒ । यः । जि॒नाति॑ । तम् । इत् । ज॒हि॒ । जि॒न॒तः । व॒ज्र॒ । त्वम् । सी॒मन्त॑म् । अ॒न्व॒ञ्च॑म् । अनु॑ । पा॒त॒य॒ ॥३॥

अ० २ । ३३ । २ । कन्धरावयवान् (प्रशृणातु) प्रच्छिनत्तु (उष्णिहा) अ० २ । ३३ । २ । बहुवचनस्यैकवचनम् । उत्स्नाता धमनीः (वृत्रस्य) शत्रोः (इव) यथा (शचीपतिः) अ० ३ । १० । १२ । कर्मणां प्रज्ञानां वा पालकः पुरुषः ॥

२—(अधरोऽधरः) अतिशयेनाधरः । निकृष्टतरः (उत्तरेभ्यः) उत्कृष्टतरेभ्यः (गूढ़ः) संवृतः (पृथिव्याः) भूमेः सकाशात् (मा) निषेधे (उत्सृपत्) उत्सर्पतु । उत्तिष्ठतु (वज्रेण) (अवहतः) चूर्णीकृतः (शयाम्) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । तलोपः । शेताम् । म्रियतामित्यर्थः ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (जिनाति) अत्याचार करे, (तम्) उसको (अनु इच्छ) ढूंढ ले, (यः) जो (जिनाति) उपद्रव करे (तम् इत्) उसी को (जहि) मार डाल, (वज्र) हे वज्रधारी (त्वम्) तू (जिनतः) अत्याचारी के (सीमन्तम्) मस्तक को (अन्वञ्चम्) लगातार (अनुपातय) गिराये जा ॥ ३॥

भावार्थ—राजा नीति पूर्वक दुराचारियों को सदा दण्ड देवे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १३५ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

खादनपानोपदेशः—खान पान का उपदेश ॥

यद॒श्नामि॒ बलं॑ कुर्व इ॒त्थं वज्र॒मा द॑दे ।

स्क॒न्धान॒मुष्य॑ शा॒तय॑न् वृ॒त्रस्ये॑व॒ शची॒पतिः॑ ॥ १ ॥

यत् । अ॒श्नामि॑ । बल॑म् । कु॒र्वे॒ । इ॒त्थम् । वज्र॑म् । आ । द॒दे॒ ।

स्क॒न्धान् । अ॒मुष्य॑ । शा॒तय॑न् । वृ॒त्रस्य॑-इ॒व । शची॒-प॑तिः ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (अश्नामि) मैं खाता हूं [उसे] (बलम्) बल (कुर्वे) बना देता हूं, (इत्थम्) तब मैं (वज्रम्) वज्र को (आ ददे) ग्रहण करता हूं। (अमुष्य) उस [शत्रु] के (स्कन्धान्) कन्धों को (शातयन्) तोड़ता हुआ, (इव) जैसे (शचीपतिः) कर्म वा बुद्धि का स्वामी [शूर] (वृत्रस्य) शत्रु वा अन्धकार के ॥ १ ॥

३—(यः) दुराचारी (जिनाति) ज्या वयोहानौ । ग्रहिज्या० । पा० ६ । १ १६ । इति संप्रसारणम् । हानिं करोति (तम्) (अन्विच्छ) अन्वेषणेन प्राप्नुहि (इत्) एव (जहि) मारय (जिनतः) हानिं कुर्वतः पुरुषस्य (वज्र) अर्शआद्यच् । वज्रधारिन्, (सीमन्तः) शरीरस्य सीम्नोऽन्तः । शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । शिरः (अन्वञ्चम्) अनु+अञ्चु गतौ–क्विन् । अनु पश्चात् अनुक्रमेण प्राप्तम् (अनु) पश्चात् (पातय) अधो गमय ॥

१—(यत्) भोजनम् (अश्नामि) भुञ्जे (बलम्) (कुर्वे) करोमि (इत्थम्) एवम् (वज्रम्) वर्जकं शस्त्रम् (आ ददे) गृह्णामि (स्कधान्) स्कन्धादिशरीरावयवान् (अमुष्य) शत्रोः (शातयन्) शद्लृ शातने णिचि । शदेरगतौ तः । पा० ७ । ३ । ४२ । इति तकारादेशः, शतृ प्रत्ययः । छिन्दन् (इव) यथा (शचीपतिः) अ० ३ । १० । १२ । कर्मणां प्रज्ञानां वा पालकः ॥

भावार्थ—मनुष्य पाचन शक्ति से भोजन को भलीभांति पचावे, जिस से वह शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर उसे सुखदायक हो। इसी मन्त्र का विवरण मन्त्र २ तथा ३ में है ॥ १ ॥

यत् पिबा॑मि॒ सं पि॑बामि समु॒द्र इ॑व संपि॒बः ।
प्रा॒णान॒मुष्य॑ सं॒पाय॒ सं पि॑बामो अ॒मुं व॒यम् ॥ २ ॥

यत् । पिबा॑मि । सम् । पि॒बा॒मि॒ । स॒मु॒द्रः-इ॑व । स॒म्-पि॒बः । प्रा॒णा-न् । अ॒मुष्य॑ । स॒म्-पाय॑ । सम् । पि॒बा॒मः॒ । अ॒मुम् । व॒यम् ॥२॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ [जल दुग्ध आदि] (पिबामि) मैं पीता हूं, (सम्) यथाविधि (पिबामि) पीता हूं (इव) जैसे (संपिबः) यथाविधि पीने वाला (समुद्रः) समुद्र [खाकर पचा लेता है] । (अमुष्य) उस [पदार्थ] के (प्राणान्)जीवन बलों को (संपाय) चूस कर (अमुम्) उस [पदार्थ] को (सम्) यथाविधि (वयम्) हम (पिबामः) पीवें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य न्यूनाधिक मात्रा और देश काल का विचार करके जल दुग्ध आदि पीकर पुष्टि बढ़ाकर सुख प्राप्त करें ॥ २ ॥

यद् गिरा॑मि॒ सं गि॑रामि समु॒द्र इ॑व संगि॒रः ।
प्रा॒णान॒मुष्य॑ सं॒गीर्य॒ सं गि॑रामो अ॒मुं व॒यम् ॥ ३ ॥

यत् । गिरा॑मि । सम् । गि॒रा॒मि॒ । स॒मु॒द्रःइ॑व । स॒म्-गि॒रः । प्रा॒णा-न् । अ॒मुष्य॑ । स॒म्-गीर्य॑ । सम् । गि॒रा॒मः॒ । अ॒मुम् । व॒यम् ॥३॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ वस्तु (गिरामि) मैं खाता हूं, (सम्) यथाविधि (गिरामि) खाता हूं, (इव) जैसे (संगिरः) यथाविधि खाने वाला

२—(यत्) जलदुग्धादिपानम् (पिबामि) (सम) यथाविधि (संपिबः) पाघ्राध्माधेट्दृशः शः । पा० ३ । १ । १३७ । इति पा पाने-श प्रत्ययः । सम्यक् पाता (प्राणान्) जीवनबलानि (अमुष्य) तस्य पदार्थस्य (सम्पाय) सम्यक् पीत्वा (सम्) (पिबामः) (अमुम्) पदार्थम् (वयम्) पानकर्तारः ॥

३—(यत्) भोजनम् (गिरामि) गॄ निगरणे तुदादित्वात्-शः । ॠत इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० । इत्वम् । भक्षयामि (सम्) सम्यक् (संगिरः)

(समुद्रः) समुद्र [खाकर पचा लेता है] । (अमुष्य) उस [पदार्थ] के (प्राणान्) जीवन शक्तियों को (संगीर्य) चबाकर (अमुम्) उस [पदार्थ] को (सम्) यथाविधि (वयम्) हम (गिरामः) खावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो निरालसी मनुष्य विचार पूर्वक भोजन करके उसे पचाते हैं, वे बलवान् रहते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् १३६ ॥

१-३ ॥ नितत्नी देवता ॥ १, ३ अनुष्टुप्; २ बृहती ॥

केशवर्धनोपदेशः-केश के बढ़ाने का उपदेश ॥

दे॒वी दे॒व्यामधि॑ जा॒ता पृ॑थि॒व्याम॑स्योषधे ।
तां त्वा॑ नितत्नि॒ केशे॑भ्यो दृं॑हणाय खनामसि ॥ १ ॥

दे॒वी । दे॒व्याम् । अधि॑ । जा॒ता । पृ॒थि॒व्याम् । अ॒सि॒ । ओ॒ष॒धे॒ ।
ताम् । त्वा॒ । नि॒-त॒त्नि॒ । केशे॑भ्यः । दृंह॑णाय । ख॒ना॒म॒सि॒ ॥१

भाषार्थ—(ओषधे) हे ओषधि ! तू (देव्याम्) दिव्य [प्रकाशवाली, अच्छे गुणवाली] (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अधि) ठीक ठीक (जाता) उत्पन्न हुई (देवी) दिव्य गुणवाली (असि) है । (नितत्नि) हे नीचे को फैलने वाली, नितत्नी ! [ओषधी विशेष] (ताम् त्वा) उस तुझ को (केशेभ्यः) केशों के (दृंहणाय) दृढ़ करने और बढ़ाने के लिये (खनामसि) हम खोदते हैं ॥ १ ॥

इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति किरतेर्विधीयमानः कप्रत्ययो गिरतेरपि । सम्यङ् निगरिता (संगीर्य) ऋत इत्वे । हलि च । पा० ८ । २ । ७७ । इति दीर्घः । यथाविधि भक्षयित्वा । अन्यत्पूर्ववत् ॥

१—(देवी) दिव्यगुणा (देव्याम्) दिव्यगुणायाम् (अधि) अधिकम् (जाता) उत्पन्ना (पृथिव्याम्) (असि) (ओषधे) (ताम्) तादृशीम् (त्वा) (नितत्नि) आदृगमहन० । पा० ३ । २ । १७१ । इति तनोतेः- कि, लिड्वद्भावाद् द्विर्वचनम् । तनिपत्योश्छन्दसि । पा० ६ । ४ । ९९ । उपधालोपः। हे नितन्वाने न्यक्प्रसरणशीले (केशेभ्यः) केशानामर्थे (दृंहणाय) दृढीकरणाय । वर्धनाय (खनामसि) खनामः । खोदामः ॥

भावार्थ—मनुष्य नितत्नी नाम ओषधि को केश दृढ़ करने और बढ़ाने के लिये काम में लावें। काचमाची फल, जीवन्तीफल और भृङ्गराज वा भंगरा ओषधि के भी केश बढ़ाना आदि गुण हैं ॥ १ ॥

दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि ॥२॥

दृंह । प्रत्नान् । जनय । अजातान् । जातान् । ऊं इति । वर्षीयसः । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे नितत्नी !] (प्रत्नान्) पुराने [केशों] को (दृंह) दृढ़कर, (अजातान्) बिना उत्पन्न हुओं को (जनय) उत्पन्न कर, (उ) और (जातान्) उत्पन्न हुओं को (वर्षीयसः) बहुत लम्बा (कृधि) बना ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में नितत्नी ओषधि के गुणों का वर्णन है ॥ २ ॥

यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते ।
इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा ॥३ ॥

यः । ते । केशः । अव-पद्यते । स-मूलः । यः । च । वृश्चते । इदम् । तम् । विश्व-भेषज्या । अभि । सिञ्चामि । वीरुधा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] (यः) जो (ते) तेरा (केशः) केश (अव पद्यते) गिर जावे (च) और (यः) जो (समूलः) समूल (वृश्चते) टूट जावे। (इदम्) अब (तम्) उस को (विश्वभेषज्या) सब [केश रोगों] की ओषधि (वीरुधा) उस जड़ीबूटी से (अभि षिञ्चामि) चुपड़ कर ठीक करता हूं।३।

भावार्थ—मनुष्य नितत्नी नाम ओषधि से केशों के रोगोंको दूर करें ॥३॥

२—(दृंह) दृढीकुरु (प्रत्नान्) पुरातनान् केशान् (जनय) उत्पादय (अजातान्) अनुत्पन्नान् (जातान्) (उ) अपि (वर्षीयसः) अ० ४ । ९ । ८ । वृद्ध-ईयसुन् । प्रवृद्धतरान् (कृधि) कुरु ॥

३—(यः) (ते) तव (अवपद्यते) निपतति (समूलः) मूलसहितः (यः) (च) (वृश्चते) वृश्च्यते । छिद्यते (इदम्) इदानीम् (तम्) केशम् (विश्वभेषज्या) सर्वस्य केशरोगस्य निवर्तयित्र्या (अभि) अभितः (सिञ्चामि) आर्द्रीकरोमि (वीरुधा) लतया ॥

सूक्तम् १३७ ॥

१-३ ॥ नितत्नी देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

केशवर्धनोपदेशः—केश बढ़ाने का उपदेश ॥

यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् ।
तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः ॥ १ ॥

याम् । जमत्-अग्निः । अखनत् । दुहित्रे । केश-वर्धनीम् ।
ताम् । वीत-हव्यः । आ । अभरत् । असितस्य । गृहेभ्यः ॥१॥

भाषार्थ—(केशवर्धनीम्) केश बढ़ाने वाली (याम्) जिस [नितत्नी ओषधि] को (जमदग्निः) जलती अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष ने (दुहित्रे) पूर्ति करनेवाली क्रिया के लिये (अखनत्) खोदा है । (ताम्) उस [ओषधि] को (वीतहव्यः) पाने योग्य पदार्थ का पाने वाला ऋषि (असितस्य) मुक्त स्वभाव महात्मा के (गृहेभ्यः) घरों से (आ अभरत्) लाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—इस सूक्त में (नितत्नी) पद की अनुवृति गत सूक्त से आती है । जिस प्रकार से वैद्य जन परम्परा से एक दूसरे के पीछे शिक्षा पाते चले आये हैं वैसे ही मनुष्य शिक्षा ग्रहण करते रहें ॥ १ ॥

अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥२॥

अभीशुना । मेयाः । आसन् । वि-आमेन । अनु-मेयाः । केशाः ।
नडाः-इव । वर्धन्ताम् । शीर्ष्णः । ते । असिताः । परि ॥ २ ॥

१—(याम्) नितत्नीम्-गतसूक्तात् (जमदग्निः) अ० २ । ३२ । ३ । प्रज्वलिताग्निवत्तेजस्वी (अखनत्) खननेन प्राप्तवान् (दुहित्रे) प्रपूरयित्रीक्रियायै (केशवर्धनीम्) केशवृद्धिकरीम् (ताम्) ओषधिम् (वीतहव्यः) वी गतौ-क्त+हु आदाने-यत् । प्राप्तप्राप्तव्यः पुरुषः (असितस्य) षिञ् बन्धेन-क्त । अबद्धस्य । मुक्तस्वभावस्य (गृहेभ्यः) गेहेभ्यः सकाशात् ॥

भाषार्थ—(केशाः) केश (अभीशुना) अंगुली से (मेयाः) नापने योग्य, फिर (व्यामेन) दोनों [ऊपर नीचे के] भुज दण्ड से (अनुमेयाः) नापने योग्य (आसन्) हो गये हैं। वे (असिताः) काले होकर (ते) तेरे (शीर्ष्णः) शिर से (नडाः इव) नरकट घास के समान (परि वर्धन्ताम्) भले प्रकार बढ़ें ॥ २ ॥

भावार्थ—केशरोगी मनुष्य वैद्य की सम्मति से रोग निवृति करे ॥२॥

दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥३॥

दृंह । मूलम् । आ । अग्रम् । यच्छ । वि । मध्यम् । यमय । ओषधे ।
केशाः । नडाः-इव । वर्धन्ताम् । शीर्ष्णः । ते । असिताः । परि ॥३॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ओषधि ! [केशों के] (मूलम्) मूल को (दृंह) दृढ़ कर, (अग्रम्) अग्र भाग को (आ यच्छ) बढ़ा, (मध्यम्) मध्यभाग को (वि यमय) लम्बा कर। (केशाः) केश (असिताः) काले होकर (ते शीर्ष्णः) तेरे शिर से (नडा इव) नरकट घास के समान (परि वर्धताम्) भले प्रकार बढ़ें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र २ के समान ॥ ३ ॥

२—(अभीशुना) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ इति अभि+अशू व्याप्तौ-उ अलोपो दीर्घश्च । अभीशवः, रश्मिनाम-निघ० १ । ५ । अङ्गुलिनाम-२ । ५ । पदनाम-५ । ३ । अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि-निरु० ३ । ९ । अंगुल्या (मेयाः) मातव्याः (आसन्) (व्यामेन) वि+अम गतौ-घञ् । प्रसारितभुजद्वयपरिमाणेन (अनुमेयाः) पश्चात् मातव्याः (केशाः) (नडाः) तृणविशेषाः (इव) यथा (वर्धन्ताम्) वर्धमाना भवन्तु (शीर्ष्णः) शिरसः (ते) तव (असिताः) कृष्णवर्णाः (परि) सर्वतः ॥

३—(दृंह) दृढीकुरु (मूलम्) केशमूलम् (अग्रम्) अग्रभागम् (आ यच्छ) आयतं कुरु (मध्यम्) (वियमय) विविधं दीर्घीकुरु (ओषधे) अन्यत्पूर्ववत् ॥

सूक्तम् १३८ ॥

१-५ ॥ ओषधिरिन्द्रश्च देवते ॥ १,२,४,५, अनुष्टुप्; ३ पङ्क्तिः ।

निर्बलत्वनिवारणोपदेशः—निर्बलता हटाने का उपदेश ॥

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे ।
इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि ॥ १ ॥

त्वम् । वीरुधाम् । श्रेष्ठ-तमा । अभि-श्रुता । असि । ओषधे ।
इमम् । मे । अद्य । पुरुषम् । क्लीबम् । ओपशिनम् । कृधि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ओषधि ! (त्वम्) तू (वीरुधाम्) सब ओषधियों में (श्रेष्ठतमा) अति श्रेष्ठ और (अभिश्रुता) बड़ी विख्यात (असि) है । (मे) मेरे लिये (अद्य) अब (इमम्) इस (क्लीबम्) बलहीन (पुरुषम्) पुरुष को (ओपशिनम्) सब प्रकार उपयोगी (कृधि) बना ॥ १ ॥

भावार्थ-वैद्य उत्तम ओषधि द्वारा बलहीन पुरुषों को बलवान् बनावें ॥१॥

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ ॥ २ ॥

क्लीबम् । कृधि । ओपशिनम् । अथो इति । कुरीरिणम् ।
कृधि । अथ । अस्य । इन्द्रः । ग्रावं-भ्याम् । उभे इति ।
भिनत्तु । आण्ड्यौ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(क्लीबम्) बलहीन पुरुष को (ओपशिनम्) उपयोगी

१—(त्वम्) (वीरुधाम्) लतानां मध्ये (श्रेष्ठतमा) अतिशयेन प्रशस्या (अभिश्रुता) सर्वतः प्रख्याता (असि) (ओषधे) (इमम्) (मे) मदर्थम् (अद्य) इदानीम् (पुरुषम्) (क्लीबम्) क्लीबृ अधार्ष्ट्ये—अच् । अधृष्टम् । निर्वीर्य्यम् (ओपशिनम्) आङ्+उप+शीङ् शयने-ड, इनि । ओपशः=उपशयः=उपयोगः । समन्तादुपयोगिनम् (कृधि) कुरु ॥

२—(क्लीबम्) म० १ । निर्बलम् (कृधि) कुरु (ओपशिनम्)

(कृधि) बना, (अथो) और भी (कुरीरिणम्) कर्मकारी (कृधि) बना। (अथ) और (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले वैद्य आप (ग्रावभ्याम्) पत्थर समान दो दृढ़ शस्त्रों से (अस्य) इस [रोगी] के (उभे) दोनों (आण्ड्यौ) आंडी [वा अंडिनी, दोनों अंडकोश के रोग] को (भिनत्तु) छेदे ॥ २ ॥

भावार्थ—वैद्य अंडकोष के आंडी, अंडिनी, पथरी आदि रोगों को दृढ़ शस्त्रों से तोड़ कर ओषधि करें ॥ २ ॥

क्लीब॒ क्ली॒बं त्वा॑करं॒ वध्रे॒ वध्रिं॑ त्वाकर॒मर॒सार॒सं त्वा॑करम्। कु॒रीर॑मस्य शी॒र्षणि॒ कुम्बं॑ चाधि॒निद॑ध्मसि ॥३॥

क्लीब॑। क्ली॒बम्। त्वा॒। अ॒क॒र॒म्। वध्रे॑। वध्रि॑म्। त्वा॒। अ॒क॒र॒म्। अर॑स। अ॒र॒सम्। त्वा॒। अ॒क॒र॒म्। कु॒रीर॑म्। अ॒स्य॒। शी॒र्षणि॑। कुम्ब॑म्। च॒। अ॒धि॒-निद॑ध्मसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(क्लीब) हे निर्बल करने वाले रोग ! (त्वा) तुझको मैं ने (क्लीबम्) निर्बल (अकरम्) कर दिया है, (वध्रे) हे बल को बांधने वाले रोग ! (त्वा) तुझको (वध्रिम्) शक्तिहीन (अकरम्) मैंने कर दिया है, (अरस) हे नीरस करने वाले रोग ! (त्वा) तुझे (अरसम्) नीरस (अकरम्) मैंने कर दिया है। (अस्य) इस [स्वस्थ] पुरुष के (शीर्षणि) शिर पर (कुरीरम्) कर्म सामर्थ्य (च) और (कुम्बम्) विस्तृत आभूषण (अधि-

---

म०१। समन्तादुपयोगिनम् (अथो) अपि च (कुरीरिणम्) अ० ५। ३१। २। कृञ उच्च। उ० ४। ३३। डुकृञ् करणे-ईरन्, तत इनि। कर्मवन्तम् (अथ) पुनः (अस्य) रोगिणः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् वैद्यः (ग्रावभ्याम्) अ० ३। १०। ५। पाषाणवद् दृढाभ्यां शस्त्राभ्याम् (उभे) द्वे (भिनत्तु) छिनत्तु (आण्ड्यौ) अण्ड-अण, ङीप्। अण्डकोशभवौ। आण्डीरोगौ ॥

३—(क्लीव) हे निर्बलकर रोग (क्लीबम्) निर्बलम् (त्वा) (अकरम्) अकार्षम् (वध्रे) अ० ३। ६। २। हे शक्तिबन्धक रोग (वध्रिम्) शक्तिहीनम् (अरस) हे नीरसकर (अरसम्) रसहीनम्। निर्वीर्यम् (कुरीरम्)-म० २। कर्मसामर्थ्यम् (अस्य) स्वस्थस्य (शीर्षणि) शिरसि (कुम्बम्) कुबि आच्छादने-

निदध्मसि) हम अधिकार पूर्वक रखते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ--मनुष्य बलहीन क्रियाहीन रोगियों को स्वस्थ और उत्साही बनावें ॥ ३ ॥

ये ते॑ ना॒ड्यौ॑ दे॒वकृ॑ते॒ ययो॒स्तिष्ठ॑ति॒ वृष्ण्य॑म् ।
ते ते॑ भिनद्मि॒ शम्य॑या॒मुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥ ४ ॥

ये इति॑ । ते॒ । ना॒ड्यौ॑ । देवकृ॑ते॒ इति॑ दे॒व-कृ॑ते । ययोः॑ । तिष्ठ॑ति । वृष्ण्य॑म् । ते इति॑ । ते॒ । भि॒न॒द्मि॒ । शम्य॑या । अ॒मु॒ष्याः॑ । अधि॑ । मु॒ष्कयोः॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे रोगी ! (ये) जो (ते) तेरी (नाड्यौ) दो नाड़ियां (देवकृते) मद अर्थात् उन्माद से पीड़ित हैं और (ययोः) जिन दोनों में (वृष्ण्यम्) ढीलापन (तिष्ठति) स्थित है। (ते) तेरे लिये (ते) उन दोनों [नाड़ियों] को (अमुष्याः) उस [स्वस्थ नाड़ी] से अलग (मुष्कयोः) दोनों अण्डकोशों में (शम्यया) शान्तिकारक शम्या [हल के जुये के कील के समान] शस्त्र से (अधि) अधिकार पूर्वक (भिनद्मि) मैं छेदता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—वैद्यराज विचार पूर्वक अन्य मर्म नाड़ियों को छोड़कर अण्ड कोश की रोगग्रस्त नाड़ियों को छेद कर स्वस्थ करे ॥ ४ ॥

अच् । विस्तृतं भूषणं (च) (अधिनिदध्मसि) अधिकृत्य स्थापयामः ॥

४—(ये) (ते) तुभ्यम् (नाड्यौ) आण्ड्यौ-म० २ । (देवकृते) दिवु क्रीडामदादिषु—अच्+कृञ् हिंसायाम्-क्त । मदेनोन्मादेन हिंसितम् (ययोः) नाड्योः (तिष्ठति) वर्तते (वृष्ण्यम्) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति वृष शक्तिबन्धने—कनिन् । खलयवमाषतिलवृष० । पा० ५ । १ । ७ इति वृषन्-यत् । वृष्णः शिथिलस्य भावो वृष्ण्यं शैथिल्यम् (ते) नाड्यौ (ते) त्वदर्थम् (भिनद्मि) छिनद्मि (शम्यया) शम शान्तौ आलोचने च-यत्, टाप् । शम्या = युगकीलकः-अमर १६ । १४ । शान्तिकरेण युगकीलतुल्यशस्त्रेण (अमुष्याः) तस्या नाड्याः पृथक् (अधि) अधिकृत्य (मुष्कयोः) अण्डकोशयोर्मध्ये ॥

यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना ।
एवा भिनद्मि ते शेपोऽमुष्या अधि मुष्कयोः ॥ ५ ॥

यथा । नडम् । कशिपुने । स्त्रियः । भिन्दन्ति । अश्मना ।
एव । भिनद्मि । ते । शेपः । अमुष्याः । अधि । मुष्कयोः ॥५॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (स्त्रियः) स्त्रियां (नडम्) नरकट घास आदि को (कशिपुने) अन्न वा वस्त्र के लिये (अश्मना) पत्थर से (भिन्दन्ति) तोड़ती हैं । (एव) वैसे ही (ते) तेरे लिये (अमुष्याः) उस [नीरोग नाड़ी] से अलग (मुष्कयोः) दोनों अण्डकोशों के (शेपः) रोग बल को (अधि) अधिकार के साथ (भिनद्मि) मैं तोड़ता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे किसी तृण में से अन्न वा वस्त्र की सार वस्तु बचाकर अभीष्ट भाग को तोड़ डालते हैं, वैसे ही चिकित्सक लोग मर्म स्थल को छोड़कर रोगकारक नाड़ी को छेदकर स्वस्थ करें ॥ ५ ॥

सूक्तम् १३९ ॥

१-५ ॥ दम्पती देवते ॥ १ जगती; २, ३, ५ अनुष्टुप्; ४ पुरउष्णिक् ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशोपदेशः—गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के लिये उपदेश ॥

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम ।
शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः ।
तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते ॥ १ ॥

नि-अस्तिका । रुरोहिथ । सुभगम्-करणी । मम । शतम् ।

५—(यथा) येन प्रकारेण (नडम्) तृणम् (कशिपुने) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । इति कश गतिशासनयोः-कु, निपातनात् साधुः । अन्नाय वस्त्राय वा—अमर० २३ । १३० (स्त्रियः) (भिन्दन्ति) आघ्नन्ति (अश्मना) पाषाणेन (एव) एवम् (भिनद्मि) (ते) तुभ्यम् (शेपः) रोगबलम् (अमुष्याः) तस्या नीरोगाया नाड्याः (अधि) अधिकृत्य (मुष्कयोः) अण्डकोशयोः ॥

तव॑ । प्र-ता॒नाः । त्रय॑ः-त्रिंशत् । नि॒-ता॒नाः । तया॑ ।
स॒ह॒स्र॒-प॒र्ण्या । हृद॑यम् । शो॒षया॑मि । ते॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्या !] (न्यस्तिका) नित्य प्रकाशमान और (मम) मेरी (सुभगंकरणी) सुन्दर ऐश्वर्य करनेवाली तू (रुरोहिथ) प्रकट हुई है। (ते) तेरे (प्रतानाः) उत्तम फैलाव (शतम्) सौ [अनेक], और (नितानाः) नियमित विस्तार (त्रयस्त्रिंशत्) तैंतीस [तैंतीस देवताओं के जतानेवाले] हैं।

[हे ब्रह्मचारिणि !] (तया) उस (सहस्रपर्ण्या) सहस्रों पालन शक्ति वाली विद्या से (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (शोषयामि) मैं सुखाता हूं [प्रेम मग्न करता हूं] ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी समावर्तन के पश्चात् यथार्थ विद्या से संसार के सब पदार्थ और तेतीस देवताओं का ज्ञान प्राप्त करके अपने सदृश विदुषी स्त्री से विवाह की कामना करे। तेतीस देवता यह हैं,—८ वसु अर्थात् अग्नि पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः या प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र,–११ रुद्र अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, और धनञ्जय, यह दश प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा,—१२ आदित्य अर्थात् महीने १ इन्द्र अर्थात् बिजुली;—१ प्रजापति अर्थात् यज्ञ—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेद विषय, पृष्ठ ६६—६८ ॥१॥

शुष्य॑तु॒ मयि॑ ते॒ हृद॑य॒मथो॑ शुष्यत्वा॒स्य॑म् ।
अथो॒ नि शु॑ष्य॒ मां कामे॒नाथो॒ शुष्का॑स्या चर ॥ २ ॥

१—(न्यस्तिका) वृतेश्छन्दसि कन्। उ० ३। १४६। नि+अस दीप्तौ-तिकन्। नितरां दीप्यमाना विद्या (रुरोहिथ) प्रादुर्बभूविथ (सुभगंकरणी) आढ्यसुभग०। पा० ३। २। ५६। इति करोतेः ख्युन्। खित्यनव्ययस्य। पा० ६। ३। ६६। इति पूर्वपदस्य मुम्। टिड्ढाणञ्०। पा० ४। १। १५। इति ङीप्। सौभाग्यं कुर्वती (मम) (शतम्) बहु (तव) (प्रतानाः) प्रकृष्टविस्ताराः (त्रयस्त्रिंशत्) एतत्संख्यानां देवानामुपकारकत्वात् तत्संख्या (नितानाः) नियमितविस्ताराः (तया) (सहस्रपर्ण्या) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति पॄ पालनपूरणयोः-न। बहुपालनशक्त्या विद्यया (हृदयम्) (शोषयामि) परितप्तं प्रेममग्नं करोमि (ते) तव ॥

शुष्यतु । मयि । ते । हृदयम् । अथो इति । शुष्यतु । आस्यम् ।
अथो इति । नि । शुष्य । माम् । कामेन । अथो इति । नि ।
शुष्क-आस्या । चर ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिणि !] (मयि) मेरे विषय में (ते हृदयम्) तेरा हृदय (शुष्यतु) सूख जावे, (अथो) और (आस्यम्) मुख (शुष्यतु) सूख जावे। (अथो) और भी (माम्) मुझ को (कामेन) अपने प्रेम से (नि) नित्य (शुष्य) सुखा, (अथो) और तू भी (शुष्कास्या) सूखे मुखवाली हो कर (चर) विचर ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् वर और कन्या परस्पर गुणों का परिचय करके वाचिक और मानसिक प्रेम से गृह आश्रम में प्रवेश करने की चेष्टा करें ॥२॥

संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद ।
अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥ ३ ॥

सम्-वननी । सम्-उष्पला । बभ्रु । कल्याणि । सम् । नुद ।
अमूम् । च । माम् । च । सम् । नुद । समानम् । हृदयम् । कृधि ॥३॥

भाषार्थ—(बभ्रु) हे पालन शील ! (कल्याणि) हे मङ्गल कारिणी विद्या ! (संवननी) यथावत् सेवनीय और (समुष्पला) यथाविधि निवास की रक्षा करने हारी तू [हम दोनों को] (सम्) मिला कर (नुद) आगे बढ़ा। (अमूम्) उस [विदुषी] को (च च] और (माम्) मुझ को (सम्)

२—(शुष्यतु) परितप्तं प्रेममग्नं भवतु (मयि) मद्विषये (ते) तव (हृदयम्) (अथो) अपि च (शुष्यतु) (आस्यम्) मुखम् (अथो) (नि) नित्यम् (शुष्य) शोषय (माम्) वरम् (कामेन) प्रेम्णा (अथो) (शुष्कास्या) परितप्तवदना (चर) गच्छ ॥

३—(संवननी) सम्यक् सेवनीया (समुष्पला) वस निवासे-क्विप्। वचिस्वपियजादीनां किति। पा० ६। १। १५। इति सम्प्रसारणम्। शासिवसिघसीनां च। पा० ८। ३। ६०। इति षत्वम्। पल गतौ रक्षणे-अच्, टाप्। सम्यग् उषो गृहस्य पला पालयित्री विद्या (बभ्रु) उ० ४। २६। २ डु भृञ्—

मिला कर (नुद) आगे बढ़ा, [हम दोनों के] (हृदयम्) हृदय को (समानम्) एक (कृधि) कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष पूर्ण विद्वान् होकर गृहस्थ बनते हैं, वे ही परस्पर उपकार करके सदा सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

यथोदुकमपंपुषोऽपशुष्यंत्यास्यंम् ।
एवा नि शुंष्य मां कामेनाथो शुष्कांस्या चर ॥ ४ ॥

यथां । उदुकम् । अपंपुषः । अप-शुष्यंति । आस्यंम् । एव । नि । शुष्य । माम् । कामेन । अथो इति । शुष्कं-आस्या । चर ॥४॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (उदकम्) जल को (अपपुषः) न पीनेवाले पुरुष का (आस्यम्) मुख (अपशुष्यति) सूख जाता है । (एव) वैसे ही (माम्) मुझ को (कामेन) अपने प्रेम से (नि) नित्य (शुष्य) सुखा (अथो) और तू भी (शुष्कास्या) सूखे मुख वाली होकर (चर) विचर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे अति प्यासे मनुष्य को जल की बड़ी चिन्ता रहती है, वैसे ही पति पत्नी पूर्ण प्रीति से एक दूसरे का ध्यान रक्खें ॥ ४ ॥

यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः ।
एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति ॥ ५ ॥

यथां । नकुलः । वि-छिद्यं । सम्-दधाति । अहिम् । पुनः । एव । कामस्य । वि-छिन्नम् । सम् । धेहि । वीर्य-वति ॥५॥

कु, ऊङ् । अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः । पा० ७ । ३ । १०७ । इति ह्रस्वः । हे पालनशीले (कल्याणि) हे मङ्गलकारिणि विद्ये (सम्) संयोज्य (नुद) प्रवर्तय (अमूम्) विदुषीम् (च) (माम्) विद्वांसम् (समानम्) एकम् (हृदयम्) (कृधि) ॥

४—(यथा) येन प्रकारेण (उदकम्) जलम् (अपपुषः) पा पाने—लिटः क्वसुः । अपीतवतस्तृषितस्य पुरुषस्य (अपशुष्यति) शुष्कं भवति (आस्यम्) मुखम् (एव) एवम् । अन्यद् गतम्—म० २ ॥

भाषार्थ--(यथा) जैसे (नकुलः) कुत्सितकर्म न ग्रहण करने वाला, नेवला (अहिम्) सांप को (विच्छिद्य) टुकड़े टुकड़े करके (पुनः) फिर (सन्दधाति) समाहित चित्त हो जाता है। (एव) वैसे ही (वीर्यवति) हे बलवती ! (कामस्य) कामना के (विच्छिन्नम्) घाव को (संधेहि) भर दे ॥५॥

भावार्थ--जैसे नेवला जन्तु सांप को मार कर आप स्वस्थ और शांत होजाता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष विदुषी पत्नी को पाकर दुःख नाश करके आनंद भोगता है ॥ ५ ॥

सूक्तम् १४० ॥

१-३ ॥ दन्तौ देवते ॥ १ बृहती; २ त्रिष्टुप्; ३ पङ्क्तिः॥

बालस्यान्नप्राशनोपदेशः--बालक के अन्न प्राशन का उपदेश ॥

यौ व्याघ्रावव॑रूढौ जिघ॑त्सतः पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च ।

तौ दन्तौ॑ ब्रह्मणस्पते शि॒वौ कृ॑णु जातवेदः ॥ १॥

यौ । व्या॒घ्रौ । अव॑-रूढौ । जिघ॑त्सतः । पि॒तर॑म् । मा॒तर॑म् । च । तौ । दन्तौ॑ । ब्र॒ह्म॒णः॒ । प॒ते॒ । शि॒वौ । कृ॒णु॒ । जा॒त॒-वे॒दः॒ ॥१॥

भाषार्थ--(व्याघ्रौ) व्याघ्र के समान बलवान् (यौ) जो (दन्तौ) ऊपर नीचे के दांत (अवरूढौ) उत्पन्न होकर (पितरम्) पिता को (च) और (मातरम्) माता को (जिघत्सतः) काटने की इच्छा करते हैं। (ब्रह्मणः)

५--(यथा) (नकुलः) न+कु+ला आदाने-क । नभ्राण्नपान्नवेदा० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति नञः प्रकृतिभावः । न कु कुत्सितं कर्म लाति गृह्णातीति यः स नकुलः । जन्तुविशेषः (विच्छिद्य) खण्डशः कृत्वा (संदधाति) समाहितः स्वस्थो भवति (अहिम्) आहन्तारं सर्पम् (पुनः) अनन्तरम् (एव) एवम् (कामस्य) प्रेम्णः (विच्छिन्नम्) अवखण्डितं क्षतम् (संधेहि) संयोजय (वीर्यवति) हे बलवति ॥

१--(यौ) (व्याघ्रौ) अ० ४ । ३ । १ । सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम् --निरु० ३ । १८ । व्याघ्रवद्बलवन्तौ (अवरूढौ) प्रादुर्भूतौ (जिघत्सतः) अद भक्षणे सन् । लुङ्सनोर्घस्लृ । पा० २ । ४ । ३७ । इति घस्लृ । सः स्यार्धधातुके ।

हे अन्न के (पते) स्वामी ! (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के ज्ञान वाले गृहस्थ ! (तौ) उन दोनों को (शिवौ) सुखकारक (कृणु) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—जब दांत निकलने पर बालक माता पिता के काटने लगे, तब गृहस्थ उनका अन्नप्राशन करके उस का पोषण करे ॥ १ ॥

व्रीहिम॑त्तं॒ यव॑मत्त॒मथो॒ माष॒मथो॒ तिल॑म्। ए॒ष वां॑ भा॒गो निहि॑तो रत्न॒धेया॑य दन्तौ॒ मा हिं॑सिष्टं पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च॥२॥

व्री॒हिम्। अ॒त्तम्। यव॑म्। अ॒त्त॒म्। अथो॒ इति॑। माष॑म्। अथो॒ इति॑। तिल॑म्। ए॒षः। वा॒म्। भा॒गः। नि-हि॑तः। र॒त्न॒-धेया॑य। दन्तौ॑। मा। हिं॒सि॒ष्ट॒म्। पि॒तर॑म्। मा॒तर॑म्। च॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे दांतों की दोनों पंक्तियो!] (व्रीहिम्) चावल (अत्तम्) खाओ, (यवम्) जौ (अत्तम्) खाओ, (अथो) फिर (माषम्) उरद, (अथो) फिर (तिलम्) तिल [खाओ], (वाम्) तुम दोनों का (एषः) यह (भागः) भोग [चावल जौ आदि] (रत्नधेयाय) रत्नों के रखने योग्य कोश के लिये (निहितः) अत्यन्त हित है, (दन्तौ) हे ऊपर नीचे के दांतो ! (पितरम्) बालक के पिता (च) और (मातरम्) माता को (मा हिंसिष्टम्) मत काटो ॥ २ ॥

भावार्थ—माता पिता दांत निकलने पर बालक को चावल, जौ आदि

पा० ७। ४। ४६। इति सस्य तः। अत्तु कर्तितुमिच्छतः (पितरम्) (मातरम्) (च) (तौ) (दन्तौ) अ० ४। ३। ६। उपरिनीचस्थदन्तगणौ (ब्रह्मणः) अन्नस्य—निघ० २। ७। (पते) स्वामिन् (शिवौ) सुखकरौ (कृणु) कुरु (जातवेदः) हे जातानां वेदितो गृहस्थ ॥

२—(व्रीहिम्) इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। इति वृह वृद्धौ-इन्, पृषोदरादिरूपम्। आशुधान्यम् (अत्तम्) खादतम् (यवम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—अप्। अन्न विशेषम् (अथो) पश्चात् (माषम्) मष वधे—घञ्। अन्नविशेषम् (तिलम्) तिल स्नेहने—क। अन्नविशेषम् (एषः) व्रीहियवादिभोगः (वाम्) युवयोः (भागः) सेवनीयोऽशः (निहितः) अत्यन्तहितः (रत्नधेयाय) रत्न+डुधाञ् यत्। रत्नधारणयोग्याय कोशाय (दन्तौ) उपरिनीचस्थदन्तगणौ

सामान्य अन्न और फिर अधिक पौष्टिक उरद आदि और चिकने तिल आदि चटावें जिससे बालक पुष्ट होकर माता पिता को सुख देवे और उन्नति करे॥२॥

उप॑हूतौ स॒युजौ॑ स्यो॒नौ दन्तौ॑ सु॒म॒ङ्ग॒लौ॑ । अ॒न्यत्र॑ वां घो॒रं त॒न्वः१॒ परै॑तु दन्तौ॒ मा हिं॑सिष्टं पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च ॥३॥

उप॑-हूतौ । स॒-युजौ॑ । स्यो॒नौ । दन्तौ॑ । सु॒-म॒ङ्ग॒लौ॑ । अ॒न्यत्र॑ । वा॒म् । घो॒रम् । त॒न्वः॑ । परा॑ । ए॒तु॒ । द॒न्तौ॑ । मा । हिं॒सि॒-ष्टम् । पि॒तर॑म् । मा॒तर॑म् । च॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(उपहूतौ) आपस में स्पर्धा वाले, (सयुजौ) एक दूसरे से मिले हुये (दन्तौ) दोनों ओर के दांत (स्योनौ) सुख देने वाले और (सुमङ्गलौ) बड़े मङ्गल वाले होवें। (दन्तौ) हे दोनों ओर के दांतो ! (वाम्) तुम्हारा (घोरम्) दुःखदायी कर्म [बालक के] (तन्वः) शरीर से (अन्यत्र) अलग (परा एतु) चला जावे (पितरम्) इसके पिता (च) और (मातरम्) माता को (मा हिंसिष्टम्) मत काटो ॥ ३ ॥

भावार्थ—माता पिता बालक के नवे निकले दांतों को मुलहटी आदि ओषधि से स्वस्थ करें, जिससे वे सब सुख से निकलें ॥ ३ ॥

सूक्तम् १४१ ॥

१-३ ॥ आचार्यो मातापितरौ च देवते। अनुष्टुप् छन्दः ॥

वृद्धिकरणोपदेशः—वृद्धि करने का उपदेश ॥

वा॒युरे॑नाः स॒माक॑रत् त्वष्टा॒ पोषा॑य ध्रियताम् । इन्द्र॑ आ॒भ्यो अधि॑ ब्रवद् रु॒द्रो भू॒म्ने चि॑कित्सतु ॥१॥

(मा हिंसिष्टम्) मा पीडयतम् (पितरम्) पालकंजनकम् (मातरम्) मान्यां जननीम् (च)॥

३—(उपहूतौ) ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च-क्त । परस्परस्पर्धायुक्तौ (सयुजौ) समानं युञ्जानौ (स्योनौ) सुखकरौ (दन्तौ) उभयतो दन्तगणौ (सुमङ्गलौ) सुमङ्गलकरौ (अन्यत्र) पृथक् स्थाने (वाम्) युवयोः (घोरम्) क्रूरं कर्म (तन्वः) शिशुशरीरात् (परा) (दूरे) (एतु) गच्छतु । अन्यत्पूर्ववत्-म० २ ॥

वायुः। एनाः। सम्-आकरत्। त्वष्टा। पोषाय। ध्रियताम्।
इन्द्रः। आभ्यः। अधि। ब्रवत्। रुद्रः। भूम्ने। चिकित्सतु ॥१॥

भाषार्थ—(वायुः) शीघ्रगामी आचार्य (एनाः) इन [प्रजाओं] को (समाकरत्) एकत्र करे, (त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी वह (पोषाय) [उनके मानसिक और शारीरिक] पोषण के लिये (ध्रियताम्) स्थिर रहे। (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला वही (आभ्यः) इन [प्रजाओं] से (अधि) अनुग्रह पूर्वक (ब्रवत्) बोले, (रुद्रः) ज्ञान दाता अध्यापक (भूम्ने) उनकी वृद्धि के लिये (चिकित्सतु) शासन करे ॥ १ ॥

भवार्थ—जितेन्द्रिय दूरदर्शी आचार्य विद्यालय में ब्रह्मचारियों को उत्तम विद्या से समृद्ध करे॥ १ ॥

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥ २ ॥

लोहितेन। स्व-धितिना। मिथुनम्। कर्णयोः। कृधि। अकर्ताम्।
अश्विना। लक्ष्म। तत्। अस्तु। प्र-जया। बहु ॥ २ ॥

भाषार्थ--[हे आचार्य !] (लोहितेन) प्रकाश के साथ और (स्वधितिना) और आत्म धारण सामर्थ्य के साथ (कर्णयोः) हमारे दोनों कानों में (मिथुनम्)

१—(वायुः) शीघ्रगाम्याचार्यः (एनाः) प्रजाः। विद्यार्थिगणान् (समाकरत्) करोतेर्लेट्। संयोजयेत् (त्वष्टा) अ० २। ५। ६। त्वक्ष तनूकरणे-तृन्। सूक्ष्मदर्शी (पोषाय) मानसिकशारीरिकपोषणाय (ध्रियताम्) धृङ् अवस्थाने। स्थिरो भवतु (इन्द्रः) परमैश्वर्यवानाचार्यः (आभ्यः) प्रजाभ्यः (अधि) अधिकमनुग्रहपूर्वकम् (ब्रवत्) वदेत् (रुद्रः) अ० २। २७। ६। रुत् ज्ञानं राति ददातीति यः ज्ञानदाता (भूम्ने) अ० ५। २८। ३। बहुत्वाय। वर्धनाय (चिकित्सतु) कित् व्याधिप्रतीकारे निग्रहे अपनयने नाशने संशये च। गुप्तिज्किद्भ्यः सन्। पा० ३। १। ५। इति कितेः सन्। निगृह्णातु। शास्तु ॥

२—(लोहितेन) अ० ६। १२७। १ प्रादुर्भावेन प्रकाशेन सह (स्वधितिना) स्व+धि धारणे—क्तिन्। आत्मधारणेन (मिथुनम्) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित्।

विज्ञान (कृधि) कर । (अश्विना) कामों में व्याप्ति वाले माता पिता ने (लक्ष्म) [हम में] शुभ लक्षण (अकर्ताम्) किया है, (तत्) वह [शुभलक्षण] (प्रजया) सन्तान के साथ (बहु) अधिक समृद्ध (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ--जहां गुणी माता पिता और आचार्य बालकों के शिक्षक होते हैं, वहां बालक गुणी, धनी और बली होते हैं ॥ २ ॥

यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत ।
एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना ॥ ३ ॥

यथा । चक्रुः । देव-असुराः । यथा । मनुष्याः । उत । एव । सहस्र-पोषाय । कृणुतम् । लक्ष्म । अश्विना ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (देवासुराः) व्यवहार जानने वाले बुद्धिमानों ने (उत) और (यथा) जैसे (मनुष्याः) मननशील पुरुषों ने [शुभलक्षण को] (चक्रुः) किया है । (अश्विना) हे कर्तव्यों में व्यापक माता पिता ! (एव) वैसे ही (सहस्रपोषाय) सहस्रों प्रकार के पोषण के लिये [हम में] (लक्ष्म) शुभलक्षण (कृणुतम्) तुम करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—माता पिता को योग्य है कि पूर्वज महात्माओं के समान अपने सन्तानों को शुभगुणी बनावें ॥ ३ ॥

उ० ३ । ५५ । इति मिथृ बधे मेधायां च-उनन् । विज्ञानम् (कर्णयोः) कॄवृजॄ० । उ० ३ । १० इति कॄ विक्षेपे—न । श्रोत्रयोः (कृधि) कुरु (अकर्ताम्) कृतवन्तौ (अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । कार्येषु व्यापकौ मातापितरौ (लक्ष्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति लक्ष दर्शनाङ्कनयोः आलोचने च—मनिन् । शुभलक्षणम् (तत्) लक्ष्म (अस्तु) (प्रजया) सन्तत्या (बहु) बहुलं समृद्धम् ॥

३—(यथा) येन प्रकारेण (चक्रुः) कृतवन्तः (देवासुराः) असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वम्—निरु० १ । ३४ । व्यवहारिणः प्रज्ञावन्तः (यथा) (मनुष्याः) अ० ३ । ४ । ६ । मननशीलाः (उत) अपि च (एव) एवम् (सहस्रपोषाय) अपरिमितवृद्धये (कृणुतम्) कुरुतम् (लक्ष्म)—म० २ । शुभलक्षणम् (अश्विना) कर्तव्यव्यापकौ मातापितरौ ॥

सूक्तम् १४२ ३

१-३ ॥ यवो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

अन्नवृद्ध्युपदेशः—अन्न की वृद्धि का उपदेश ॥

उच्छ्र॑यस्व ब॒हुर्भ॑व॒ स्वेन॒ मह॑सा यव ।

मृणी॒हि विश्वा॒ पात्रा॑णि॒ मा त्वा॑ दि॒व्याशनि॑र्वधीत् ॥१॥

उत् । श्र॒ य॒स्व॒ । ब॒हुः । भ॒व॒ । स्वेन॑ । मह॑सा । य॒व॒ । मृ॒णी॒हि । विश्वा॑ । पात्रा॑णि । मा । त्वा॒ । दि॒व्या । अ॒शनिः॑ । व॒धी॒त् ॥१॥

भाषार्थ –(यव) हे जौ अन्न ! तू (स्वेन) अपने (महसा) बल से (उत् श्रयस्व) ऊंचा आश्रय ले और (बहुः) समृद्ध (भव) हो। (विश्वा) सब (पात्राणि) जिनसे रक्षा की जावे ऐसे राक्षसों [विघ्नों] को (मृणीहि) मार, (दिव्या) आकाशीय (अशनिः) बिजुली आदि उत्पात (त्वा) तुझको (मा वधीत्) नहीं नष्ट कर ॥ १ ॥

भावार्थ-किसान लोग खेती विद्या में चतुर होकर प्रयत्न करें कि उत्तम जौ आदि बीजों से नीरोग और पुष्टिकारक अन्न उपजे ॥ १ ॥

आ॒शृ॒ण्वन्तं॒ यवं॑ दे॒वं यत्र॑ त्वाच्छा॒वदा॑मसि ।

तदुच्छ्र॑यस्व॒ द्यौरि॑व समु॒द्र इ॑वै॒ध्यक्षि॑तः ॥ २ ॥

आ-शृ॒ण्वन्त॑म् । यव॑म् । दे॒वम् । यत्र॑ । त्वा॒ । अ॒च्छ॒-आ॒वदा॑-मसि । तत् । उत् । श्र॒ य॒स्व॒ । द्यौः-इ॑व । स॒मु॒द्रः-इ॑व । ए॒धि॒ । अक्षि॑तः ॥ २ ॥

१—(उच्छ्रयस्व) उन्नतो भव (बहुः) बहि वृद्धौ-कु । प्रवृद्धः (भव) (स्वेन) आत्मीयेन (महसा) महत्त्वेन । रसादिना (यव) (मृणीहि) मृ वधे । मारय (विश्वा) सर्वाणि (पात्राणि) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । इति पा रक्षणे—अपादाने ष्ट्रन् । पाति यस्मात् । रक्षांसि । विघ्नान् (त्वा) (दिव्या) दिवि आकाशे भवा (अशनिः) विद्युदाद्युत्पातः (मा वधीत्) मा हिंसीत् ।

भाषार्थ—(आश्रृण्वन्तम्) [हमें] अंगीकार करने वाले (त्वा) तुझ (देवम्) दिव्य गुण वाले (यवम्) जौ आदि अन्न को (यत्र) जहां पर (अच्छा-वदामसि) हम अच्छे प्रकार चाहें, (तत्) वहां पर (द्यौः इव) सूर्य के समान (उत् श्रयस्व) ऊंचा आश्रय ले और (समुद्रः इव) अन्तरिक्ष के समान (अक्षितः) क्षयरहित (एधि) हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जहां पर किसान लोग खेती की अच्छे प्रकार देख भाल करते हैं वहां जौ अन्न के वृक्ष ऊंचे होते और उपज में अच्छी बढ़ती होती है ॥ २ ॥

अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः ।
पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥ ३ ॥

अक्षिताः । ते । उप-सदः । अक्षिताः । सन्तु । राशयः ।
पृणन्तः । अक्षिताः । सन्तु । अत्तारः । सन्तु । अक्षिताः ॥३॥

भाषार्थ—[हे जौ आदि अन्न !] (ते) तेरे (उपसदः) निकटवर्ती कार्यकर्ता लोग (अक्षिताः) बिना घाटे और तेरी (राशयः) रासें (अक्षिताः) बिना घाटे (सन्तु) होवें । (पृणन्तः) तेरे भरती करने वाले लोग(अक्षिताः) बिना घाटे (सन्तु) होवें और (अत्तारः) तेरे खाने वाले (अक्षिताः) बिना हानि (सन्तु) होवें ॥ ३ ॥

२—(आश्रृण्वन्तम्) आङ्+श्रु अङ्गीकारे । अङ्गीकुर्वन्तम् (यवम्) (देवम्) दिव्यगुणम् (यत्र) यस्यां भूमौ (त्वा) (अच्छ—आवदामसि) आभिमुख्येन वदामः प्रार्थयामहे (तत्) तत्र भूम्याम् (उच्छ्रयस्व) (द्यौः इव) प्रकाशमानः सूर्यो यथा (समुद्रः इव) अन्तरिक्षं यथा (एधि) भव (अक्षितः) क्षयरहितः ॥

३—(अक्षिताः) अक्षीणाः (ते) तव (उपसदः) उपसत्तारः कर्मकराः (सन्तु) (राशयः) अशिपणाय्योरुडायलुकौच । उ० ४ । १३३ । अशू व्याप्तौ—इण्, रुट् च । धान्य पुञ्जाः (पृणन्तः) अन्नं पूरयन्तः (अत्तारः) भोक्तारः । अन्यत्पूर्ववत् ॥

भावार्थ—चतुर किसानों के उद्योग से अन्न की भारी उपज होती है, लोग अन्न का व्यापार करते और भोजन करते हैं ॥ ३ ॥

इति त्रयोदशोऽनुवाकः ॥

इति षष्ठं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्रीसयाजीराव गायक-
वाड़ाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगत श्रावणमासपरीक्षायाम्
ऋक् सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्री पण्डित
क्षेमकरणदास त्रिवेदिना
कृते अथर्ववेदभाष्ये षष्ठं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे चैत्रमासे कृष्णद्वादश्यां तिथौ १९७२ तमे
विक्रमीये सम्वत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि
श्री राजराजेश्वर पञ्चम जार्ज महोदयस्य
सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्-आषाढ़ कृष्णा ५ संवत् १९७३ ता० २० जून १९१६ ई० ॥



अथर्ववेद भाष्य की सम्मतियां ।

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय सं० १३ (अ) (ब) की लिपि ।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें ।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें । इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे ॥

श्रीयुत महाशय बाबू नन्दलालसिंहजी, बी० एससी०, एल० एल० बी०, उपमन्त्री श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध, स्थान बुलन्दशहर । आर्यमित्र २० जनवरी सन् १९१६ ई० ॥

अथर्ववेद-भाष्य ।

पाठकों को ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी, वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास जी त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यतापूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं । आप ने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने की चेष्टा की है । भाष्य कांडों में निकलता है । अब तक ५ कांड निकल चुके हैं । आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य होरहा है । त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने अच्छी प्रशंसा की है । परन्तु खेद है कि अभी आर्य्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य पढ़ने की ओर लोगों की कम रुचि है । जिसके कारण त्रिवेदी जी को अर्थहानि भोगनी पड़ रही है । उसके ग्राहक बहुत कम हैं । अतएव वैदिक धर्मी मात्र का कर्तव्य है कि वे श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्त्वपूर्ण कार्य में साहाय्य प्रदान करें । स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें । ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छपाने की अर्थसम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे । आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर अपना ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्तव्य समझेंगे ।
त्रिवेदी जी से ५२, लूकरगंज प्रयाग के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये ॥

नन्दलाल सिंह
बी० एस सी०, एल० एल० बी०
उपमन्त्री सभा बुलन्दशहर ।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१९१४ । कार्यालय श्रीमती **आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर ।**

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेदभाष्य का तृतीय कांड मिला । इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद हैं । वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक सूत्रधारी को आभारी होना चाहिये । ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करे, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है ।

भवदीय

मदनमोहन सेठ (एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा ।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**-प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्दजी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करनेवाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका देदेने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो। छपाई और काग़ज़ भी अच्छा है।...

श्रीयुत महात्मा **मुन्शीराम जी**—जिज्ञासु मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार-पत्र संख्या ९४ तिथि २७—१०—१९६९।

अथर्ववेद भाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं, आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२—१२—१९६९।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत **पं० शिवशंकर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्त्ता, वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १९१३।

... अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशं-

सनीय है।......आप बहुत दिनों तक सरकारी नोकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता, वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के परिडत क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ हैं, अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता शिवप्यारी देवी जी, १३७, हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१९१५॥

श्रीयुत परिडत जी, नमस्ते।

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक **हवनमन्त्राः** की जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत परिडत **महावीरप्रसाद द्विवेदी**-कानपुर सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्यम्—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधिसे आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत परिडत **गणेशप्रसाद शर्मा**—सम्पादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक

फ़तहगढ़ ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिका प्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८९ ता० २७—३—१३।

आपका भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा**—मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आपका किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आपने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत विख्यात **पंडित श्रीधर पाठक जी (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता सुपरिन्टेन्डेट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी०, श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७—९—१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पांडित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रंथ सर्वथा उपादेय है।

The VIDY ADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State, Letter No.* 624 *date 6th February* 1913.

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund."

RAI THAKUR DATTA, RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan.

Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAAABAD,

Letter No 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship, The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre—eminent position in Sanskrit literature...The arrangenent is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works...The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N. B.-The printing and paper are good, the price is moderate.

हवनमन्त्राः—सम्मतियां ।

पंडित **शिव शंकरशर्मा** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार-पंजाब आर्यप्रतिनिधिसभोपदेशक, इत्यादि सम्पादक आर्य मित्र आगरा ८ फ़रवरी १९१३ । ......आर्य पुरुष हवन कालमें जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं उनका सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदीजी ने किया है । प्रत्येक पदका पृथक् पृथक् अर्थ इसमें किया गया है । अर्थ के ज्ञान विना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं होता । अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य ख़रीदना चाहिये ।

सद्धर्म प्रचारक गुरुकुल कांगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १९६८...आजकल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते । उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवाकर पढ़नीचाहिये ।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रैल १९१२......इस में ईश्वरस्तुति, स्वस्ति-वाचन, शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं ।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है ।

वेदप्रकाश मेरठ,—मई १९१२ ।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषामें अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है ।

महाशय **खुशीराम जी,**—गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८। ...आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है । आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेज़ी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज देवें ।

मिलने का पता—पं० **क्षेमकरणदास त्रिवेदी**

२० जून १९१६ । 52 लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

पं० ओंकारनाथ वाजपेयी के प्रबन्ध से ओंकार प्रेस प्रयाग में मुद्रित हुआ ।